जनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

(Principles of Political Science)

लेखक :
ए. एल. गांधी एम. ए., एल-एल. बी.
प्रवक्ता, राजनीति विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर
एवं
श्रीधर शर्मा एम. ए., एल-एल. बी.

1972

वितरक :
...र्न पब्लिशर्स, कचहरी रोड़, अजमेर

जय कृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

प्रथमावृत्ति 1972
मूल्य रु. 10.00

मुद्रक :
मॉडर्न प्रिन्टर्स,
श्रीनगर रोड, अजमेर

भूमिका

आधुनिक युग में मानव जीवन की परिवर्तन धुरी है—राजनीति। अतः राजनीति को शीर्षस्थ नेताओं के एकाधिकार की वस्तु मानने से ही कार्य नहीं चल सकता है अपितु सर्व साधारण का राजनीति शास्त्र के मूल भूत सिद्धान्तों के संदर्भ में सोचना विचारना भी आवश्यक है जिससे प्रबुद्ध एवं सशक्त विश्व जनमत तैयार हो सके जो राजनीतिज्ञों के अविवेकपूर्ण कदम पर अंकुश रखकर सारे संसार को विनाश के गर्त में गिरने से बचा सके।

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्रात्मक राज्य है अतः इस दृष्टि से हमारा दायित्व और भी बढ़ जाता है कि हम राज्य को मानवीय सेवा और सम्मान का व्यावहारिक रूप प्रदान करने में अग्रगणी सिद्ध हो सकें। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि हम राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्तों से बौद्धिक सम्पर्क स्थापित करने के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में भी प्रयुक्त करें जो अध्ययन मनन से ही सम्भव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त मानव की स्वतन्त्रता और समानता के सामंजस्य की आधार शिला पर राज्य का अपने दायित्व और अधिकारों के परिपेक्ष में निर्मित भव्य स्वरूप ही राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मूल विषय है।

पुस्तक प्रणयन में इन्हीं दृष्टिकोणों को ध्यान में रखा गया है। साथ ही इसकी प्रतिपाद्य सामग्री को शीर्षकों व उप शीर्षकों में विभाजित किया गया है तथा यथासम्भव उदाहरणों को विशेषकर भारतीय उदाहरणों का भी यथास्थान समावेश कर राजनीति शास्त्र के आधार भूत सिद्धान्तों का रोचक, सरल एवं बोध गम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है जिससे स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होने के साथ साथ जनसाधारण के लिए भी सहायक सिद्ध हो सके।

पुस्तक के प्रणयन में पूर्वगामी लेखकों विचारकों एवं सहयोगी मित्रों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जो सहयोग मिला है, इसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

हम श्री जयकृष्ण जी अग्रवाल संचालक, कृष्णा ब्रदर्स एवं श्री चक्रेश अग्रवाल मॉडर्न पब्लिशर, अजमेर के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस पुस्तक की सुचारू, सुन्दर एवं शीघ्र मुद्रण की व्यवस्था की। एतदर्थ धन्यवाद।

14 सितम्बर, 1971
(हिन्दी दिवस)

ए. एस. गांधी
श्रीधर शर्मा

अध्याय 3

राज्य

(State)

अध्याय 4

राज्य की उत्पत्ति

(Origin of the State)

अध्याय 5

राज्य के कार्य एवं लोकहितकारी राज्य
(Functions of State and welfare State)

अध्याय 6

सम्प्रभुता
(Sovereignty)

अध्याय 7

सरकार के स्वरूप
(Forms of Government)

अध्याय 8

सरकार के अंग

(Organs of Government)

अध्याय 12

जनमत

(Public Opinion)

अध्याय 13

स्थानीय स्वशासन

(Local Self Government)

अध्याय 14

संविधान

(Constitution)

अध्याय 15

· प्रतिनिधित्व तथा निर्वाचन

(Representation and Election)

अध्याय 1

राजनीति शास्त्र का विषय प्रवेश

(Introduction to Political Science)

1 राजनीति शास्त्र का विषय प्रवेश
2 राजनीति शास्त्र की परिभाषा
3 राजनीति और राजनीति शास्त्र
4 राजनीति दर्शन
5 राजनीति शास्त्र का क्षेत्र
6 राजनीति शास्त्र का स्वरूप (विज्ञान अथवा कला)
7 राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ

राजनीति शास्त्र अंग्रेजी शब्द पोलिटिकल साइंस (Political Science) का हिंदी रूपान्तर है। शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से पोलिटिक्स शब्द (Politics) की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द पोलिस (Polis) से हुई है। प्राचीन काल में यूनान छोटे-छोटे नगर-राज्यों का संगठन था अर्थात् प्रत्येक नगर ही एक स्वतंत्र राज्य होता था, जिसे पोलिस (Polis) कहा जाता था। वहाँ उन नगर राज्यों से सम्बन्धित शासन का बोध कराने वाली विद्या को पोलिटिक्स कहते थे। धीरे-धीरे नगर-राज्यों (City States) का स्थान राष्ट्रीय-राज्यों (National States) ने ले लिया। शासन के इस विस्तृत स्वरूप का विवेचन करने वाले इस शासक के सम्बन्ध में उन्हीं के अनुकरण में जेलिनेक, सिजविक आदि आधुनिक लेखकों ने 'पोलिटिक्स' शब्द का ही प्रयोग किया। परन्तु कालान्तर में अन्य विद्वानों ने इसका नामकरण राजनीति विज्ञान (Political Science) किया है क्योंकि इसमें राज्य विषयक ज्ञान का व्यवस्थित रूप में अध्ययन किया जाता है।

राजनीति शास्त्र की परिभाषा
(Definition of Political Science)

राजनीति शास्त्र की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषायें दी हैं।

आचार्य चाणक्य—"यह वह ज्ञान है जो मनुष्यवती पृथ्वी के लाभ और पालन के उपायों पर विचार करे।"[1] लाभ और पालन शब्द के द्वारा चाणक्य ने मनुष्यों में व्यवस्था तथा उनकी सामूहिक उन्नति करने को अभिव्यक्त किया है। इसे और भी स्पष्ट करते हुये लिखा गया है, "दंडनीति ही वह विद्या है, जिसके द्वारा उपलब्ध वस्तु का लाभ होता है, लब्ध वस्तु की रक्षा होती है, रक्षित वस्तु की वृद्धि व उन्नति होती है और संवर्धित वस्तु का यथायोग्य स्थान पर विनियोग होता है।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है।

ब्लुंशली—"राजनीति शास्त्र उस विद्या को कहते हैं जिसका सम्बन्ध राज्य के साथ हो और जो यह समझाने का यत्न करती हो कि राज्य के आधार भूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, वह अपने को किन विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है और उसका विकास किस प्रकार होता है।"[2]

---

1. [illegible]
[illegible] —[illegible]
2. "Politics is more an art than a science and has to do with the practical conduct or guidance of the state, it is concerned with foundations of the state, its essential nature, its forms or manifestations and its development." —Bluntschli

गेरिस—"राजनीति शास्त्र में, शक्ति की संस्था के रूप में, राज्य के समस्त सम्बन्धों, उसके मूल, उसके मूर्तरूप (भूमि एवं निवासी), उसके प्रयोजन, उसके नैतिक महत्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके अस्तित्व की अवस्थाओं, उसके वित्तीय पहलू तथा उसके उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता है।"[1]

डॉ. गार्नर—"राजनीति-शास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।"[2]

पॉल जेनिट—"राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र का वह भाग है, जिसमें राज्य के अधिकारों तथा शासन के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।"[3]

सीले—"राजनीति शास्त्र शासन के तत्वों का अनुसंधान उसी प्रकार करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव शास्त्र जीवन का, बीजगणित अंकों का तथा ज्यामिति स्थान एवं ऊँचाई का करता है।"[4]

गेटेल—"यह राज्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य के राजनैतिक संगठन तथा राजनैतिक कार्यों का; राजनैतिक संस्थाओं तथा राजनैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन है।"[5]

डॉ. जकारिया—"राजनीति-शास्त्र व्यवस्थित रूप में उन आधार भूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य का संगठन होता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।"[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राज्य का अध्ययन ही राजनीति-शास्त्र का विषय है। परन्तु गहराई से देखें तो इसके अन्तर्गत दो तत्व आते हैं। पहला, मनुष्य जिसके अभाव में राज्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। दूसरा, सरकार जो राज्य के उद्देश्यों को कार्यरूप प्रदान करती है। प्रो. लास्की ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "राजनीति शास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध संगठित राज्यों से सम्बन्धित मनुष्य जीवन से है।"[7] इसी प्रकार हरमन हैलर ने मनुष्य के महत्व पर बल देते हुए लिखा है,

---

1. "Political Science Considers the state, as an institution of power, in the totality of its relations, its origin, its setting (land and people), its object, its ethical signification, its economic problems, its life conditions, its financial side & its end etc." —Garels
2. "Political Science begins and ends with the State." Garner.
3. "Political Science is that part of social science which treats of the foundations of the State and the principles of government." —Paul Janet
4. "Political Science investigates the phenomen of government, as Political Economy deals with wealth Biology with life, Algebra with numbers and geometry with Space and megnitude." —Seeley
5. "It is a study of the State in the past, present and future, of political organizations and political theories." —Gettle
6. "Political Science sets forth in a systematic order the fundamental principles according to which the State as a whole is to the organized and the sovereign power exercised." —Zacharia
7. "The Study of politics concerns itself with the life of men in relation to organized States." —H. J. Laski

"राजनीति शास्त्र के सर्वाङ्गीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मनुष्य विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा होता है।"[1]

प्राचीन काल में प्रचलित नाम—प्राचीन भारत में राजनीति-शास्त्र के विविध नाम मिलते हैं जैसे—दंड नीति, राजधर्म शास्त्र, नीति शास्त्र, नय शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि। आचार्य चाणक्य ने जिस राजनीति शास्त्र के सर्वप्रथम प्रामाणिक व महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की है उसका नाम 'अर्थशास्त्र' है। उन्होंने इस शास्त्र के परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मनुष्यों की वृत्ति अर्थ है अर्थात् मनुष्य सहित भूमि को अर्थ कहते हैं। उस 'अर्थ' (मनुष्यों से बसी हुई भूमि) के लाभ (विजय) और पालन (उन्नति) का उपाय प्रतिपादक अर्थशास्त्र है।"[2]

आधुनिक युग में राज्य सम्बन्धी क्रिया-कलापों के अध्ययन को राजनीति शास्त्र (Political Science) कहते हैं। परन्तु कुछ विद्वान इसे राजनीति (Politics) और कुछ इसे राजनीति-दर्शन (Political Philosophy) कहना उपयुक्त समझते हैं। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर जैलिनेक ने लिखा है, "राजनीति शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जिसको पारिभाषिक शब्दों के सही नामकरण की इतनी अधिक आवश्यकता हो।"[3] अब हमें इन नामों के भेद को समझ लेना चाहिए।

राजनीति और राजनीति शास्त्र
(Politics and Political Science)

राजनीति शास्त्र को कुछ विद्वान राजनीति ही कहना पसन्द करते हैं। 'राजनीति' (Politics) शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग राज्य विज्ञान के लिए अरस्तू ने अपनी पुस्तक का नाम राजनीति (Politics) देकर किया था। अरस्तू की पुस्तक का आधार स्तंभ यूनान की नगर-राज्य (Polis) व्यवस्था थी। अतः उसने अपनी पुस्तक में प्रतिपाद्य विषय का नाम राजनीति (Politics) देना उचित समझा। बाद के विद्वान पॉल जेनेट, जेलिनेक, फ्रेडरिक, पोलक आदि ने भी इसको राजनीति (Politics) नाम ही दिया। अरस्तू के समय के बाद क्षेत्र की दृष्टि से इसमें और अधिक विकास हो चुका था अतः फ्रेडरिक पोलक (Frederick Pollock) ने इसको दो भागों में विभाजित किया—(1) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) और (2) व्यावहारिक राजनीति (Practical Politics)। सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य, शासन आदि से सम्बन्धित मूलभूत सिद्धान्त एवं लक्षण आते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति, प्रकृति, उद्देश्य आदि आते हैं। जब कि व्यावहारिक राजनीति में राज्य के कार्य तथा प्रशासनिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है अर्थात्

---

1. It may be said that the character of Political science, in all of its parts, is determined by its basic, pre-suppositions regarding man.—Herman Heller (Encyclopaedia of the Social Sciences. Vol XII p. 212)
2. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः । मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ॥
   तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थ शास्त्रमिति ॥ —आचार्य चाणक्य
3. "There is no Science which is so much in need of good terminolgy than 'Political Science'" —Jellineck

सरकार के प्रकार, शासन संचालन, न्यायालय, विधि निर्माण की प्रक्रिया आदि का अध्ययन किया जाता है। जेलिनेक, लैविस, आदि विद्वानों ने भी इस वर्गीकरण को उपयुक्त माना है। फ्रेडरिक पोलक ने राज्य विषयक विषय सामग्री को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है।

फ्रेडरिक पोलक का वर्गीकरण *

क्र.सं.	विषय सामग्री	वर्गीकरण	
		सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
1	राज्य	राजनैतिक संगठन की उत्पत्ति (क) ऐतिहासिक (ख) तार्किक संविधान सरकार के प्रकारों का वर्गीकरण राजनैतिक प्रभुसत्ता	सरकार के वर्तमान स्वरूप संघ तथा संघीय राज्य स्वाधीनता संरक्षित प्रदेश तथा देश से बाहर के प्रादेशिक क्षेत्र
2	सरकार	संस्थाओं के प्रकार प्रतिनिध्यात्मक एवं प्रशासकीय सरकार कार्यपालक विभाग प्रतिरक्षा और व्यवस्था राजस्व और कर व्यवस्था राष्ट्रों की उत्पत्ति स्वीकारात्मक विधि का क्षेत्र तथा उनकी सीमायें	वैधानिक कानून और प्रयोग संसदीय प्रणाली मंत्रिमंडलीय एवं सचिव तंत्रीय उत्तरदायित्व प्रशासकीय संविधान, सेना, नौसेना, पुलिस, मुद्रा बजट और व्यापार राजकीय नियन्त्रण तथा हस्तक्षेप निषेध
3	व्यवस्थापन	व्यवस्थापन के उद्देश्य स्वीकारात्मक विधि का सामान्य स्वरूप तथा विभाजन (विधि तथा सामान्य न्याय सम्बन्धी दर्शन) कानूनों की स्वीकृति तथा उसके ढंग, व्यवस्था तथा प्रशासन भाषा एवं प्रणाली। (व्यवस्थापन की यांत्रिकता)	व्यवस्थापन प्रक्रिया (सिद्धान्तों को व्यवस्थापन का रूप देना) संसदीय प्रारूप लेखन विशेष राज्यों का न्याय दर्शन न्यायालय और उसकी यांत्रिकता। न्याय सम्बन्धी उदाहरण तथा न्यायाधिकार।
4	व्यक्ति रूप में राज्य सिद्धान्त	अन्य राज्यों तथा व्यक्ति—समूह के साथ सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध	कूटनीति, शान्ति, तथा युद्ध सम्मेलन, सन्धियां तथा संगठन न्याय, व्यापार तथा संचार की उन्नति के लिए किये गये अन्तर्राष्ट्रीय समझौते

*Frederick Pollock : History of the Science of Politics, pp 99—103.

कुछ विद्वान सैद्धान्तिक राजनीति के लिए राजनीति-शास्त्र या राजनीति-विज्ञान (Political Science) तथा व्यावहारिक राजनीति के लिए राजनीति (Politics) शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त समझते हैं। राजनीति का अभिप्राय सरकार की व्यवस्था सम्बन्धी बातों से है। सीलो तथा लीकॉक ने राजनीति का अर्थ शासन कला के रूप में लिया है, राज्य के शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक अध्ययन से नहीं। जर्मन विद्वान् ब्लुंशली ने राजनीति और राजनीति-शास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "राजनीति विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है, यह राज्य की प्रयोगात्मक बातों की ओर अधिक ध्यान देती है, जबकि राजनीति शास्त्र राज्य के मूल आधारों, उसकी वास्तविक प्रकृति, उसके विभिन्न स्वरूपों तथा विकास से सम्बन्धित होता है।" [1] प्रो. गिलक्राइस्ट ने इसको स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है, "आधुनिक प्रयोग के कारण राजनीति का एक नया अभिप्राय हो गया है, अतः हमारे विज्ञान के नाम के रूप में यह बेकार हो गया है।" [2] राजनीति से अभिप्राय सरकार की दैनिक समस्याओं से है न कि राज्य के सैद्धान्तिक अध्ययन से। अतः राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य आदि के व्यवस्थित अध्ययन को राजनीति की अपेक्षा राजनीति-शास्त्र कहना ही अधिक उपयुक्त है।

राजनीति दर्शन
(Political Philosophy)

कुछ विद्वान् राज्य विषयक अध्ययन को राजनीति दर्शन का नाम देना चाहते हैं। उनके अनुसार राजनीति शास्त्र राज्य के आधार भूत सिद्धान्तों जैसे राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, उद्देश्य, विकास आदि का अध्ययन है। इस प्रकार यह राज्य के वास्तविक कार्य-कलाप अर्थात् व्यावहारिक पक्ष की अपेक्षा सैद्धान्तिक पक्ष तक ही सीमित हो जाता है। सिजविक ने लिखा है, "राजनीति का सम्बन्ध मुख्यतः कुछ मनोवैज्ञानिक आधारों पर पारस्परिक सम्बन्धों की उस व्यवस्था के निर्माण करने से है, जो सभ्य मनुष्यों द्वारा निर्मित समाज में शासक तथा शासित व्यक्तियों तथा उनमें आपस में स्थापित होनी चाहिए।" [3] इस प्रकार राजनीति-दर्शन के अन्तर्गत राज्य विषयक अध्ययन का सारा सैद्धान्तिक पक्ष आ जाता है। परन्तु फ्रेडरिक पोलक द्वारा विभाजित व्यावहारिक पक्ष जिसे भी राज्य विषयक अध्ययन का अंग मानते है, इससे छूट जाता है। अर्थात् इसके अन्तर्गत राजनीतिक

1. "Politics is more an art than a Science and has to do with the practical conduct or guidance of the State, whereas political Science is concerned with the foundations of the State, its essential nature, its forms or manifestation of its development."
—Bluntschli
2. "Modern usage has given it a new content, which makes it useless as a designation for our Science." —R. N. Gilchrist: (Principles of Political Science p. 2)
3. Politics is concerned primarily with the constructing on the basis of certain psychological premises, the system of relations which ought to be established among the persons governing and between them and the governed in a society composed of Civilized man."
—Sidwick: (Quoted by gilchrist in his principles of Political Science p. 3)

संस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों के अध्ययन के साथ-साथ उनके ऐतिहासिक विकास शासन के संगठन तथा कार्यों, शासक तथा शासितों के सम्बन्धों का भी अध्ययन किया जाता है। गैटल ने लिखा है, "राज्य विज्ञान का सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति और विकास, राजनीतिक विचार धाराओं और आदर्शों के ऐतिहासिक विवेचन, राज्य की आधार भूत प्रकृति के विवेचन, उसके संगठन तथा अन्यान्य राज्यों से उसके सम्बन्धों से होता है। 1" गार्नर ने इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "राजनीतिक दर्शन का अभिप्राय राजनीतिक शास्त्र से सम्बन्धित सामग्री के मूल सिद्धान्तों तथा उसकी आवश्यक विशेषताओं का अध्ययन करना होता है। यह केवल सैद्धान्तिक बातों और नियमों से ही सम्बद्ध होता है इन सिद्धान्तों को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किस प्रकार प्रयोग किया जाय, यह बातें राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र से बाहर होती हैं, परन्तु राजनीति शास्त्र में हम उन सिद्धान्तों के प्रयोगात्मक तथा क्रियात्मक दोनों ही रूपों का अध्ययन करते हैं। राजनीति शास्त्र इस बात पर प्रकाश डालता है कि राज्य कैसा होना चाहिए जब कि राजनीतिक दर्शन केवल यह बतलाता है कि राज्य कैसा है ?" 2 गिलक्राइस्ट ने ठीक ही लिखा है, "राजनीति दर्शन एक दृष्टि से राजनीति शास्त्र का पूर्वगामी है क्योंकि राजनीति-दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर ही राजनीति-शास्त्र आधारित है। साथ ही राजनीति दर्शन को भी स्वयं बहुत सी ऐसी सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है जो उसे राजनीति-शास्त्र से प्राप्त होती है।" 3 अन्त में, इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'राजनीति शास्त्र' शब्द से राजनीति दर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापकता और सुनिश्चितता है। इससे विषय के व्यवस्थित अध्ययन का भी बोध होता है अत राज्य-विषयक सामग्री के अध्ययन को राजनीति विज्ञान या राजनीति शास्त्र (Political Science) कहना अधिक उपयुक्त है।

1. "Political science may be defined as the Science of the State. It deals with the association of human beings that form political units with the organisation of their governments and the activities of there governments in making and administering laws and in carrying on inter state relations" —Gettell

2. "Political Philosophy is said to be concerned with theoretical or speculative consideration of the fundamental principles and essentail characteristics of the materials and phenomenon with which political science has to deal It is concerned with generalizations rather than with particulars and predict essentail qualities rather than particular ones. Political Science furnishes us with the results of logical thinking upon the nature and forms of concrete political institutions. Political Science Considers the State as it ought to be while Political philosophy is concerned with what it is" —Garner

3. "Political philosophy is in a sense prior to Political Science for the fundamental assumptions of the former are a basis to the latter. Political philosophy in its turn has to use much of the material supplied by Political Science."
—Gilchrist: (Principles of Political Science. p 3)

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Political Science)

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न शब्दों में इसके क्षेत्र को व्यक्त किया है। गैटेल ने इसके क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक क्षेत्र में राजनीति-शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, राजनैतिक संस्थाओं के विकास तथा अतीत के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।...... वर्तमान का अध्ययन करने में यह वर्तमान राजनैतिक संस्थाओं तथा विचार धाराओं का वर्णन, उनकी तुलना तथा वर्गीकरण करने का प्रयत्न करता है। परिवर्तन शील परिस्थितियों तथा नैतिक मानदंडों के आधार पर राजनैतिक संस्थाओं तथा क्रिया-कलापों को अधिक उन्नत बनाने के उद्देश्य से राजनीति-शास्त्र भविष्य की ओर दृष्टिपात करते हुए यह भी विचार करता है कि आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए।"[1] गैटेल के अनुसार राजनीति शास्त्र राज्य के वर्तमान, ऐतिहासिक व आदर्श स्वरूप का अध्ययन करता है।

ब्लुंशली ने लिखा है, "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधारों से है और वह उसकी आवश्यक प्रकृति, उसके विविध रूपों, उसकी अभिव्यक्ति तथा उसके विकास का अध्ययन करता है।"[2] गार्नर ने लिखा है, "परिवार, जाति, राष्ट्र तथा सभी वैयक्तिक संस्थाओं एवं समूहों से भिन्न राज्य ही, जो अपने विविध पहलुओं तथा सम्बन्धों में व्यक्त होता है, राज्य विज्ञान का विषय है। सही रूप में, राज्य- विज्ञान का आरम्भ एवं अन्त राज्य के साथ ही होता है।"[3] संक्षेप मे, विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त राजनीति शास्त्र के क्षेत्र का निम्न लिखित रूप में अध्ययन कर सकते हैं।

फ्रेडरिक पोलक (Fredrick Pollock) ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को दो भागों मे विभक्त किया है—(1) सैद्धान्तिक राजनीति और (2) व्यावहारिक राजनीति।

सैद्धान्तिक राजनीति में राज्य के मूलतत्व, सिद्धान्त और आदर्शों पर विचार किया जाता है और व्यावहारिक राजनीति मे उन उपायों और साधनों पर विचार किया जाता है जिनके द्वारा राज्य अपनी सत्ता को अभिव्यक्त अथवा प्रयुक्त करता है। इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति का सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक पक्ष से है।

जेलीनेक (Jellinek) ने भी राजनीति शास्त्र को दो भागों में विभक्त किया है—सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical)।

1. In its historical aspect, Political Science deals with the origin of the State and with the development of Political theories in the past...... ...In dealing with the present, it attempts to describe, Compare and classify existing political institutions and ideas Political Science also looks to the future, to the State as it should be, with the aim of improving political organization and activities in the light of changing Conditions and changing ethical standards."
Gettell (Political Science, page 4)

2. Political Science is concerned with the foundations of the State, its essentall nature, its forms or manifestations and its development." —Bluntschli

3. Garner : Political Science and government, page 9

गेटेल (Gettel) ने राजनीति शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया है—
(1) ऐतिहासिक (2) सैद्धान्तिक, और (3) व्यावहारिक।

ऐतिहासिक भाग में राजनीतिक संगठनों का विकासात्मक अध्ययन किया जाता है। सैद्धान्तिक भाग में राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है। व्यावहारिक भाग में विभिन्न शासन पद्धतियों का अध्ययन आ जाता है।

गार्नर (Garner) ने राजनीति शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया है।

(1) राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति का अनुसंधान,
(2) राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप, इतिहास तथा उनके विभिन्न रूपों की गवेषणा,
(3) इन दोनों के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमों का यथासम्भव निर्धारण।

विलोबी (Willoughby) ने राजनीति शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया है— राज्य, शासन और कानून।

सिजविक (Sidgwick) के अनुसार राजनीति-शास्त्र को दो भागों में बांट सकते हैं।

(1) राज्य के संगठन से सम्बन्ध रखने वाला, और
(2) राज्य के कार्यों से सम्बन्ध रखने वाला।

इससे स्पष्ट है कि कुछ विद्वान राज्य के अध्ययन को राजनीति शास्त्र मानते हैं और वे उसमें सरकार के अध्ययन को सम्मिलित नहीं करते हैं। दूसरी ओर कुछ विद्वान सरकार के अध्ययन को राजनीति शास्त्र मानते हैं और उसमें राज्य के अध्ययन को सम्मिलित नहीं करते हैं क्योंकि उनके मतानुसार राज्य तो निर्जीव है, उस निर्जीव की सजीव चालक तो सरकार ही है। अधिकांश विद्वान इसके अन्तर्गत राज्य और सरकार दोनों से सम्बन्धित अध्ययन को लेते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि इसके अन्तर्गत (i) मानव, जिसके बिना राज्य की कल्पना करना असम्भव है, (ii) राज्य और (iii) सरकार इन तीनों से सम्बन्धित अध्ययन इस शास्त्र के क्षेत्र में आ जाता है।

(1) मानव सम्बन्धी अध्ययन—राजनीति शास्त्र मनुष्य के राजनीति सम्बन्धी कार्यकलापों का अध्ययन है। नागरिकों के योग से राज्य का निर्माण होता है। इतना ही नहीं अपितु मानव हित के लिए राज्य का गठन किया जाता है। राज्य मनुष्य के हितों की रक्षा करता है। बदले में राज्य में निवास करने वाले मनुष्यों पर कर्तव्य पालन का भार आता है जिनका राज्य पालन करवाता है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र में राज्य द्वारा प्रदान किये गये अधिकार, कर्तव्य, पारस्परिक सम्बन्धों के नियंत्रक सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।

(2) राज्य का अध्ययन—राजनीति शास्त्र सामाजिक विज्ञान का वह विशिष्ट अंग है जो राज्य से सम्बन्धित है। अतः इसके अन्तर्गत राज्य का सर्वांगीण और सर्वकालिक अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत राज्य के वर्तमान, अतीत और भावी स्वरूप का अध्ययन किया जाता है।

(क) राज्य के वर्तमान स्वरूप का विवेचन—अरस्तू ने लिखा है, "राज्य की उत्पत्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के कारण हुई है परन्तु अच्छे जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व चला आ रहा है।" वर्तमान काल में आते-आते राज्य एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर चुका है आधुनिक युग में राज्य सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट मानव-समुदाय है मनुष्य के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अन्य समुदाय राज्य के अधीन है। ये सभी समुदाय उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। कोई मानव कृत अन्य शक्ति नहीं है जो इससे प्रतिस्पर्द्धा कर सके। इतना ही नहीं, वर्तमान युग में राज्य के बिना अच्छा मानव-जीवन भी सम्भव नहीं है। अतः इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि वर्तमान समय में राज्य रूपी संस्था का क्या स्वरूप है, इसके क्या प्रयोजन एवं उद्देश्य हैं और कौन कौन सी बातें इसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं? आधुनिक युग में राज्य के भेद व प्रकारों का वर्णन, उसके संगठन एवं व्यवस्था का स्वरूप, शासन सत्ता के आधार एवं शासक और शासितों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन किया जाता है। साथ ही उद्देश्य पूर्ति के लिए प्रयुक्त साधनों का वर्णन भी इसमें पाय जाता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत राज्य के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन किया जात है जिसे गेटेल के शब्दों में वर्णनात्मक राजनीति विज्ञान कह सकते हैं।

(ख) राज्य के ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन—इसके अन्तर्गत राज्य के ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन किया जाता है अर्थात् राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई और कि उसका विकास निरन्तर कैसे हुआ क्योंकि राज्य का जो स्वरूप आज हमारे समक्ष है वैस प्रारम्भ में नहीं था। प्रारम्भ में इसका कार्य कुलों तक ही सीमित था। फिर उसक विस्तार जाति या कबीले (Tribes) तक बढ़ा। जब ये कबीले (Tribes) निश्चित भूखड पर बस गये तो जनपदों (Tribal States) के नाम से पुकारे जाने लगे। ग्रीक में इन्हीं जन-पदों को नगर-राज्य (City States) कहा जाता था। फिर उन्होंने मिलकर संघों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। ग्रीस में 'ऐथिनियन लीग' और 'एकियन लीग' संघ राज्यों के ही उदाहरण हैं। भारत में 'वज्जिसंघ' और अन्धकवृष्णि सघ' परस्पर संगठित नगर-राज्यों के संघ ही थे। बाद मे जय और पराजय के आधार पर साम्राज्यों की स्थापना हुई। महाजन पदों ने अपने पड़ोसी राज्यों को हराकर साम्राज्यों की स्थापना की। आवागमन के विकसित साधनों के अभाव में बड़े साम्राज्यों का एक स्थान से शासन चला पाना असम्भव था। अतः मध्यकाल में सामन्त पद्धति (Feudal System) को अपनाया गया इसके अनुसार एक सम्राट के अधीन बहुत से छोटे-छोटे सामन्त और राजा होते थे जो अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र थे। सत्रहवीं अठाहरवीं सदियों मे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) राज्यों का विकास हुआ जिनके प्रमुख उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन, इटली, फ्रांस आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्य का भी विकास हुआ है और विभिन्न समय में उसका भिन्न-भिन्न स्वरूप रहा है।

इसके अतिरिक्त राज्य-शक्ति सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन होता रहा है। एक समय था जब राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे और उसकी आज्ञायें ईश्वर की आज्ञाओं के सदृश मानी जाती थी प्राचीन भारतीय शास्त्रों में भी राजा को इन्द्र, मित्र,

वरुण आदि देवताओं का अंश माना गया है। परन्तु इस विचार-धारा में परिवर्तन आया और आज प्रभुसत्ता किसी एक व्यक्ति, वर्ग अथवा श्रेणी में न मानकर जन साधारण में मानी जाती है जिसका प्रयोग उनके प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र में समय समय पर मनुष्य के राजनैतिक विचारों के विकास व राज्य के स्वरूप में आने वाले परिवर्तन का एतिहासिक विवेचन किया जाता है।

(ग) राज्य के भावी स्वरूप का विवेचन—मानव विकासोन्मुख प्राणी है, अतः राज्य जिस क्रमिक विकास के बाद आज इस अवस्था में पहुँचा है उसे ही अन्तिम और सर्वोच्च रूप नहीं माना जा सकता है। फलस्वरूप आज भी अनेक वाद और सिद्धान्त विकसित हो रहे हैं जो राज्य के स्वरूप, कार्यक्षेत्र और उद्देश्य के सम्बन्ध में नये विचार हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। संक्षेप में, हम निम्नलिखित विचारधाराओं को ले सकते हैं।

(i) समाज वाद—समाज वाद सिद्धान्त के समर्थक मनुष्य के आर्थिक जीवन पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण चाहते हैं।

(ii) बहु समुदाय वाद—बहु समुदायवादी राज्य को मनुष्य के अन्य समुदाय (धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि) की अपेक्षा अधिक नहीं समझना चाहते हैं अर्थात् वे राज्य को भी अन्य समुदायों की समकक्षता में ले आना चाहते हैं।

(iii) अराजकतावादी—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सत्ता ही अनावश्यक समझी गई है। वे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें राज्य नामक संस्था की आवश्यकता ही न हो।

इस प्रकार से विकसित होने वाली विचारधाराओं का भावी मानव संगठनों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कार्लमार्क्स की समाजवादी विचारधारा रूस, चीन आदि अनेक देशों में क्रियात्मक रूप प्राप्त कर चुकी है। इन देशों के राज्यों का स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्यक्षेत्र अन्य देशों के राज्यों के स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्यक्षेत्र से बहुत भिन्न है। अतः राजनीति शास्त्र में राज्य व सरकार के भावी स्वरूप का भी विवेचन किया जाता है।

इस प्रकार राजनीति शास्त्र में राज्य के अतीत, वर्तमान और भावी स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत राज्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से अनुसंधान, वर्तमान का विश्लेषणात्मक अध्ययन और उसके आदर्श भावी स्वरूप की कल्पना की जाती है।

(3) सरकार का अध्ययन—सरकार राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। राज्य शरीर है तो यह उसका प्राण है। अतः जब तक हम सरकार का अध्ययन नहीं करते हैं राज्य का अध्ययन अपूर्ण है। एक समय में राजा ही सारे कार्य करता था। वह अकेला ही उस राज्य की सरकार होती थी। उसके बाद दरबारियों की बारी आई। जिन्होंने राजा के साथ मिलकर शासन में हाथ बँटाना प्रारम्भ किया। वर्तमान युग में प्रजातांत्रिक राज्यों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा सरकार का

निर्माण होता है जो व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका आदि विभिन्न अंगों के रूप में कार्य करते हैं। परन्तु पाकिस्तान तथा कई अन्य राज्यों में आज भी राज सत्ता शक्ति के आधार पर सैनिक अधिकारियों में निहित है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र में सरकार के संगठन, प्रकार व उसके अंगों का अध्ययन किया जाता है।

अन्त में राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध प्रो. फेयरली (Fairlie) के विचार उद्धृत कर सकते हैं। उन्होंने लिखा है, "इसके (राजनीति शास्त्र) के अन्तर्गत राज्यों के संगठन एवं कार्यों का तथा राजनैतिक संगठन के आधार पर निहित सिद्धान्तों एवं आदर्शों का अध्ययन आ जाता है। वह राजनैतिक शक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समन्वय की समस्याओं, मनुष्य के आपस के सम्बन्धों, जिन पर की राज्य नियंत्रण रखता है तथा मनुष्यों के राज्य से सम्बंधों का विवेचन करता है। वह राज्य की विभिन्न कार्य संस्थाओं के बीच शासकीय शक्ति के विभाजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का भी अध्ययन करता है।"

अनेक राजनीति शास्त्र (The Political Sciences)—

राज्य बहुत पेचीदा संगठन है जो विविध रूपों में प्रकट होता है और जिसका अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। अतः इससे सम्बन्ध रखने वाला कोई एक विज्ञान नहीं है। अपितु विज्ञानों का समूह है। उदाहरणार्थ राज्य कर वसूल करता और उसको सार्वजनिक हित में व्यय करता है। राज्य के इस प्रकार के आय व्यय के अध्ययन के लिए एक पृथक विज्ञान है जिसे सार्वजनिक आय-व्यय (Public Finance) कहते हैं। राज्य के संगठन का आधार कानून है। राज्य के इस कानूनी स्वरूप के अध्ययन का भी पृथक विज्ञान है जिसे विधि शास्त्र (Juris prodence) कहते हैं। राज्य एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न संगठन है तथापि उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी प्रभुसत्ता को बनाये रखते हुए भी अन्य राज्यों के साथ व्यवहार में निश्चित नियमों का अनुसरण करना पड़ता है। इस बात का जिस विज्ञान में अध्ययन किया जाता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) कहते हैं। अतः आधुनिक युग में राज्य के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित विवेचन एक स्वतन्त्र व पृथक विज्ञान के रूप में विकसित हो गया है। इनका भी प्रतिपाद्य विषय राज्य ही है अतः राजनीति शास्त्र एक न होकर अनेक हैं अर्थात् वह अनेक विज्ञानों का समूह है। इस दृष्टि से जितने राज्य के रूप हैं उतने ही राज्य विज्ञान हैं।

इस बात को स्वीकार नहीं करने वाले विद्वानों का मत है कि राज्य मानव-समुदाय का विशिष्ट और विशाल समुदाय है अतः उस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार होना स्वाभाविक है और इस प्रकार का विचार करने वाले एक ही कोटि के सामाजिक विज्ञान हैं, स्वतन्त्र राज्य-विज्ञान नहीं। सिजविक ने लिखा है, "राज्य के विविध सम्बंधों के विभाग किये जा सकते हैं और उन पर विचार किया जा सकता है, परन्तु ये सम्बन्ध इतने घनिष्ट हैं और उनके प्रयोजन भी इतने मिलते-जुलते हैं कि उन्हें हम विभिन्न विज्ञानों का रूप नहीं दे सकते।" राजनीति शास्त्र में ही राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप संगठन, प्रयोजन, उद्देश्य आदि पर विशद रूप से विचार किया जाता है जो राज्य तक ही सीमित है। परन्तु आज अनेक कारण [illegible] : राजनैतिक अर्थशास्त्र, राजकीय आय-व्यय शास्त्र, सार्वजनिक कानून

कूटनीति विधि शास्त्र आदि विज्ञान भी राज्य से सम्बन्धित है और राज्य के किसी विशिष्ट पहलू का विवेचन करते हैं अतः इन्हें भी व्यापक अर्थ में राजनीति शास्त्र समझना अनुपयुक्त नहीं है। फिर भी राजनीति शास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है जिसका प्रतिपाद्य विषय पूर्वतः राज्य है। गार्नर और जेलिनेक इसी बात के समर्थक हैं।

राजनीति शास्त्र का स्वरूप
(Nature of Political Science.)

अरस्तू राजनीति शास्त्र का जनक माना जाता है, उसने राजनीति को पूर्ण विज्ञान माना है। इसके अतिरिक्त बोदा (Bodin), ब्राइस (Bryce) सिजविक (Sidgwik) हाब्स (Hobbes), माण्टेस्क्यू (Montesque) ब्लूंशली (Bluntshli) आदि भी इसे विज्ञान मानने के समर्थक हैं। परन्तु राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने में सभी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे वैज्ञानिक स्वरूप देने मे आपत्ति प्रकट की है जिनमें फ्रांसीसी विद्वान काम्टे (Comte), मैटलैंड (Maitland), बकल (Buckle) आदि प्रसिद्ध हैं। बकल के मतानुसार राजनीति शास्त्र का विज्ञान होना तो दूर रहा उसे कलाओं में भी सबसे अनुन्नत कला मानना चाहिए। उसने कहा है, "ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति विज्ञान तो है ही नहीं और है भी तो कलाओं में सबसे पिछड़ा हुआ है।"[1] मैटलैंड को राजनीति के साथ विज्ञान शब्द देखकर आपत्ति ही नहीं होती है अपितु अत्यन्त खेद होता है। उसने लिखा है, "जब मैं राजनीति विज्ञान के परीक्षा प्रश्नों को देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों के लिए ही वरन् शीर्षक के लिए खेद होता है।"[2] काम्टे इसको निम्न कारणों से विज्ञान नहीं मानता है—(i) इसकी पद्धतियों, सिद्धान्तों एवं निर्णयों के विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है; (ii) इसका कोई निरन्तर या क्रमबद्ध विकास नहीं है; (iii) इसमे उन तत्वों का अभाव है जिनके द्वारा भविष्यवाणी की जा सके।"[3]

सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र को विज्ञान नहीं मानने के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये तर्कों का अध्ययन करना अधिक उपयुक्त है जो इस प्रकार हैं।

सर्व मान्य सिद्धान्तों का अभाव—राजनीति शास्त्र में सर्वमान्य सिद्धान्तों का नितान्त अभाव है। कुछ विद्वान लोकतंत्र को मनुष्य के लिए हितकर समझते हैं। उनके अनुसार यह समाज के सभी व्यक्तियों को समान अधिकार व स्वतंत्रता प्रदान करने वाली व्यवस्था है तो कुछ इसे अधिकार समझते हैं उनके अनुसार यह व्यवस्था वास्तव में गरीबों को अधिक गरीब और धनवानों को अधिक धनवान बनाने वाली है। इसी प्रकार प्रजातंत्र में भी कुछ अध्यक्षात्मक (Presidential) सरकार को उपयुक्त मानते हैं तो कुछ उसे अनु-

1. "In the present state of knowledge, politics so far from being a science is one of the most back ward of all arts" Buckle : History of civilization Vol. I p. 361
2. "When I see a good set of examination questions headed by the words 'Political Science' I regret not the questions, but the title." F. W. Maitland (Collected papers Vol III p. 302)
3. quoted by Amos in the Science of Politics pp 2—16 on the basis of positive philoshophy Vol II ch. 3 of comte.

पयुक्त। कुछ विद्वान दो सदनों वाली संसद का समर्थन करते हैं तो कुछ इसे राज्य की प्रगति में रुकावट मानते हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त के समर्थक व्यक्ति को राज्य के लिए मानते हैं तथा उन पर राज्य का निरंकुश अधिकार समझते हैं जबकि व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक राज्य को व्यक्ति के लिए समझते हैं। वे राज्य के व्यक्ति पर निरंकुश अधिकार का समर्थन नहीं करके राज्य को व्यक्ति के हित साधन के लिए मानते हैं। कुछ विद्वान् राज्य की उन्नति के लिए एक राष्ट्रीयता सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो कुछ विद्वान एक राज्य में अनेक राष्ट्रीयताओं का सम्मिलित होना अधिक उत्तम समझते हैं। इसमे स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र में कोई ऐसा नियम नहीं है जो सर्वमान्य हो। गणित, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि विज्ञानों में इस प्रकार के नियम हैं जो सर्वमान्य है। गणित का नियम है 'दो और दो चार होते हैं', रसायन शास्त्र का नियम है 'दो अंश हाइड्रोजन और एक अंश आक्सीजन मिलने से पानी बन जाता है' भौतिक शास्त्र का नियम है कि 'पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति है', यह नियम सर्वमान्य है राजनीति शास्त्र मे हम ऐसे नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन नही कर सकते हैं जो सर्वमान्य हों अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार यह विज्ञान नहीं है।

(2) कार्य-कारण में सम्बन्ध नहीं—भौतिक विज्ञानों के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों में कार्य-कारण में सम्बन्ध पाया जाता है। पानी को गर्म करने पर भाप और अत्यधिक शीतलता प्रदान करने पर बर्फ का रूप धारण करेगा। इस नियम में अपवाद नहीं है। परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में जो घटनायें घटित होती हैं वे अत्यन्त जटिल कारणों पर आधारित हैं क्योंकि राज्य का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य है जो जड़ और अचेतन वस्तु से भिन्न जीवित, जागृत और चेतन है तथा अपनी इच्छा शक्ति से शासित है। अतः किसी घटना विशेष के लिए एक कारण को निर्धारित करना असम्भव है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति दार्शनिकों के नये विचारों का अथवा राज्य की कुव्यवस्था का परिणाम थी इस बात को स्पष्ट करना कठिन है। इसी तरह एक-से कारणों में एक-से परिणाम निकलते हों यह कहना भी कठिन है। शासन द्वारा अत्याचार करने पर एक देश की जनता सहन कर सकती है जबकि दूसरे देश की जनता विद्रोह कर देती है। इसी प्रकार शासन द्वारा बनाये किसी कानून के बारे में यह भी सम्भव है कि उसे जनता पूर्णतया मानले अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह तात्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिकोण में रखते हुए विचार करता है। इसीलिए उसके व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है। इन कारणों से कार्य-कारण का सम्बन्ध अर्थात्, एक-से कारणों से एक-से परिणाम निकलने की जो निश्चितता अन्य भौतिक विज्ञानों में पाई जाती है वह राजनीति शास्त्र में सम्भव नहीं है, अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार इसे विज्ञान नहीं कहा जाना चाहिये।

(3) परीक्षण असम्भव—राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य के राजनीति विषयक क्रिया-कलाप हैं जो इतने विस्तृत, जटिल, अनिश्चित और अनियंत्रित हैं कि उनमें परीक्षण सम्भव नहीं होता है। भौतिक विज्ञानों से सम्बन्धित विषयों का स्वरूप निश्चित रहता है उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की

जानकारी के लिए किसी भी वस्तु को ऊपर फेंकने पर नीचे आते देखकर जान सकते हैं। इसी प्रकार रसायन शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का स्वरूप भी स्पष्ट, निश्चित व नियमित हैं अतः लोहा, गन्धक आदि पर परीक्षण करके उनके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु राजनीति शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य विषय इतने अस्पष्ट, जटिल, अनियमित एवं विस्तृत हैं कि उनमें परीक्षण सम्भव नहीं है। एक देश में लोकतंत्र शासन प्रणाली सफल रहती है तो दूसरे में असफल सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ भारत में प्रजातंत्र की व्यवस्था चल रही है परन्तु पाकिस्तान में वह सफल नहीं हो पाई है। वयस्क मताधिकार द्वारा एक राज्य में सुदृढ़ और शक्तिशाली शासन की स्थापना हो जाती है तो दूसरे देश में इसी कारण ऐसे शासन की स्थापना हो जाती है जो अकर्मण्य अथवा भ्रष्ट होता है इससे स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र में भौतिक शास्त्र की भाँति परीक्षण सम्भव नहीं है। इसके कारण को आर. एच. एस. क्रोसमेन के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, "आप जीवन के उस भाग को जिसे राजनीति कहा जाता है अथवा संगठन के उस भाग को जिसे राज्य कहा जाता है, मनुष्य समाज के पेचीदे ढाँचे से अलग करके समझने की आशा नहीं कर सकते।"[1] इस तरह अन्य विज्ञानों की भाँति इसमें परीक्षण सम्भव नहीं होने से इसे विज्ञान नहीं माना है।

(4) परीक्षणों का मिश्रित परिणाम नहीं—राजनीति शास्त्र में परीक्षणों के परिणाम शुद्ध एवं निश्चित नहीं होते हैं। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, अंक गणित आदि विज्ञानों के परिणाम निश्चित और शाश्वत होते हैं जबकि राजनीति शास्त्र पर यह बात लागू नहीं होती है। क्रांति में रक्तपात ही हो यह बात भी अक्षरशः सत्य नहीं है। भारत ने बिना रक्तपात के भी क्रान्ति करके दिखा दी और शांतिपूर्ण आन्दोलन द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। इसी तरह अन्य नियमों के सम्बंध में भी कह सकते हैं कि वे सभी स्थिति, समय और स्थानों पर निश्चित शाश्वत और नियमित हो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए कई विद्वानों ने इसे विज्ञान मानने में आपत्ति प्रकट की है।

विज्ञान क्या है

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र को अनेक विद्वानों ने विज्ञान नहीं माना है। परन्तु गहराई से यदि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि उन्होंने विज्ञान शब्द को ही उसके सही अर्थ में नहीं समझा।

गिलिन तथा गिलिन ने विज्ञान की परिभाषा देते हुए लिखा है, "जिस क्षेत्र का हम अनुसंधान करना चाहते हैं उसकी ओर एक निश्चित प्रकार की पद्धति ही विज्ञान का वास्तविक चिह्न है।"[2]

---

1. "You cannot remove a little slice of life called Politics or a state of organisation called the Stated from intricate structure of human society and hope to understand it" —R. H. S. Crossman
Quoted by Dorothy M. Pickles in her Introduction of Politics. p 20.
2. "The true sign of Science is a certain type of approach towards the field which we wish to investigate." —Gillin and Gillin

ग्रीन के शब्दों में, "विज्ञान अनुसंधान की एक पद्धति है।"[1]

कार्ल पियर्सन ने लिखा है, "तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम एवं उनके सापेक्षिक महत्व की मान्यता विज्ञान का कार्य है।"[2]

बिसान्ज और बिसान्ज ने लिखा है, "वह पद्धति है न कि विषय सामग्री जो कि विज्ञान की कसौटी है।"[3] लुंडबर्ग ने लिखा है, "विज्ञान शब्द किसी विशेष क्षेत्र में प्रयोगिक रूप में उस क्षेत्र के अर्थ में आता है जो निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार अध्ययन किया गया है, अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार।"[4] इसे और भी स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है, "विज्ञान को विषय सामग्री के रूप में पारिभाषित करने का प्रयत्न करना केवल भ्रम में डालने का कारण होगा।"[5] स्टुअर्ट चेस ने लिखा है, 'विज्ञान पद्धति के साथ चलता है न कि विषय सामग्री के साथ।"[6] वेनबर्ग और शेबत ने लिखा है, "विज्ञान संसार की ओर देखने की एक निश्चित पद्धति है।"[7] इससे स्पष्ट है वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त क्रमबद्ध (Systematised) ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। कोई भी ज्ञान वैज्ञानिकपद्धति द्वारा प्राप्त किये जाने पर विज्ञान का रूप धारण कर लेता है।

भौतिक शास्त्र में भौतिक वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति शास्त्र में पेड़ पौधों का अध्ययन होता है। ऋतुशास्त्र में ऋतुओं का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं सभी की विषय वस्तु भिन्न होते हुए भी विज्ञान कहलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि *अध्ययन की पद्धति जो वैज्ञानिक पद्धति है इन्हें विज्ञान की कोटि में लाती है।* कार्ल पियरसन ने लिखा है, "समस्त विज्ञान की एकता केवल उसकी पद्धति में है न कि उसकी विषय-सामग्री में।"[8] लुंडबर्ग ने लिखा है, "समस्त शाखाओं में वैज्ञानिक पद्धति एक ही है।"[9] अन्त में, हम कार (Carr) के शब्दों में कह सकते हैं कि "प्रत्येक विज्ञान संसार के प्रति एक धारणा, एक दृष्टिकोण, प्रमाणित ज्ञान का एक व्यवस्थित ढाँचा और खोज करने की एक पद्धति है।"[10] सेंच्यूरी डिक्सनेरी में विज्ञान का प्रयोजन देते हुए

---

1. "Science is a way of investigation." —Green
2. "The classification of facts, the recognition of their sequence and their relative significance is the function of Science." —Karl Pearson
3. "It is approach rather than Content that is the test of science." —Biesanz and Biesanz
4. All that the term, 'Science' as applied to a particular field comes to mean is a field which has been studied according to certain principles i. e. according to Scientific Method." —George A Lundberg
5. "The attempt to define science in terms of subject-matter causes only confusion." —Ibid
6. "Science goes with the method, not with the subject-matter." —Stuart Chase
7. "Science is a certain way of looking at the world." Wienberg and Shabat
8. "The unity of all science consists alone in its method, not in its material." Karl Pearson.
9. The scientific method is one and the same in all branches." —Geaorg A Lundberg
10. Every science is at once an attitude towards the world, a point of view, a systematic body of verlable knowledge, and a way of finday out." —Carr Lowell J.

हा गया है कि विज्ञान किसी विषय के सम्बन्ध में उस एकीकृत ज्ञान भण्डार को कहते जिसकी प्राप्ति विधिवत, पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिन थ्यों का उनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो। सी बात का समर्थन करते हुए गार्नर ने लिखा है कि तथ्यों की वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा रीक्षा किसी एक प्रकार की बातों अथवा किसी एक वर्ग के अनुसंधानकर्त्ताओं तक ीमित नहीं है। इसका प्रयोग सामाजिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार की बातों मे हो कता है। इतना ही नहीं अपितु गार्नर ने आगे स्पष्ट किया है कि हम इस बात को कदापि वीकार नहीं कर सकते कि वैज्ञानिक विश्लेषण बुद्धि केवल भौतिक विज्ञान-वेत्ता अथवा ाकृतिक विज्ञान-वेत्ता में ही होती है। इस आधार पर राजनीति शास्त्र को भी विज्ञान कहना समीचीन है। यद्यपि यह ठीक है कि राजनीति शास्त्र के नियम और निष्कर्ष भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, आदि की भाँति यथार्थ एवं सुनिश्चित रूप में अभिव्यक्त नहीं किये जा सकते हैं और न भविष्यवाणी ही की जा सकती है। 1909 में अमेरिकन पॉलिटीकल साइन्स एसोशियेसन के अध्यक्ष पद से लार्ड ब्राइस ने अपने भाषण में कहा था कि राजनीति शास्त्र प्रायः उसी अर्थ में एक विज्ञान है, जिस अर्थ में ऋतु-विज्ञान। उन्होंने बतलाया कि राजनीति शास्त्र इस अर्थ में एक विज्ञान है कि मानव-प्रकृति की प्रवृत्तियों में एक स्थायित्व और एक रूपता है जिसकी सहायता से हम यह मान सकते हैं कि किसी एक समय में मनुष्य के कार्यों के प्रायः वही कारण होते हैं जो पूर्व समय में थे। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध किया जा सकता है और उन्हें एक शृंखला में रखकर उनका अध्ययन सामान्यतया प्रवृत्तियों के परिणामों के रूप में भी किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि राजनीति शास्त्र एक नियमनात्मक विज्ञान नहीं है अपितु प्रयोगात्मक विज्ञान है, यह प्रयोग या परीक्षण नहीं कर सकता परन्तु वह परीक्षणों का अध्ययन कर उनके परिणामों को निश्चित कर सकता है। यह एक प्रगतिशील विज्ञान भी है क्योंकि प्रति वर्ष के नूतन अनुभवों से केवल हमारी विचार सामग्री मे वृद्धि ही नही होती है, मानव समाज के नियमों के ज्ञान में भी वृद्धि होती है। अन्त में, हम सर फ्रेडरिक पोलक के शब्दों में कह सकते हैं कि राजनीति शास्त्र वास्तव में एक विज्ञान है। यह विवेकपूर्ण राजनीतिक कार्य के लिए सुनिश्चित सिद्धान्त प्रदान करके तथा गलत राजनीतिक दर्शन या विचारधारा के दोष बतलाकर समाज की सेवा करती है। यह ठीक है कि यह भौतिक विज्ञानों के समान पूर्णता प्राप्त नही कर सका है परन्तु इसका कारण इसके द्वारा प्रतिपादित विषय सामग्री है जो भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक जटिल है तथा सामाजिक तथा व्यावहारिक कार्यों पर जिन बातों का प्रभाव पड़ता है वे सदा परिवर्तित होते रहते हैं अतः उन पर काबू पाना कठिन रहता है।

आगे हम इसे विज्ञान नही मानने वालों की आपत्तियों का उत्तर देने का प्रयास कर रहे हैं।

(2) सर्वमान्य सिद्धान्त का अभाव नहीं है—सर्वमान्य सिद्धान्तों के अभाव का कारण वैज्ञानिकता की कमी नहीं है अपितु इसके द्वारा प्रतिपादित मानव प्रकृति है जो देश और

काल के अनुसार विभिन्न पाई जाती है तथा परिवर्तित होती रहती है। प्राचीन काल में चाणक्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कि शासन शक्ति का दुरुपयोग किया जाय तो गृहस्थों की तो बात ही क्या वानप्रस्थी और सन्यासी भी क्रुद्ध हो जाते हैं और विद्रोह कर देते हैं यदि शासन शक्ति का प्रयोग उपयुक्त रूप में किया जाय तो जनता धर्म और काम में प्रवृत्त होती है। यह सिद्धांत सर्वमान्य और शाश्वत है। इसके परिणाम मुगल काल में औरंगजेब और अकबर के शासन काल में देख सकते हैं। आज भी इसका उसी रूप में परिणाम निकलेगा। लोकतन्त्र पद्धति में जनता राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को अधिक अनुभव करती है और उनमें राजनीतिक चेतना विकसित होती है जो राज्य के लिए लाभप्रद है। यही कारण है कि डेढ़ सदी में विश्व में इस पद्धति की अद्वितीय प्रगति हुई है। यह सब कुछ होते हुए भी उपर्युक्त वर्णित सिद्धांत यदि कहीं असफल होते हैं तो राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की अवैज्ञानिकता नहीं है अपितु मानव की परिवर्तनशील प्रकृति है। इसके अतिरिक्त सिद्धांतों में विभिन्नता का दूसरा कारण विचारकों की विभिन्न भावनायें भी है। लेस्ली स्टीफेन ने लिखा है, "अन्य मनुष्यों की भांति दार्शनिकों की भी अपनी-अपनी भावनायें होती है।" राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों मे इन कारणों से विभिन्नता आ जाती है जो स्वाभाविक ही है।

कार्य कारण में सम्बन्ध—राजनीति शास्त्र में अन्य भौतिक शास्त्रों की भांति कार्य कारण में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। फिर भी घटना विशेष के कारणों के क्रम बद्ध अध्ययन से यह निश्चित हो चुका है कि कार्य कारण में सम्बन्ध रहता है। यह ठीक है कि मानव प्रकृति में अन्य भौतिक पदार्थों की भांति एक रूपता नहीं पाई जाती है फिर भी निश्चित कारणों पर उनकी निश्चित प्रतिक्रिया होती है। लार्ड ब्राइस ने इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है, "मानव-प्रकृति की प्रवृत्तियों में एक रूपता तथा समानता पाई जाती है, जिसकी सहायता से हम यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य बहुधा एक ही प्रकार के कार्य करता है। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा उन्हें शृंखला बद्ध करके सामान्यतया क्रियाशील प्रवृत्तियों के परिणाम रूप में उनका अध्ययन किया जा सकता है।"[1]

इस प्रकार प्रत्येक घटना का कुछ न कुछ कारण अवश्य रहता है और उसका पर्याप्त सीमा तक एक सा ही प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में शोषण की मात्रा बढ़ जाती है, निर्धनता और भ्रष्टाचार का बोल बाला होता है तो शीघ्र या देरी से अवश्य क्रांति होती है और समाजवादी सरकार स्थापित होती है। किसी देश में राजनीतिक असन्तोष हो या

1. There is constancy and uniformity in the tendencies of human nature which enable us to regard the acts of men at one time as due to the same causes which have governed their acts at previous times. Acts can be grouped and connected, can be arranged and studied as being the result of the same generally operative tendencies" —Lord Bryce : From his address as President of American Political Science Association 1909.

उसका कोई भाग अन्य राष्ट्र छीन लें तो वहां पर लोकतंत्र के स्थान पर तानाशाही के स्थापना की सम्भावना बनी रहती है। प्रथम महायुद्ध के बाद इटली और जर्मनी इसके उदाहरण है। भारत में मुगल काल में सम्राट अकबर ने राजशक्ति का सही रूप में प्रयोग किया अत: सभी जातियों ने उनके साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने में सहयोग दिया जब कि औरंगजेब द्वारा इसके विपरीत आचरण करने पर सभी ने विद्रोह कर दिया और इसके परिणाम स्वरूप मुगल साम्राज्य धराशयी हो गया। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि मानव व्यवहार शृंखलित, सम्बद्ध और नियमित हो क्योंकि मनुष्य विचारशील प्राणी है, अत: किसी समान घटना में सदा एकसा ही व्यवहार करना उसके लिए असम्भव है क्योंकि यह भी सम्भव है कि उस समय की अन्य परिस्थितियां उसे भिन्न दिशा में व्यवहार करने के लिए बाध्य कर दे अत: इस कारण से राजनीति शास्त्र को विज्ञान नहीं मानना सर्वथा अनुचित है।

(3) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव—

यह उचित है कि राजनीति शास्त्र में अन्य भौतिक विज्ञानों की भांति पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव नहीं है क्योंकि राज्य मनुष्य के विशिष्ट समूह का नाम है और मनुष्य को अन्य भौतिक पदार्थों की तरह निर्जीव सत्ता नहीं है। निर्जीव पदार्थ को निश्चित परिस्थितियों में रखने से निश्चित परिणाम निकलते हैं दो और दो मिलकर चार होते हैं। पानी को गर्म करने से भाप का रूप धारण करता है और शीतलता प्रदान करने पर बर्फ का रूप धारण करता है। यह नियम उन पर सर्वत्र और सर्वदा लागू होते हैं। ऐसा राजनीतिक तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाल लेना जो सर्वत्र और सर्वदा लागू हो सकें, संभव नहीं है। परन्तु इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण और परीक्षण हो ही नहीं सकते हैं, ठीक नहीं है। लोकतंत्र शासन के पर्यवेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस प्रकार की शासन प्रणाली में जनता अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति सजग रहती है। इसी तरह नये कानून द्वारा नई शासन व्यवस्था अपनाना एक प्रकार से राजनीतिक परीक्षण ही है। यद्यपि भौतिक शास्त्रों के लिए जैसे प्रयोगशाला होती है वैसी राजनीतिक शास्त्र में कोई प्रयोगशाला नहीं होती है फिर भी इसमें निरन्तर प्रयोग होते रहते हैं। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "यद्यपि सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों जैसी यथार्थता प्राप्त करना कठिन है तथापि सामाजिक समस्याएं उसी वैज्ञानिक ढंग से विचारी जा सकती है जैसा कि रसायन शास्त्र या भौतिक शास्त्र में।"[1] इस प्रकार राज-

1. "While we may agree that the exactness of the natural sciences is impossible of attainment in the social sciences, nevertheless social problems can be treated with the same scientific methods as chemistry or Physics. The result indeed may not be so accurate or so easily tested but as we shall see, the various subjects with which we deal present a systematised mass of material which is capable of being treated by ordinary scientific methods. We shall see that general laws can be deduced from given material and these laws are useful in actual problems of government." —Gilchrist

नीतिक शास्त्र में किये गये परीक्षण और परीक्षण के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निर्धारित किये जा सकते हैं। जो पूर्ण सत्य नहीं तो सम्भाव्य सत्य तो हो ही सकते हैं और सम्भाव्य सत्यों को मुनरो महोदय ने जीवन का पथ प्रदर्शक माना है।

4. नियमों में शुद्धता.—यह सत्य है कि राजनीति शास्त्र के नियमों में अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की भाँति शुद्धता एवं शाश्वतता नहीं होती है। परन्तु इसके लिये राजनीति शास्त्र नहीं अपितु मानव प्रकृति दोषी है। सोल्टाऊ ने लिखा है, "मानव सम्बन्धों के इस क्षेत्र में अंक गणित जैसे शुद्ध उत्तर प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि पहले तो आप पूर्णतः यह भी नहीं कह सकते कि किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में मनुष्य क्या करेगा और दूसरे कभी भी बार-बार एक-सी परिस्थितियां नहीं आती जिनमें एक-सी मानवीय स्थितियां उत्पन्न हो सकें।"[1] राज सत्ता द्वारा जनता पर अत्याचार करने से विद्रोह होता है परन्तु यह निश्चयात्मक नियम नहीं है। यह केवल मानव प्रकृति के सूचक मात्र हैं। इस नियम से यह नहीं जाना जा सकता है कि किस हद तक अत्याचार से किस रूप का विद्रोह होगा। कई बार अत्यधिक अत्याचार होने पर भी जनता उसे चुपचाप सहन करती रहती है और कई बार थोड़े से अत्याचार पर ही भयंकर विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य विचारशील प्राणी है अतः उसके विचार पर उसका व्यवहार निर्भर करता है। परन्तु जितनी बात यह सत्य है उतनी ही यह भी सत्य है कि मानव प्रकृति में स्थिरता और एकरूपता रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजनीतिक शास्त्र की वैज्ञानिकता के बारे में विवाद प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के मौलिक अन्तर पर आधारित है जो नियमों की निश्चितता, शाश्वतता पर्यवेक्षण व परीक्षणों के ढंग आदि के कारण पाया जाता है। अतः जो इसे विज्ञान नहीं मानते हैं वे इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की सी समानता ढूंढते हैं। परन्तु विद्वान् लेखक गार्नर द्वारा विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को विज्ञान कह सकते हैं, जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के द्वारा प्राप्त हुई हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये हुये हों।"[2] इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र विज्ञान की श्रेणी में आता है। अरस्तू ने भी इसे विज्ञान माना है। अन्त में, सर फ्रेडरिक पोलक के शब्दों में कह सकते हैं, "यदि उनका (अर्थात् राजनीति शास्त्र को विज्ञान में नहीं मानने वालों का) यह अभिप्राय है कि इसमें ऐसे नियम नहीं हैं, जिनमें एक प्रधान मंत्री बहुमत को अपनी ओर बनाये रखने के निश्चित

1. "In this sphere of human relationships mathematically accurate answers are unobtainable. For one thing, you cannot quite tell what man will do in any given circumstances, and for another, there are never two identical sets of circumstances creating identical human situations"

—Roger H. Soltav : An Introduction to Politics page 6.

2. "A Science may be described as a fairly, unified mass of knowledge relating to a particular subject acquired by systematic observation, experience, on study, the facts of which have been coordinated systematised and classified."

—Garner (Political Science and government p. 11-12)

उपाय जान सकें, तो उनका यह कहना तो ठीक होगा, परन्तु इससे विज्ञान क्या है, इसके सम्बन्ध में वे अपनी अपर्याप्त जानकारी का भी परिचय देंगे। राजनीति के विज्ञान का अस्तित्व उसी अर्थ में और लगभग उसी हद तक है जैसे, नैतिक विज्ञान का अस्तित्व है।"[1]

राजनीति शास्त्र कला भी है

राजनीति शास्त्र के विचारकों ने इसे कला भी कहा है। ब्लुंशली ने लिखा है, "राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का अधिक बोध होता है। राज्य का संचालन किस ढंग से हो, क्रियात्मक दृष्टि से वह कैसा व्यवहार करे, राजनीति में इन सब बातों का प्रतिपादन होता है।"[2] बकल ने लिखा है, "ज्ञान की वर्तमान स्थिति में, राजनीति विज्ञान की परिभाषा से तो दूर है ही, वह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई है।"[3] गैटिल ने लिखा है, "राजनीति की कला का उद्देश्य मनुष्य के क्रिया-कलापों से सम्बन्धित उन सिद्धान्तों एवं नियमों का निर्धारण करना है, जिन पर चलना राजनीतिक संस्थाओं के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है।"[4] राजनीति शास्त्र को कला के रूप में जानने से पूर्व कला का अर्थ समझना चाहिए। कला का अर्थ होता है जीवन का सर्वांगीण चित्रण। राजनीति शास्त्र में मनुष्य के राजनीतिक जीवन का सम्पूर्ण चित्रण रहता है, इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र को कला कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। साथ ही कला का अर्थ जीवन में ज्ञान का उपयोग भी होता है। राजनीति शास्त्र का भी ज्ञान केवल ज्ञान प्राप्त करने मात्र की दृष्टि से नहीं है अपितु यह अच्छे राज्य का निर्माण करने हेतु जीवन में प्रयोग के लिये है। इस कारण हम कह सकते हैं कि संगीत शास्त्र की भाँति राजनीति शास्त्र भी विज्ञान और कला दोनों है।

राजनीति-शास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ (Methods of Political Science)

राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता के प्रति भ्रम उत्पन्न होने के निम्नलिखित कारण हैं।

(1) इसके वैज्ञानिक अध्ययन में अनेक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि अन्य भौतिक विज्ञानों की भाँति इसके लिए प्रयोगशालाएं नहीं हैं।

---

1. "If they meant that there is no body of rules from which a Prime Minister may infalliably learn how to command majority, they would be right as to the fact, but would betray a rather in adequate notion of what science is. There is a science of politics in the same sense and to the same or about the same extent as there is science of morals." —Pollock (History of the Science of Politics P. 2)
2. "Politics is more of an art than a science and has to do with the practical conduct or guidance of State."
—Bluntshli (Quoted by Garner in his Political Science and government p 3)
3. "In the present State of knowledge, politics so far from being a science is one of the most backward of all arts." —Buckle (History of civilization Vol. I p 361)
4. "The art of Politics has for its aim the determination of the principles and rules of conduct which it is necessary to observe if political Institution are to be operated efficiently." —Gettell (Political Science p. 5)

(2) राजनीति शास्त्र की अध्ययन सामग्री मनुष्य एवं उसके द्वारा निर्मित संविधान, कानून आदि हैं। मनुष्य स्वभाव से परिवर्तनशील है अतः इसके द्वारा निर्मित कानूनों में भी अन्य भौतिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री जड़ पदार्थों की भाँति स्थिरता नहीं हो सकती है।

(3) मनुष्य के राजनीतिक जीवन पर मानवीय प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है जिनका नाप तोल नहीं हो सकता है।

(4) इसकी अध्ययन सामग्री मनुष्य होने के कारण अन्य जड़ पदार्थों के समान इसके अध्ययन में निष्पक्षता भी नहीं आ सकती है।

परन्तु राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता सिद्ध करते समय लिखा जा चुका है कि कुछ निश्चित क्रम का अध्ययन विज्ञान का रूप धारण कर लेता है। अतः अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन की वे कौनसी रीतियाँ एवं पद्धतियां हैं जिनके कारण उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति शास्त्र वैज्ञानिक अध्ययन के योग्य समझा जाने लगा है। राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के विकास में अगस्ट कास्टे, जॉन स्टुअर्ट मिल, एलेक्जेंडर बेन, सर जार्ज कार्नेवाल लेविस, लार्ड ब्राइस आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। कास्टे ने पर्यवेक्षण, प्रयोग एवं तुलना-तीन प्रमुख अध्ययन पद्धतियां बतलाई हैं। मिल ने प्रयोगात्मक, अमूर्त मूर्त और ऐतिहासिक-पद्धतियां बतलाई हैं। इनमें से प्रथम दो को वह गलत एवं अन्तिम दो को सही समझता है। ब्लुण्ट्शली राजनीति शास्त्र के अध्ययन की दार्शनिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियां मानता है। नवीन फ्रेंच लेखक देसलेन्ड्रे ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन की समाज शास्त्रीय, (Sociological) तुलनात्मक, (Comparative) हठधर्मितावादी (Dogmatic) न्याय सम्बन्धी (Judical) सद्भावना की रीति (Method of good Sense) एवं ऐतिहासिक (Historical) पद्धतियां मानी हैं।

आधुनिक काल में अधिकांश विद्वानों द्वारा राजनीति शास्त्र के अध्ययन की मुख्य रूप से निम्न लिखित अध्ययन पद्धतियाँ मानी जाती हैं।

1. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)
2. ऐतिहासिक पद्धति (Hitorical Method)
3. तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
4. पर्यवेक्षण पद्धति (Observation Method)
5. दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)

1. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—

राजनीति शास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति का समुचित स्थान नहीं है क्योंकि समाज की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें कृत्रिम ढंग से प्रयोग करना सम्भव नहीं है। लेविस ने लिखा है, "किसी अमूर्त सत्य का निश्चय करने के लिए समाज-संगठन की परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में हम स्वेच्छानुसार परिवर्तन नहीं ला सकते हैं। एक वैज्ञानिक रसायन के प्रयोगों में जो कुछ करता है, उसे हम राजनीति में नहीं कर सकते हैं। हम यह परीक्षा

नहीं कर सकते हैं कि किसी वस्तु पर तापमान में परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ता है, तरल द्रव्यों में विघटन का और रसायनिक द्रव्यों में संयोग आदि का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम समाज के एक भाग को अपने हाथ में लेकर, विविध सामाजिक समस्याओं का समाधान करने तथा अपनी जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिए, उसे विविध पहलुओं एवं स्थानों में नहीं देख सकते।"[1] लार्ड ब्राइस ने लिखा है, "भौतिक विज्ञानों में एक के पश्चात् दूसरा प्रयोग उस समय तक लगातार किया जा सकता है जब तक कि अन्तिम परिणाम न मिल जाय, परन्तु राजनीति शास्त्र में जिसे हम प्रयोग कहते हैं, उसे बार बार नहीं दोहरा सकते हैं, क्योंकि हम अवस्थाओं और स्थितियों को दोबारा पहले रूप में ठीक पैदा नहीं कर सकते हैं। भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी सत्य हो सकती है परन्तु राजनीति में केवल उसकी सम्भावना ही हो सकती है।.... ....जिन वस्तुओं पर एक रसायन-वैज्ञानिक कार्य करता है, वे सदैव समान होती हैं, उनका माप और वजन हो सकता है परन्तु मानव अवस्थाओं एवं स्थितियों का तो केवल वर्णन ही हो सकता है। हम ताप, शीत और वायु प्रवाह का माप कर सकते हैं, परन्तु हम निश्चय नहीं कर सकते कि एक जन समूह के मनोभाव कितने उग्र होते हैं। हम यह तो कह सकते हैं कि राजनीतिक संकट के समय मन्त्रि मंडल की राय का वजन होता है परन्तु वह कितना होगा, यह नहीं कहा जा सकता है। लोकमत, मनोभाव और दूसरी चीजें जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है, उनकी नाप तोल नहीं की जा सकती।"[2]

इस प्रकार भौतिक शास्त्रों के प्रयोगों की भांति राजनीति शास्त्र में प्रयोग नहीं किये जा सकते हैं फिर भी जाने अनजाने में व्यावहारिक परीक्षण तो होते ही रहते हैं। काम्टे के अनुसार राज्य में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन एक राजनीतिक प्रयोग होता है।"[3] गार्नर ने लिखा है, "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नई संस्था की स्थापना तथा प्रत्येक नई नीति का प्रारम्भ एक प्रकार से प्रयोग ही होता है, क्योंकि उस समय तक वह केवल अस्थायी अथवा प्रस्ताव रूप में ही समझा जाता है जब तक परिणाम उसको स्थायी होने की योग्यता को सिद्ध न कर दे।"[4] अतः राजनीति के विद्यार्थी के लिए समस्त संसार ही एक प्रयोगशाला है और वह राजनैतिक परिवर्तनों के आधार पर सदैव प्रयोग करता रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी में समाजवाद के प्रारम्भ में राबर्ट ओवन ने न्यू हार्मनी (अमेरिका) में समाजवादी समाज की स्थापना करने का प्रयोग किया जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। विभिन्न राजनैतिक दल जब अपने बहुमत पर सरकार स्थापित करने का अवसर प्राप्त करते है तो अपने आदर्शों के अनुसार कानून बनाते हैं और नये प्रयोग करते हैं।

1. Sir George C. Lewis: Methods of observation and Reasoning in Politics Vol I pp 164–165.
2. Lord Bryce: Modern Democracies Vol I p. 14.
3. Agust Comte: Positive Philosophy Vol II p 83.
4. "The enactment of every new law, the establishment of every new institution, the inauguration of every new policy is experimental in the sense that it is regarded merely as provisional or tentative until the results have proved its fitness to be come permanent" —Garner: Political Science and government p. 19.

वे पिछले अनुभव और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करते रहते हैं। 1839 की डरहम की रिपोर्ट पर कनाडा को दिया गया उत्तरदायी स्वायत्त शासन और भारत में किये गये वैधानिक सुधार और वैधानिक ढंग से दी गई स्वतन्त्रता इसके प्रमाण हैं। 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट में बम्बई को द्विभाषी राज्य रखने की सिफारिश की गई परन्तु एक भाषी एक राज्य की मांग ने बल पकड़कर बम्बई को महाराष्ट्र और गुजरात ब्लाक दो राज्यों में बांटने के लिए बाध्य किया। बाल विवाह सम्बन्धी 1929 का शारदा कानून, दहेज प्रथा पर प्रतिबंध लगाने सम्बन्धी कानून बन जाने पर भी उनके व्यावहारिक पालन में सफलता नहीं मिली है। सामुदायिक विकास योजना, पंचायती राज, साक्षरता आन्दोलन, सहकारी कृषि आदि में जनता का पूर्ण उत्साह नहीं होने से आंशिक सफलता ही मिली है जबकि छूआछूत, परिवार नियोजन में कुछ हद तक सफलता मिली है।

राज्य जीवन के प्रत्येक कार्य प्रयोग ही हैं। लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि अमेरिकन संघ प्रणाली की एक विशेषता यह है कि वह नियम निर्माण में जनता को एक ऐसा प्रयोग करने का सुअवसर प्रदान करती है जो एक विशाल एक तंत्रीय राज्य में सम्भव नहीं। किसी नवीन कानून या नई नीति के प्रयोग काल में अनुभव द्वारा जो त्रुटियां प्रतीत होती हैं, उनका निवारण व्यवस्थापिका सभा में उस नियम, कानून या नीति में संशोधन करके उसे समाज की आवश्यकता एवं आकांक्षा के अनुकूल बनाया जा सकता है। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में निरन्तर प्रयोग होते रहते हैं।

तुलनात्मक पद्धति

इस पद्धति का प्रयोग प्राचीन काल में अरस्तू ने किया था। इस पद्धति के मुख्य समर्थक हैं—माटेस्क्यू डिटाकविल, ब्राईस आदि। इस पद्धति के मतानुसार विभिन्न उनके संगठन, उनकी नीतियों उनके कार्यकलापों आदि के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राजनैतिक सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं।

बेन ने तुलनात्मक विधि के निम्नलिखित मुख्य साधन बतलाये हैं।

(क) भेद पद्धति के आधार पर ऐसे दो राज्यों की तुलना की जा सकती है जिनके कुछ अंगों को छोड़कर अन्य सभी पदों में समानता हो। परन्तु ऐसे समान राज्यों में एक व्यापारिक सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगाता है। अतः ऐसे राज्यों में से एक अधिक समृद्ध है तो इससे व्यापारिक नीतियों का राष्ट्र की समृद्धि पर प्रभाव मालूम हो सकता है।

(ख) समझौता प्रणाली के अनुसार केवल दो राज्यों की तुलना की जा सकती है। इसमें केवल दो अंगों में समानता होनी चाहिए और अन्य पक्षों में कोई समानता नहीं हो। उदाहरण के लिए दो राष्ट्रों अथवा राज्यों में व्यापार सम्बन्धी संरक्षण की नीति का पालन होता है। वे दोनों ही समान है तो इस पद्धति के अनुसार देश की समृद्धि और व्यापारिक संरक्षणों में एक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

(ग) अपरोक्ष भेद विधि के अनुसार जब दो राज्यों में एक अंग की समानता के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग में कोई समानता नहीं हो। इसके अन्तर्गत एक व्यापारिक

संरक्षण के समर्थक राज्य के तुलना मुक्त व्यापार की नीतिवाले देशों से की जा सकती है।

डाक्टर गार्नर ने लिखा है, "इस प्रणाली का उद्देश्य वर्तमान तथा प्राचीन राज्यों और राजनैतिक संस्थाओं का अध्ययन करके एक सुनिश्चित विचार सामग्री को एकत्रित करना है जिसमें अनुसन्धान कर्ता तुलना करके आवश्यक सामग्री को लेकर तथा अनावश्यक सामग्री को छोड़कर राजनैतिक इतिहास की प्रगतिशील शक्तियों तथा आदर्शों को मालूम कर सके। उन राज्यों और राजनैतिक संस्थाओं का ही ठीक रीति से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है जो एक ही युग की हों, जिनका सामान्य ऐतिहासिक आधार हो और जिनकी सामान्य ऐतिहासिक, राजनैतिक और सामाजिक संस्थाएं हो।"[1] फ्रेंच लेखक सेलिले (Saleilles) के अनुसार तुलनात्मक प्रणाली उस सामान्य तरंग (General Current) की खोजती है जो समस्त शासन-विधानों से होकर गुजरती है और जिस पर अनुभव ने अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है, "इस पद्धति को वैज्ञानिक कहलाने का अधिकार है इस कारण है कि यह विभिन्न देशों की संस्थाओं की तुलना करने में उन विक्षेप डालने वाले प्रभावों को छोड़ देती है जो किसी देश मे हैं और किसी में नहीं हैं और जिनके कारण परिणाम कुछ बातों में समान और कुछ में भिन्न होते हैं और इस प्रकार यह समान घटनाओं के समान कारण बतलाते हुए सामान्य निष्कर्ष निकालती है। जब इस विधि से प्रजातंत्रीय शासनों के कार्यों के अंतर देखे जाते हैं तो स्थानीय या विशिष्ट, शारीरिक, जातीय अथवा आर्थिक अवस्थाओं की परीक्षा की जाती है जिससे यह मालूम हो सके कि अंतर इन्हीं विभिन्नताओं के कारण है या अन्य किन्हीं कारणों से। यदि अन्तर उनके कारण नहीं हो तो हमें संस्थाओं की परीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कौनसी संस्थाओं ने सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शासन के कौन से रूप से हमें अधिक से अधिक सफलता मिलने की आशा हो सकती है। विभिन्न लोक प्रिय सरकारों के अन्तरों के कारण मालूम हो जाने के बाद जो समानताएं रह जायेंगी, उनको समष्टि रूप से लोकतंत्रीय मानव प्रकृति का नाम दे सकते हैं अर्थात् यह कह सकते हैं कि प्रजातन्त्र के नागरिकों और प्रजातन्त्रीय समाज की यही सामान्य अथवा स्थायी आदर्श एवं प्रवृत्तियां हैं।"[2]

अरस्तू ने 158 देशों की शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि आर्थिक असमानता क्रांति की जननी है। प्रत्येक राज्य के समक्ष आन्तरिक

1. "The comparative Method aims through the study of existing politics or those who have existed in the past to assemble a definite body of material from which the investigator by selection, comparison and elimination may discover the ideal types and progressive forces of Political history. Only those states which are contemporaneous in point of time as Jellinek remarks, and which have a common historical, basis (Bodin) and common historical, political and social institution may be compared with advantage." —Dr. Garner : Political Science and Government. (1955) p 21.
2. Lord : Bryce Modern Democracies Vol I p. 18.

पर अधिक ध्यान रखती है कि उनका भूत कालीन स्वरूप क्या था और वर्तमान स्वरूप कैसे बना।"[1] प्रो. गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "राजनीति शास्त्र के प्रयोगों का स्रोत इतिहास है, वे पर्यवेक्षण तथा अनुभवों पर स्थित है। सरकार के स्वरूप में प्रत्येक परिवर्तन, प्रत्येक पास किया हुआ कानून, प्रत्येक युद्ध राजनीति शास्त्र में एक प्रयोग ही है।"[2]

जेलिनेक ने लिखा है, "राजनीतिक-संस्थाओं का सम्पूर्ण ज्ञान उनके अतीत के इतिहास द्वारा ही सम्भव है अर्थात् उनका विकास कैसे हुआ, उन्होंने अपना ऐसा विकास कैसे किया और वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफल हुई हैं।"[3] ब्राइस ने लिखा है, "ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा हम राजनैतिक विकास के नियमों का निश्चय कर सकते हैं और उनके आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं।"[4]

डाक्टर गार्नर ने लिखा है, "तुलनात्मक प्रणाली के एक रूप-विशेष का न्याय ऐतिहासिक प्रणाली है क्योंकि राज्य विज्ञान के लिए प्राचीन राज्य संस्थाओं एवं राज्य प्रणालियों का तनिक भी मूल्य नहीं होता जब तक उनका तुलनात्मक अध्ययन न हो।" अत: हमें इस प्रणाली के प्रयोग करने में भी विशेष सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि—

(1) पूर्व कल्पित धारणाओं, विश्वास और ऐतिहासिक समानताओं से गलत परिणाम निकल सकते हैं।

(2) इस पद्धति से तथ्यों का संकलन मात्र हो सकता है जो बिना तार्किक मस्तिष्क प्रयुक्त किये लाभदायक नहीं हो सकता है क्योंकि इतिहास में तो घटना मात्र का वर्णन रहता है उसके गुण दोषों का नहीं। सीले ने लिखा है कि हमें विचार करना चाहिए, तर्क करना चाहिए और सामान्यीकरण करना चाहिए, परिभाषा करनी चाहिए तथा भेद करना चाहिए। हमें तथ्यों का संग्रह करना चाहिए, उनकी प्रमाणिकता के सम्बन्ध में जाँच एवं परीक्षा करनी चाहिए। यदि हम पहली विधि की अवहेलना करें तो हमारा तथ्यों का संग्रह व्यर्थ होगा, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसी कसौटी नहीं होगी जिसके द्वारा हम महत्वपूर्ण तथ्यों को अमहत्वपूर्ण तथ्यों से अलग कर सकें और यदि हम दूसरी विधि की अपेक्षा करें तो हमारे तर्क निराधार होंगे, हम केवल पाण्डित्यपूर्ण जाल ही बुन सकेंगे।[5]

(3) एक ही घटना के सम्बन्ध में विभिन्न लोग विभिन्न विचार रखते हैं। भूतकाल की घटनाओं पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है। कुछ की दृष्टि में अकबर महान्

1. "The historical method seeks an explanation of what institutions are and are tending to be, more in the knowledge of what they have been and how they have been and how they came to what they are, than in the analysis of them as they stand." —Sir Fredrick Pollock
2. "The source of experimentes of Political Science is history, they rest on observations and experience every change in the form of Government, every law passed, every war is an experiment in Political Science." —Prof. Gilchrist
3. Jellinek quoted by Dr Garner in Political Science and Government.
4. Lord Bryce : Modern Democracies Vol I p 15.
5. Seeley : Introduction to Political Science p 19.

राष्ट्रीय एकता का आदि दूत जैसे कि आज राजनीतिज्ञ मानते हैं जिसने मुगल साम्राज्य की नींव दृढ़ करने का ढोंग रचा था। अतः ऐतिहासिक विवेचन तभी सही हो सकता है जबकि किसी घटना के प्रति निजी विचारों से ऊपर उठकर एक द्रष्टा के रूप में उसका विवेचन करें।

(4) वर्तमान और भविष्य का निर्धारण केवल भूत के आधार पर ही नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं और प्रत्येक समस्या का हल उस समय के अनुरूप ही होना चाहिए, जिसमें वह उत्पन्न होती है।

(5) अर्थ की समानता के विरुद्ध चेतावनी देते हुए लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि ऐतिहासिक तुलनाएं बहुत ही मनोरंजक और प्रकाश डालने वाली होती हैं परन्तु वे प्रायः भ्रांति मूलक भी होती हैं। ऐसी तुलनाओं में सदैव यह खतरा रहता है कि सामान्य कारणों के साथ वैयक्तिक अथवा आकस्मिक कारण मिल जाते हैं उदाहरणार्थ किसी भी देश के निर्माण में किसी प्रमुख व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्व दे देना। ऐतिहासिक अनुसंधान कर्ता का भावुकता से प्रभावित होने का सदा डर बना रहता है। इस प्रकार का प्रभाव एक रासायनिक प्रयोगकर्ता पर नहीं पड़ता। उसे हाइड्रोजन से न प्रेम ही होता है और न ग्लानि ही परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान कर्ता पर उसके धार्मिक विचारों, राजनीतिक पक्षपात, जातीय भेद-भावों अथवा उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का जाने या अनजाने प्रभाव पड़ता रहता है।

(4) पर्यवेक्षण पद्धति—इस पद्धति के समर्थक प्लेटो, अरस्तू, मांटेस्क्यू, लार्ड ब्राइस आदि हैं। लावेल ने इस पद्धति का समर्थन करते हुए लिखा है, "राजनीति अवलोकन का विज्ञान है प्रयोग अथवा परीक्षण का नहीं।...... राजनैतिक संस्थाओं की वास्तविक प्रक्रिया की मुख्य प्रयोगशाला पुस्तकालय नहीं अपितु राजनैतिक जीवन सम्बन्धी बाह्य जगत है।"[1] प्लेटो ने एशिया माइनर से लेकर दक्षिणी इटली तक के सभी देशों का अध्ययन की दृष्टि से भ्रमण किया। अतः उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर अन्य देशों की छाप स्पष्ट दिखलाई देती है। अरस्तू ने अन्य अनेक देशों का भ्रमण किया परन्तु नगर राज्यों की व्यवस्था ही उसे श्रेष्ठ लगी। फ्रांस के मांटेस्क्यू को अपने देश की अपेक्षा ब्रिटेन की शासन व्यवस्था पसन्द आई थी। लार्ड ब्राइस ने अपने ग्रंथों की रचना करने से पूर्व सम्बन्धित देशों का भ्रमण किया, वहाँ के नेताओं से बातचीत की तथा वहाँ शासन विधियों का निरीक्षण किया। उसने इस पद्धति की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "इसका सीधा सम्बन्ध वास्तविकताओं से रहता है और इसके विरुद्ध यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि यह मात्र सूक्ष्म और सिद्धान्त वादी है।"[2]

1. "Politics is an observational and not an experimental science.. .... The main laboratory for the actual working of political institutions is not a library but the outside world of Political life." —Lowell : The Physiology of Politics; American Political Science Review. Vol IV p 8
2. "It is in living touch with facts and is free from the charge of being abstract and doctrinaire." —Lord Bryce.

यह पद्धति अत्यन्त उपयोगी है परन्तु इसे प्रयुक्त करने में सावधानी भी बरतनी चाहिए। लार्ड ब्राइस ने कहा है, "राजनैतिक पर्यवेक्षण को अपना अध्ययन केवल एक देश तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। उसे अपना क्षेत्र व्यापक बनाकर समस्त देशों को अपने अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। मानव प्रकृति के मूल तत्व सब स्थानों पर समान हैं, परन्तु राजनैतिक परम्पराएं, स्वभाव और विचार सब स्थानों में भिन्न-भिन्न हैं। राजनैतिक पर्यवेक्षक को ऊपरी समानताओं तथा घातक एकरूपताओं से सावधान रहना चाहिए। उसे ऐसे सामान्य सिद्धान्त स्थिर नहीं करने चाहिए, जिनका आधार तथ्यों पर न हो। उसे जिन साधनों से ज्ञान मिले, उनके सम्बन्ध में काफी जांच करनी चाहिए और उसे सामान्य कारणों से व्यक्तिगत एवं आकस्मिक कारणों को अलग करना चाहिए।" लार्ड ब्राइस ने आगे कहा है, "इसकी प्रथम आवश्यकता तथ्यों को प्राप्त करने की है। यह निश्चय कर लो कि वह सत्य है, प्रामाणिक है, उसे स्पष्ट करलो, फिर उसे सुन्दर रूप देने का प्रयास करो जिससे वह रत्नों की भांति जगमगावे। उसका अन्य तथ्यों से सम्बन्ध स्थापित करो। उस सम्बन्ध में उस तथ्य की भली-भांति परीक्षा करो क्योंकि इसी में उसका मूल्य है। अकेले उसका कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार उसे हार का एक हीरा, अपने भवन की एक शिला या यों कहो कि आधार शिला बना दो।"[1] इससे स्पष्ट है कि इस पद्धति की कुछ सीमाएं हैं।

1. सभी पर्यवेक्षणकर्ताओं को पर्यवेक्षण का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता है कि वे वहां जाकर पूरी तरह से वहां की शासन विधि का अन्वेषण कर सकें।

2. पर्यवेक्षण से प्राप्त सभी निष्कर्ष सही हों यह भी आवश्यक नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने भारत में आकर यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय संस्कृति विभिन्नताओं का मेल है जब कि वास्तविकता यह है कि इसकी मूल भित्ति एकता पर आधारित है।

5. दार्शनिक पद्धति—इस पद्धति का अनुसरण प्लेटो, रूसो, कांट, बोसांक्वे, सिजविक आदि ने मुख्य रूप से किया है। इस पद्धति के अनुसार मानव प्रकृति के आधार पर राज्य के स्वरूप एवं उसके उद्देश्यों की कल्पना की जाती है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है "इस पद्धति में तत्ववेत्ता जैसे रूसो, मिल और सिजविक मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में किसी अमूर्त मौलिक विचार को लेकर चलता है और उस विचार से वह राज्य के स्वरूप, उद्देश्य, कार्यों और उसके भविष्य के बारे में कुछ निष्कर्षों पर पहुंचता है। फिर इसके

1. "The first desideratum for a political science was to get the fact and then make sure of it. Get it perfectly clear. Polish it till it sparkles and shines like a gem. Then connect it with others facts. Examine it in its relation to them for in that lies, its worth and its significance. It is of little use alone So make it a diamond in the necklace, a stone, perhaps a corner stone in good building." —Lord Bryce's Presidential Address: American Political Science Review Vol III p. 10.

पश्चात् वह इन सिद्धान्तों का इतिहास के तथ्यों से मेल स्थापित करता है।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि इस पद्धति के अध्ययन का आधार किसी घटना विशेष को नहीं बनाया जा सकता है। इस पद्धति के अनुसार पहले विचारक राज्य के आदर्श स्वरूप की कल्पना कर लेता है। उसके बाद वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए साधनों को निर्धारित करता है।

इस पद्धति के द्वारा जहां समाज को नये विचार मिलते हैं और मनुष्यों को अपनी भावनाओं के अनुसार संस्थाओं के पुनर्निर्माण की प्रवृत्ति मिलती है वहां इसमें अनेक दोष भी हैं कि विचारक कल्पना की इतनी उड़ान भर लेते हैं कि वे वास्तविकता से बहुत दूर निकल जाते हैं।

प्लेटो ने अपने ग्रंथ रिपब्लिक (Republic) और सर थामस मोर ने यूटोपिया (Utopia) में ऐसे आदर्श राज्यों की कल्पना की है जो इतिहास तथा मानव प्रकृति से भिन्न है तथा व्यावहारिकता से बहुत दूर है। सीले ने लिखा है कि इस पद्धति द्वारा 'जो है और जो होना चाहिए' अर्थात् यथार्थ और आदर्श का भेद नहीं किया जा सकता है। ब्लुंशली ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि यह पद्धति कोरी सैद्धान्तिक रह जाती है जिसका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। व्यवहार में यह खतरनाक सिद्ध होती है जैसा कि फ्रांस को क्रांति के समय हुआ, जबकि रूसो आदि दार्शनिकों के अनुयायियों ने किसी ठीक बात की ओर भी ध्यान नहीं दिया और समानता, स्वतंत्रता तथा बन्धुता के जयकारों की आड़ में अन्य देशों में भी क्रांति करवाने की ठान ली और अपने देश में हजारों व्यक्तियों का खून बहाया। इस प्रकार रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में हुआ जहां कि साम्यवाद के उग्र सिद्धान्तों ने सरकार का तख्ता उलट दिया और हजारों व्यक्तियों का खून बहा।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि राजनीति शास्त्र के लिए किसी एक ही पद्धति से कार्य नहीं चलाया जा सकता है। प्रथम तो प्रत्येक पद्धति की अपनी सीमाएं हैं अर्थात् कोई भी एक पद्धति निर्दोष और परिपूर्ण नहीं है जिसके सहारे राजनीति शास्त्र का अध्ययन पूर्णरूप से हो सके। दूसरा, राजनीति शास्त्र का क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत हो गया है जिसमें एक पद्धति से कार्य करना कठिन है। अतः सभी पद्धतियों के पारस्परिक मेल पर यह कार्य करना चाहिए। प्रो. गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "सच्चे इतिहासवेत्ता को दर्शन शास्त्र का महत्व समझना चाहिए और एक सच्चे तत्त्ववेत्ता को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोगों तथा प्रत्यक्ष तत्त्वों को आदर्शों के प्रकाश से चमकाना चाहिए। इसलिए सबसे उत्तम पद्धति में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विधियों का

1. "The truly philosophical deductive or apriori method of which Roussau, Mill and Sidgwick are exponents, starts from some abstract original idea about human nature and draws deductions from that idea as to the state, its aim its functions *and its future. It then attempts to harmonise its theories with the actual facts of* history." —Prof. Gilchrist.

सम्मिश्रण होना जरूरी है। अरस्तू तथा बर्क इस पद्धति के समर्थक है।"[1] डा. मैकफर्सन ने सैद्धान्तिक आधारों पर बल देते हुए लिखा है," ग्रेट ब्रिटेन में शुद्ध अव्यावहारिक प्रयोगों को कम महत्व दिया जाता है और राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों का परीक्षण इस दृष्टि से करने की प्रवृत्ति अधिक है कि इनसे कौनसा उद्देश्य सिद्ध होता है और कौनसा होना चाहिए। ब्रिटेन के राजनीतिक शास्त्री नई प्रविधियों के पीछे अधिक परेशान नहीं होते। उस देश में 'मूल्यांकन प्राप्त निष्कर्षों का मान है और वास्तविकताओं से अलग शुद्ध प्रयोगात्मक शैली पर स्पष्ट अविश्वास झलकता है।" प्रो. हैलोवेल ने लिखा है, "सामाजिक शास्त्रों को नई शोध प्रविधियों की इतनी जरूरत नहीं है जैसा कुछ लोग समझते हैं। परन्तु इन्हें ऐसे विश्वासों की जरूरत अवश्य है जो तर्क सगत सिद्धान्तों पर आधारित हों।"[2] राजनीति शास्त्र के विद्वानों द्वारा इन सभी पद्धतियों के सामंजस्य तथा प्रयोग से राजनीति विज्ञान का अध्ययन किया जाता है अतः यह कथा पूर्णतया सही है कि "राजनीति विज्ञान प्रयोगात्मक विज्ञान है और इसलिए दूसरे विज्ञानों की भांति प्रगतिशील विज्ञान है।"[3]

---

1. "The genuine historian must recognise the value of philosophy and the true philosopher must equally take the counsel of history. The experience and phenomena of history must be illumined with the light of ideas. The best method thus arises out of the blending of the philosophical and the historical methods. Aristotle and Burke were able exponents of this method." — Prof. Gilchrist
2. The social Sciences are not so much in need of new research techniques as some suppose, but of convictions as based upon rational principles."
   —J. H. Hallowell (Main currents Modern Political thought.
3. "The Science of Politics is an experiment science and therefore like all sciences it is a progressive sciences."

अध्याय 2

राजनीति शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध

(Relationship between Political Science & other Social Science)

•

1. राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र
2. राजनीति शास्त्र और इतिहास
3. राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र
4. राजनीति शास्त्र और नीति शास्त्र
5. राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान
6. राजनीति शास्त्र और भूगोल
7. राजनीति शास्त्र और धर्म
8. राजनीति शास्त्र और लोक प्रशासन

राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के राजनैतिक जीवन के क्रिया कलापों से है। न्य सामाजिक शास्त्र मनुष्य के जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन करते हैं। नव जीवन के सभी पहलू एक दूसरे के निकटस्थ हैं अतः समाज शास्त्रों में भी परस्पर म्बन्ध होना आवश्यक है। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे से पृथक नहीं या जा सकता है अतः राजनीति शास्त्र का अध्ययन करते समय हमारे लिए अन्य सामाजिक विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना प्रायः अनिवार्य नहीं तो सहायक अवश्य होता है। वस्तुतः विभिन्न सामाजिक विज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के पूरक हैं। पॉल नेट ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "राजनीति शास्त्र का अनेक विज्ञानों से निकट म्बन्ध है; यथा राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा सम्पत्ति विज्ञान से, कानून से जो चाहे प्राकृतिक हो या मनुष्यकृत, जिसका सम्बन्ध नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध से है, इतिहास से जो उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है, दर्शन शास्त्र से और विशेष कर आचार शास्त्र से जिससे राजनीति शास्त्र को कुछ सिद्धान्त मिलते हैं।"[1] रोगर एच सोल्टाऊ ने लिखा है, "राजनीति शास्त्र के उचित अध्ययन के लिए अन्य विज्ञानों अथवा ज्ञान की अन्य शाखाओं की सहायता आवश्यक है। सर्वप्रथम, उसके लिए इतिहास की सहायता की आवश्यकता है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि कुछ लेखकों के लिए इतिहास केवल उस विषय का अतीत है, जिसका वर्तमान राजनीति शास्त्र है।... ....अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि मानव स्वभाव के विश्लेषण हेतु मनोविज्ञान की आवश्यकता है।... ....दर्शन नीति शास्त्र तथा धर्म की सहायता भी राजनीति शास्त्र के लिए आवश्यक है ताकि उनके मापदंडों के अनुसार राजनैतिक कार्य हो सकें।...........आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप तथा सामूहिक समृद्धि की व्यवस्थाओं को समझने के हेतु इसके लिए अर्थ शास्त्र की सहायता की भी पूरी आवश्यकता है।" जेलीनेक आदि अन्य विद्वानों के अनुसार मनोविज्ञान, जीव विज्ञान (Biology) आदि का भी राजनीति शास्त्र के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ विद्वान तो भूगोल आदि भौतिक विज्ञानों के साथ भी इसका सम्बन्ध मानते हैं। सिजविक ने लिखा है कि प्रत्येक विज्ञान एवं ज्ञान के लिए यह बात उपयुक्त है कि वह दूसरे विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित करे और इसका निर्णय करे कि उन विज्ञानों के तर्क के कौन-कौन से तत्व उनसे अपने लिए ग्रहण करना उपयोगी होगा और वह स्वयं उन्हें क्या दे सकेगा। राजनीति शास्त्र को अपने लक्ष्य

1. Political Science is closely connected with political economy or the science of wealth, with law, whether natural or positive which occupies principally with the relations of citizens to another, with History, which furnishes the facts of which it has need, with philosophy and especially with morals which gives to a part of its principles." —Paul Janet.

प्राप्ति के लिए अन्य सामाजिक विज्ञानों से पूरक के रूप में सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होता है।

गार्नर ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि "हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथावत् ज्ञान प्राप्त किए बिना राज्य-विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यंत्र-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के बिना जीव-विज्ञान का यथावत ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।"[1] अतः राजनीति-शास्त्र का अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये अन्य सामाजिक विज्ञानों से आवश्यक सहायता प्राप्त करना एक स्वाभाविक बात हो जाती है। यही कारण है कि राजनीति शास्त्र उन समस्त सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित हैं जो सभ्य समाज में मानव का अध्ययन करते हैं।

राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र
(Political Science and sociology)

मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से समाज बनता है। यह सामाजिकता मनुष्य के विविध रूपों में प्रकट होती है। जो शास्त्र मनुष्य की इस सामाजिकता का अध्ययन करता है उसे समाज शास्त्र कहा जाता है। राजनीति आदि अन्य शास्त्र मनुष्य की सामाजिकता के किसी पहलू विशेष का अध्ययन करते हैं जबकि समाज शास्त्र मनुष्य की सम्पूर्ण सामाजिकता का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र को सब सामाजिक विज्ञानों का मूल अथवा जननी कहा गया है। फेयरबैंक्स ने लिखा है, "समाज शास्त्र में सभी सामाजिक शास्त्र समाहित हैं, यह एक पृथक विज्ञान नहीं है बल्कि ज्ञान का भंडार है जिसमें अनेक शास्त्रों का समावेश है।"[2] अतः समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र में सम्बन्ध—यह दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। राजनीति शास्त्र राज्य से सम्बन्धित समाज का अध्ययन करता है। राजनैतिक समस्याओं और घटनाओं के कुछ नियमों का सामाजिक व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है तथा समाज शास्त्र इसका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार राज्य पर भी सामाजिक सम्बन्धों व्यवहारों, प्रवृत्तियों आदि का प्रभाव पड़ता है जिसे राजनीतिज्ञ समाज शास्त्र की सहायता से जानते हैं। समाज राज्य को उत्पन्न करता है तथा राज्य अपनी व्यवस्था से समाज में परिवर्तन उपस्थित करता है। गार्नर इसका समर्थन करते हुए लिखते है, "राजनीतिज्ञता, सामा-

1. We can no more understand Political Science as the science of the totality of state phenomena, without a knowledge of the allied science or disciplines than we can comprehend biology without chemistry or mechanics without mathematics."
—Garner.

2. "Sociology, defined as the social phenomena include all of these social sciences (that is, economics, politics, history etc.) but in this general use of the term it is not a distinct science but rather a name for a body of knowledge, including Social Sciences. The more definite shere of Sociolgy as a science is indicated where we recognise that each of the science dealing with the social phenomena involves a theory as to the nature of society."
—A. Fairbanks.

जिकता में गड़ी हुई है और यदि राजनीति-विज्ञान समाज शास्त्र से भिन्न रह जाता हैं तो इसका कारण विशेषज्ञ के लिए क्षेत्र का विस्तार होगा, न कि इस कारण की उसे समाज शास्त्र से पृथक करने के लिए किसी, प्रकार की निश्चित सीमाएं हैं।"[1]

समाज शास्त्र राजनीतिक शास्त्र का पूर्वगामी—बोर्नेस ने लिखा है कि "मनुष्य अपने जीवन का निन्यानवे प्रतिशत भाग तो राज्य-संस्था के उदय होने से पूर्व ही व्यतीत कर चुका था। रेट्जन हॉफर (Ratezn hofer) ने इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है कि वह (राज्य) अपनी प्रारम्भिक स्थिति में एक राजनीतिक संस्था की अपेक्षा सामाजिक संस्था ही अधिक होता है। यह वास्तव में सत्य ही है कि राजनीतिक तथ्यों का आधार सामाजिक तथ्यों में है और यदि राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र से भिन्न है तो वह इसी कारण है कि उसके विस्तृत क्षेत्र के समुचित विवेचन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, इस कारण नहीं कि राजनीति शास्त्र तथा समाज शास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित विभाजक रेखा है।"[2] इससे स्पष्ट है कि समाज शास्त्र राजनीति शास्त्र का जन्मदाता है। इतना ही नहीं समाज शास्त्र मानव जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं का अध्ययन करता है जिनमे से राजनैतिक पहलू भी एक है। इससे स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र का ही एक अंग है। अतः राजनीति शास्त्र के समुचित अध्ययन के लिए समाज शास्त्र की पूर्व जानकारी आवश्यक है। गिडिंग्स ने लिखा है, "समाज के मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति को राज्य के सिद्धान्त पढ़ाना उसी प्रकार है, जिस प्रकार उन लोगों को, जिन लोगों ने न्यूटनके गति के सिद्धान्तों को नहीं सीखा है, उन्हें खगोल विद्या या उष्म विज्ञान पढ़ाना है।"[3]

अन्तर:—राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र में गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक नहीं है। दोनों का क्षेत्र पृथक पृथक है। प्रो. गिडिंग्स ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, "आधुनिक काल में राजनीति शास्त्र ने जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण कदम उठाया है, वह यह है कि उसने मालूम कर लिया है कि उसके अध्ययन के क्षेत्र की सीमा वही नहीं है जो समाज के अध्ययन के क्षेत्र की है और दोनों के क्षेत्र अलग किये जा

1. "Politics is embedded in social and if Political science remains distinct from sociology, it will be beacause the breadth of the fields calls for the specialist and not because there are any well defined bo undaries making it off from sociology."
—Garner.
2. "The state is a sociological as well as a political phenomenon and during its early stages, as Ratzenhofer pointed out, it is in fact more of a social than a political institution As has been well said, the political is embedded in the social and if Political Science remains distinct from sociology, it will be beacuse the breadth of the field calls for tnespecialist and not because there are any well defined boundaries making it from sociology."
—Ross : Foundation of sociology; p. 22.
3. "To teach the theory of state to man who have not learned the first principle of sociology, is like teaching astronomy or thermoidynamics to a man who has not learned Newtonian laws of motion."
—F. H. Gidding: Principles of sociology. p. 37.

सकते हैं। समाज शास्त्र मुख्यतया समाज के अध्ययन और राजनीति शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, विकास तथा आधुनिक रूप से सम्बन्धित है।" डाक्टर गार्नर ने लिखा है, "राज्य की स्थापना से पूर्व मानव समाज की संस्थाओं और उसके जीवन का अध्ययन इतिहास एवं समाज शास्त्र का विषय है। राजनीति शास्त्र का समाज संगठन के केवल एक रूप से संबंध है और वह है राज्य। समाज शास्त्र मानव समाज की सब संस्थाओं से सम्पर्क रखता है। राजनीति शास्त्र मानव को एक राजनीतिक प्राणी मानकर अपना काम आरम्भ करता है। वह समाज शास्त्र की तरह इस बात की व्याख्या नहीं करता कि वह क्यों और कैसे राजनीतिक प्राणी बन गया।"[1]

गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "समाज शास्त्र समाज का विज्ञान है राजनीति शास्त्र राज्य अथवा राजनीतिक समाज का विज्ञान है। समाज शास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और चूंकि राजनीतिक संगठन एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन है इसलिए राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट शास्त्र है।"[2] क्रेनबर्ग ने लिखा है, "जबकि समाज शास्त्र में विभिन्न वर्गों और संघों का विवेचन होता है, राजनीति शास्त्र में एक विशेष संघ अर्थात् राज्य का विवेचन होता है।"[3] समाज शास्त्र मानव जाति के संगठित और असंगठित दोनों रूपों का अध्ययन करता है। समाज की सम्पूर्ण घटनाएं समाज शास्त्र के अन्तर्गत आ जाती है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "समाज शास्त्र समाज की आधार भूत घटनाओं का अध्ययन करता है।"[4] राजनीति शास्त्र समाज के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत राज्य के गठन से पूर्व समाज का अध्ययन नहीं किया जाता है। गार्नर ने लिखा है, "हम समाज शास्त्र में व्यक्ति का केवल एक प्राणी अथवा चेतन सत्ता की तरह ही नहीं, बल्कि एक पड़ोसी, एक नागरिक एक सहकर्मी, अर्थात् एक सामाजिक जीव के रूप में अध्ययन करते हैं। राजनीति शास्त्र में अध्ययन का विषय राष्ट्र, जाति, परिवार आदि से भिन्न राज्य है यद्यपि वह उनसे असंबन्धित नहीं है। संक्षेप में, हम समाज के उस भाग का अध्ययन करते है जिसमें राजनीतिक चेतना

1. "The study of the life and Institutions of man prior to the establishment of the state, political science is content to leave to history and sociology. Political science is concerned with only one form of human association, the state; sociology deals with all forms of association. Political Science assumes to start with the fact that man is a political being, it does not attempt to explain, as sociology does, how and why he became a political animal."

—Dr. Garner Political Science and Government. (1955) p. 28.

2. "Sociology is the science of society: political science is the science of the state or political society. Sociology studies man as a social being and as political organisation is a special kind of social organisation, Political Science is a more specialist science than sociology."

—R. N. Gilchrist. Principles of political science.

3. "While sociology examines the formation and operation of groups as such, political theory focuses its attention on a special group, namely the state."

4. "Sociology is the general social science. It deals with the fundamental facts of social life." —R. N. Gilchrist: Principles of Political Science.

काफी दर्जे तक प्रकट हो चुकी है और जो राजनीतिक रूप से संगठित हो गया है।"[1] राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र में निम्नलिखित भेद हैं।

(1) समाज शास्त्र में मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य कलापों का अध्ययन होता है जब कि राजनीति शास्त्र में मनुष्य के केवल राजनैतिक कार्य कलापों का अध्ययन किया जाता है।

(2) समाज शास्त्र में मनुष्य से सम्बन्धित सभी संगठित और असंगठित संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जब कि राजनीति शास्त्र में केवल राजनीतिक संगठनों का ही अध्ययन किया जाता है।

(3) समाज शास्त्र के अध्ययन का आधार मनुष्य है जब कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन का आधार राज्य है।

(4) समाज शास्त्र मनुष्य के ऐतिहासिक विकास अर्थात् उसके सामाजिक प्राणी होने के कारणों का भी अध्ययन करता है जब कि राजनीति शास्त्र अपना अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व उसे सामाजिक प्राणी मानकर चलता है।

(5) समाज शास्त्र, क्या हुआ और क्या हो रहा है, यहीं तक सीमित रहता है। समाज शास्त्र का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि क्या होना चाहिए। जब कि राजनीति शास्त्र में इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि क्या किया जाना चाहिए।

समाज शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समाज शास्त्र सभी सामाजिक विज्ञानों का जन्म दाता है जिनके अध्ययन का सम्बन्ध मानव जीवन से है। अतः राजनीति शास्त्र का स्वाभाविक रूप से ही समाज शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। इस प्रकार ये दोनों शास्त्र परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इतना होने पर भी इनकी अपनी अपनी सीमाएं हैं अतः इस आधार पर हम इन दोनों में विभाजन रेखा खींच सकते हैं क्योंकि राजनीति शास्त्र का उद्देश्य मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने से है जबकि समाज शास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक जीवन से है।

2. राजनीति-शास्त्र और इतिहास—
(Political Science and History)

राजनीति शास्त्र में मनुष्य के राजनैतिक कार्यों का अध्ययन किया जाता है और इतिहास में मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों का वर्णन रहता है अतः इतिहास में मनुष्य के राजनैतिक कार्य भी आ जाते हैं। इस दृष्टि से दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

लार्ड ब्राइस के शब्दों में "राजनीति शास्त्र इतिहास एवं राजनीति और अतीत एवं

1. "In sociology, the unit of investigation is the individual viewed not merely as an animal and a conscious being, but also a neighbour, a citizen a co-worker, in short a social creature. In political science the unit of study is the state as distinct from the nation, the tribe, the clan or the family, though not unconnected with them, which means that its primary subject is a definite portion of society which manifests, in a comparatively high degree a political self consciousness and which has become organised politically."

—Dr Garner Political Science and Government (1955) pp. 28—29.

वर्तमान का मध्यस्थ है। इसने एक से सामग्री ली है और उसका प्रयोग उसे दूसरे में करना पड़ता है।"[1]

प्रो. सीले के मतानुसार, "राजनीति के बिना इतिहास निष्फल है तथा इतिहास के बिना राजनीति निर्मूल है।"[2]

बर्गेस 'यदि राजनीति शास्त्र और इतिहास का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाए तो उनमें से एक मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जायेगा और दूसरा केवल आकाश कुसुम बनकर रह जायेगा।"[3]

फ्रीमैन "इतिहास भूतकालीन राजनीति है और राजनीति वर्तमान कालीन इतिहास है।"[4]

विशिष्ट विद्वानों के उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र और इतिहास में गहरा सम्बन्ध है। जैलेनिक के अनुसार यह आजकल सर्वमान्य सत्य है कि राजनीतिक, सामाजिक एवं कानूनी संस्थाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता होती है। दोनों शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को हम निम्न शीर्षकों के अंतर्गत आंक सकते हैं।

1. राजनीति इतिहास पर आश्रित—इतिहास में राज्यों के निर्माण, उनके विकास प्रगति और पतन का विवेचन रहता है। इस प्रकार इतिहास में राजनीति शास्त्र के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। राजनीति शास्त्र में राजनीतिक संस्थाओं का ऐतिहासिक वर्णन ही नहीं किया जाता है अपितु यह जानने का प्रयास भी किया जाता है कि उनका निर्माण क्यों हुआ और वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में कहां तक सफल रहीं। इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी इतिहास का सहारा लेना पड़ता है। यह विवेचन जब तक ऐतिहासिक आधारों पर न किए जाए तब तक प्राय: अविश्वसनीय रहता है। अत: राजनीति का इतिहास पर आधारित होना आवश्यक है। लार्ड एक्टन ने ठीक ही लिखा है, "इतिहास की धारा में राजनीति, उसी भांति संचित है, जिस प्रकार नदी के रेत में सोने के कण।"[5] इससे स्पष्ट है कि राजनैतिक संस्थाओं के सामान्य विवेचन एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए इतिहास आधार शिला है।

---

1. "Political Science stands midway between history and Politics, between the past and the present It has drawn its material from the one, it has to apply them to the other." —Lord Bryce.
2. "History without Political Science has no fruit; Political Science without History has no root" —J. R. Seeley: Introduction to Political Science. p. 4
3. "Separate them and then one becomes a cripple, if not a corpse, the other a will of the wisp" —Burgress: Annual Report: American Historical Association, Vol I p. 211.
4. "History is nothing but past politics and Politics is nothing but current History." —Freeman
5. "The Science of Politics is the one science that is deposited in the stream of history like the grains of gold in the sands of a river." —Lord Acton

2. इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला के रूप में—इतिहास मानव जीवन के कृत्यों का लेखा जोखा होता है जिससे वह सफलता के आधार पर मार्ग चुन सकता है और विफलता के आधार पर सावधान हो सकता है। अतः राजनीतिज्ञ पुरानी सफल नीतियों पर अपना मार्ग प्रशस्त कर लेता है और विफलताओं के आधार पर सतर्क हो जाता है। इन भूलों से सावधान करने में इतिहास उसकी बड़ी सहायता करता है। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति से अकबर की सफलता और औरंगजेब की विफलता इसका पुष्ट प्रमाण है।

(3) इतिहास राजनीति पर आश्रित—एक विद्वान के शब्दों में "यदि इतिहास अनुभव द्वारा शिक्षा देता हुआ राजनीति शास्त्र है तो जिस दर्शन की वह शिक्षा देता है, वह बहुत कुछ अंशों में राजनीति दर्शन है।" इससे स्पष्ट है कि इतिहास भी कई अंशों में राजनीति पर आश्रित है क्योंकि राजनैतिक क्षेत्र में जो कार्य हुआ है वही इतिहास की विषय सामग्री बन जाती है। 1789 की फ्रांस क्रांति राजनीतिक घटना थी परन्तु इसका फ्रांस के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जर्मनी में नात्सीवाद और इटली का फासिज्म राजनीतिक घटनाएँ थी परन्तु इनका विश्व के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन, भारतीय क्रांतिकारियों के अमूल्य बलिदान ने क्या भारत के इतिहास को बदल कर नहीं रख दिया है। सीले ने ठीक कहा है, "यदि इतिहास राजनीति को उदार न बनाए तो वह उच्छृंखल हो जाती है और यदि इतिहास राजनीति से सम्बन्ध विच्छेद करले तो वह कोरा साहित्य रह जाता है।"[1]

अन्तर—राजनीति शास्त्र और इतिहास में गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में भेद भी है। इस बात को स्पष्ट करते हुए गार्नर ने कहा है, "इतिहास राज्य विज्ञान के लिए एक बड़ी मात्रा में सामग्री प्रदान करता है, परन्तु जैसे एक बार फीमैन ने कहा था, यह सत्य नहीं है कि इतिहास अतीत की राजनीति है अथवा राजनीति वर्तमान का इतिहास है। समस्त इतिहास अतीत की राजनीति नहीं है, इतिहास की अधिकांश बातों से जैसे कला, विज्ञान, आविष्कार, अन्वेषण, युद्ध, भाषा, रीति-रिवाज, वस्त्रालंकार, उद्योग-व्यवसाय तथा धार्मिक विवादों के इतिहास से राजनीति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और न इनसे राज्य-विज्ञान के अध्ययन की सामग्री ही प्राप्त होती है और न समस्त राज्य-विज्ञान ही इतिहास है। उसका अधिकांश विशुद्ध दार्शनिक एवं विचारात्मक होता है जो इतिहास की कोटि में नहीं आ सकता।"[2] राजनीति शास्त्र के लिए ठोस ऐतिहासिक तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है। 1688 की इंगलैंड की महान् क्रांति राजनीति शास्त्र के लिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, जबकि वैधानिक राजतंत्र और उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध की घटनाएं राजनीति की दृष्टी से प्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण नहीं है,

1. "Politics are vulgar when not liberalised by history fades into were literature. When it loses sight of its relation with politics."

—Seeley: Introduction to Political Science.

2. जेम्स विल्कई गार्नर : राज्य विज्ञान और शासन (1955) पृष्ठ 23

परन्तु उसमें भी महत्व इस बात का अवश्य है कि प्रजातंत्रवाद और तानाशाही में किस विचार धारा की सफलता हुई। इस अन्तर को निम्न लिखित शीर्षकों के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) विवेचना-पद्धति का अन्तर (Method of Treatment)—इतिहास में काल-क्रम के अनुसार घटनाओं का वर्णन रहता है जबकि राजनीति शास्त्र में उन्हीं घटनाओं को लिया जाता है जिनका सम्बन्ध राज्य से होता है।

(2) विस्तार का अन्तर (Difference in Scope)—इतिहास का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। उसमें मानव जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का वर्णन आ जाता है जबकि राजनीति शास्त्र में केवल राजनीतिक घटनाएं ही समाविष्ट रहती हैं।

(3) उद्देश्य का अन्तर (Difference in End)—इतिहास का सम्बन्ध ठोस तथ्यों से रहता है। जबकि राजनीति शास्त्र काल्पनिक भी है। इसका सम्बन्ध राज्य कैसा होना चाहिए, इससे भी है। अतः राजनीति शास्त्र "न केवल हमें तथ्य प्रदान करता है, प्रत्युत तथ्यों के बीच के सामान्य सम्बन्धों को भी प्रकट करता है।"

इस प्रकार दोनों में परस्पर अन्तर है। दोनों की विचारधारा, दोनों का कार्य क्षेत्र, उद्देश्य आदि भिन्न है। यह अन्तर होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि इनमें कहीं सम्बन्ध ही नहीं है। वस्तुतः ये दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं, एक दूसरे की विषय सामग्री को छूते हैं और कहीं-कहीं तो एक दूसरे का अतिक्रमण करते हुए भी दिखलाई देते हैं। अतः लीकाक ने ठीक कहा है, "इतिहास का कुछ भाग राजनीति विज्ञान है, उनके विषयों के वृत्त प्रत्येक के द्वारा घेरे हुए क्षेत्र को आवृत्त करते हैं।"[18]

राजनीतिक शास्त्र और अर्थ-शास्त्र

(Political Science and Economics)

राजनीति-शास्त्र और अर्थ शास्त्र में गहरा सम्बन्ध है। दोनों के कार्य क्षेत्र परस्पर इतने मिले हुए हैं कि कई विद्वानों ने दोनों को एक ही माना है।

अर्थ शास्त्र राजनीति का अंग

(Economics is a branch of Political Science)

राजनीति शास्त्र राज्य का विज्ञान है और अर्थ शास्त्र सम्पत्ति का। इसका सम्बन्ध उत्पादन, वितरण, उपयोग और विनिमय से है। परन्तु राज्य के बिना समाज में न केवल अशांति फैल जायेगी वरन् कोई आर्थिक व्यवस्था भी नहीं रह पायेगी। इसीलिए दोनों का सम्बन्ध प्राचीन राजनीतिज्ञों ने गहरा बतलाया है। ग्रीक वासी राजनीतिक अर्थशास्त्र को अर्थ शास्त्र के नाम से पुकारते थे। प्राचीन यूनानियों ने अर्थ शास्त्र को राजनीतिक अर्थ व्यवस्था का नाम दिया था और इसकी यह परिभाषा दी कि "यह राज्य के लिए राजस्व जुटाने की एक कला है।"[19] आदम स्मिथ ने लिखा है, "राजनैतिक अर्थ शास्त्र जनता

1. "Some of the history is part of political science, the circle of thier contents overlapping the areas enclosed by each." —Leacock.
2. "Economics was called 'Political Economy' by Greeks and was defined by them as the part of providing revenue for the state." —Seligman: Principles of Economics, p. 7.

था सर्वोच्च शासक को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता है।"[1] भारत के प्रसिद्ध प्रचीन 'थ कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में व्यापार, वाणिज्य, कृषि, कर, न्याय, युद्ध, शांति आदि भी का वर्णन किया गया है।

अर्थ शास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में
(Economics as Independent Social Science)

परन्तु आधुनिक अर्थ शास्त्री उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं रहे। उन्नीसवी शताब्दी में एडम स्मिथ ने आर्थिक क्षेत्र में राजनीति के हस्ताक्षेप को अनुचित ठहराया और से स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और अंततः बीसवी शताब्दी अर्थ शास्त्र को स्वतंत्र विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। मार्शल ने लिखा है, 'अर्थ शास्त्र जीवन के साधारण व्यापार मे मनुष्य का अध्ययन है। वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यापार के उस भाग का परीक्षण करता है जिसका समृद्धि की भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति तथा उनके प्रयोग के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[2] इस प्रकार अर्थ शास्त्र सम्पत्ति का शास्त्र है जिसके अन्तर्गत, उत्पादन, वितरण एवं विनिमय का अध्ययन किया जाता है सालिगमेन ने लिखा है, "शासन के रूप तथा कार्यों पर उत्पादन तथा वितरण की स्थिति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक घटनाएं आर्थिक कारणों का ही प्रभाव है।"

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र में अन्योन्याश्रितता
(Inter Dependence between Political Science of Economics)

अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र स्वतंत्र विज्ञान है और दोनों में भिन्नता है। फिर भी दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित और एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक देश की आर्थिक स्थिति का राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक असन्तोष राजनैतिक असन्तोष का स्थान ले लेता है। अर्थशास्त्र का जहाँ महत्व है वहाँ राजनीति शास्त्र का भी कम महत्व नहीं है क्योंकि मनुष्य अपनी सुख समृद्धि का उपयोग व्यवस्थित समाज में ही कर सकते हैं। औद्योगिक क्रांति का अवश्यम्भावी परिणाम था, साम्राज्यवाद। चेम्बरलेन ने कहा था, "हम नये देशों मे अपनी वस्तुओं का बाजार बनायेंगे तथा पुराने बाजारों का विकास करेंगे, अतएव अपने वर्तमान साम्राज्य की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य भी है और

---

1. "Political Economy proposes to enrich the people and the Sovereign"
—Adam Smith.

2. "Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well-being"
—Marshall: Principles of Economics. p. 1.

आवश्यकता भी।"[1] बिस्मार्क ने कहा है, "हमें नये राज्यों की नहीं वरन् व्यापारिक केन्द्रों की आवश्यकता है।"[2] कार्ल मार्क्स ने लिखा है, "किसी युग के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में स्वरूप का निश्चय आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। इस जीवन में विश्व की प्रमुख घटनाओं के सामने आर्थिक प्रश्न निष्कासन आजकल की नीति कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न राजनीतिक उपयोग की वस्तुओं पर सरकारी नियंत्रण का सामूहिक उद्योगों के सम्बन्ध तथा पूंजी न्यूनतम के प्रति अनेक की मौलिक अर्थ भी शासन प्रबन्ध में आर्थिक है।"[3] स्मिथ ने लिखा है, "राज्य समाजवाद के आधार भूत सिद्धान्त राजनीतिक होने के साथ ही आर्थिक भी हैं और उन्हें कार्यरूप में परिणत किया जाता है तो जिन समस्याओं को उसे हल करना पड़ता है, वे अधिकतर आर्थिक होती हैं।[4]"

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र में भेद

(Difference between Political Science and Econmics)

राजनीति शास्त्र और अर्थ शास्त्र में गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में अन्तर है। अरस्तु बारनिंग ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अर्थशास्त्र का वस्तु से सम्बन्ध रखता है जबकि राजनीति शास्त्र का व्यक्तियों से। एक कीमतों (Price) से सम्बन्धित है परन्तु दूसरा मूल्यों (Volue) से सम्बन्धित है। यही कारण है कि व्यंगात्मक रूपसे एक विद्वान ने अर्थशास्त्री के लिए ये शब्द कहे हैं, "एक अर्थ शास्त्री वह है जो प्रत्येक वस्तु की कीमत तो जानता है परन्तु किसी वस्तु का मूल्य नहीं जानता।" एक बात यह भी है कि राजनीति शास्त्र सिद्धान्तिक और आदर्शात्मक है जबकि अर्थशास्त्र सामान्यतः व्याख्यात्मक है।

राजनीति शास्त्र और नीति शास्त्र

(Political Science and Ethics)

नीति शास्त्र वह विद्या है जो बुरे, उचित, अनुचित आचरण का निर्धारण करता है। मैकेंजी ने लिखा है कि नीति शास्त्र मानव आचरण में आदर्श का अध्ययन है। इसके द्वारा अच्छे नागरिकों चरित्र एवं आचरण अच्छा हो। इस तरह नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र में गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन लेखकों ने भी इस बात को स्वीकार किया था। प्लेटो ने लिखा है, 'राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य नागरिक को सदाचारी एवं सच्चरित्र बनाना है।'[5] अरस्तू ने लिखा है, "राज्य जीवन के सम्भव

1. "New Markets shall be created and that old markets shall be effectually developed...........It is, therefore, a necessity, as well as a duty for us to uphold the domain and empire which we now possess." —Joseph Chamberlain.
2. "I want outside Europe............not provinces, but commercial enterprises." —Bismark.
3. "Necholson: Principles of Political Economy p. 83.
4. Monro Smith: The scope of Political Science. p. 4.
5. "state is a community of souls rationally and necessarily united for the pursuit of a moral end" —Plato.

बनाने के लिए उत्पन्न हुआ परन्तु अब यह जीवन को अच्छा बनाने लिए विद्यमान है।" [1] रास ने अरस्तू के कथन को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'अरस्तू के विचार से अच्छे जीवन में मुख्यतः दो बातें सम्मिलित हैं प्रथम मानसिक विकास तथा द्वितीय नैतिक विकास।'[2] लार्ड एक्टन ने भी लिखा है, 'नीति शास्त्र के अध्ययन के बिना राजनीति का अध्ययन व्यर्थ है।'[3]

एक विद्वान के मतानुसार "जो बात नैतिक दृष्टि से गलत है, वह राजनीतिक दृष्टि से भी सही नहीं हो सकती है।"[4] प्रो. ब्राउन ने ठीक ही लिखा है, "राजनीति नैतिकता का ही विकसित रूप है, बिना राजनीतिक सिद्धान्त के नैतिक सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज से अलग नहीं रह सकता। नैतिक सिद्धान्तों के बिना राजनीतिक सिद्धान्त निरर्थक है, क्योंकि उसका अध्ययन और परिणाम मूलतः हमारी नतिक व्यवस्था अर्थात् उचित व अनुचित की धारणा पर आधारित है।"[5] गेटेल के अनुसार "स्थायी और प्रचलित नतिक विचार ही कानून का रूप धारण करते हैं।" लार्ड एक्टन ने भी लिखा है, "समस्या यह नहीं है कि सरकारें क्या करती हैं बल्कि यह है कि उन्हें क्या करना चाहिए।"[6] महात्मा गांधी ने राजनीति को धर्म पर आधारित माना है। उनका कहना था कि "धर्म से रहित राजनीति का कोई मूल्य नहीं है। उन्होंने आगे कहा है, "सत्य और प्रेम से अहिंसा प्राप्त होती है, अनासक्ति प्राप्त होती है और समभाव की सृष्टि होती है। अर्थात् धर्म और सत्य से निष्काम कर्म करने की प्रेरणा मिलती है।"

राजनीति शास्त्र और नीति शास्त्र में अन्तर

(Distinction between Political Science and Ethics)

इन दोनों में गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक नहीं हो सकते हैं। अतः इनमें निम्नलिखित आधारों पर अन्तर पाया जाता है।

(1) राजनीति शास्त्र में मनुष्य के राजनैतिक जीवन का अध्ययन किया जाता है जबकि नीति शास्त्र में प्रायःमनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का ही अध्ययन रहता है।

(2) राजनीति शास्त्र हमारे बाहरी व्यवहार को नियंत्रित करता है जब कि नीति शास्त्र में हमारी आत्मा प्रभावित होती है।

---

1. "State cams into existance for the sake of mere life but now it continues to exist for the sake of good life." —Aristotle
2. "Good life includes for Aristotle two things, moral and intellectual activity" —Ross.
3. "Political theory is idle without ethical theory." —Lord Acton.
4. "What is morally wrong can never be politically right." —Foy.
5. "Politics is but Ethics writ large. Ethical theory is incomplete without political theory because man is an associated creature and can not live fully in isolation, political theory is idle without ethical theory, because its study and its results depend fundamentally on our scheme of moral values and the conception of right and worng." —Prof. Ivor Brown.
6. "The great question is to discover, not what Governments prescribe but what they ought to prescribe." —Lord Acton.

(3) राजनीति शास्त्र का अधिकांश भाग व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है जिसमें राज्य, सरकार आदि आ जाते हैं। परन्तु नीति शास्त्र मूलतः सिद्धान्तों पर आधारित है।

(4) राजनीति शास्त्र वास्तविकता पर आधारित है और नीति शास्त्र कल्पना पर।

(5) राजनीति शास्त्र का उद्देश्य तथ्यों से अवगत कराना है जबकि नीति शास्त्र का लक्ष्य आदर्श जीवन व्यतीत करने का उपदेश होता है।

इस अन्तर को देखकर मेकियावेली ने तो यहां तक लिख दिया है, "धर्म और नैतिकता राज्य के नियामक तो किसी प्रकार हैं ही नहीं बल्कि वे विश्वसनीय पथ निदर्शक भी नहीं है। वे केवल उपयोगी सेवक और एजेंट हैं।"[1]

राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान
(Political Science and Psychology)

राजनीति और मनोविज्ञान में सम्बन्ध जानने से पूर्व हमें मनोविज्ञान का अर्थ समझ लेना चाहिए। विभिन्न विद्वानों ने मनोविज्ञान की विभिन्न प्रकार से परिभाषा की है जिनमें कुछ मुख्य परिभाषायें इस प्रकार हैं—

वार्ड — 'मनोविज्ञान व्यक्ति के अनुभव का विज्ञान है।'[2]

वाटसन—"मनोविज्ञान व्यवहार का साकारात्मक अध्ययन है।"[3]

वुडवर्थ—"मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से सम्बन्धित क्रियाओं का विज्ञान है।"[4]

मैक्डूगल—"मनोविज्ञान मानव-मन का सकारात्मक तथा अनुभव मूलक विज्ञान है।"[5]

एंजिल—"मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान है।"[6]

सभी सामाजिक शास्त्रों का आधार मनोविज्ञान है। बार्कर ने लिखा है 'मानवीय कार्यों की पहेली का हल निकालने के लिए मनोवैज्ञानिक कुंजी का आश्रय लेना आजकल फैशन बन गया है। यदि हमारे पूर्वज जीव विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे तो हम अब मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।'[7] ब्राइट ने लिखा है कि ब्रिटिश शासन व्यवस्था अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थिर है।

---

1. "Religion and morality are not the masters of the state, not even safe guides but useful servants and agent." —Machiavelli.
2. "Psychology is the science of individual experience." —World.
3. "Psychology is the positive science of behaviour." —Watson.
4. "Psychology is the science of activities of the individual, in relation to the environment." —Wood worth.
5. "Psychology may be defined as the positive and empirical science of the human mind." —Mc Dougall.
6. "Psychology is the science of consciousness." —Angell.
7. "The application of the psychological clues to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day. If our forefathers thought biologically, we think psychologically."
—Barker: Political thought from Spencer to the present day p. 148

कौटमी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमेरिका और इंगलैंड की राजनीतिक संस्थाओं की विशेषताओं एवं कार्यप्रणाली पर मनोवैज्ञानिक तत्वों का प्रभाव पड़ा है। गार्नर ने लिखा है, "सरकार के स्थिर और यथार्थ में लोकप्रिय होने के लिए अपने अधीन व्यक्तियों के मानसिक विचारों और नैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त तथा प्रतिबिम्बित करना चाहिए।"[1] इतना ही नहीं ब्राइस ने तो यहाँ तक लिख दिया है, "मनोविज्ञान ही राजनीति का आधार है।"[2]

दोनों शास्त्र परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी इनमें भेद है जो निम्न प्रकार से है।

(1) कैटलिन के अनुसार, मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है जबकि राजनीति संकल्प किए गए कार्यों का अध्ययन है।'[3]

(2) मनोवैज्ञानिक जीवन की व्याख्या आदिम प्रवृत्तियों के रूप में करना चाहता है और सामाजिक मनोविज्ञान निम्नतर द्वारा उच्चतर का स्पष्टीकरण करता है किन्तु यह विकासवादी सिद्धान्त का सही विश्लेषण नहीं है। सही तरीका यह होना चाहिए कि उच्चतर द्वारा निम्नतर का स्पष्टीकरण किया जाए। मानव प्राणी ने ही बन्दर को समझने का प्रयास किया है किन्तु बन्दर ने मानव प्राणी को नहीं।,,[4]

(3) मनोविज्ञान को नैतिक मूल्यों की परवाह नहीं होती है इसलिए राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिए की ओर उसका ध्यान नहीं जाता है।

(4) मनोविज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक मन से है जबकि राजनीति का बाह्य कार्यों से।

(5) मनोविज्ञान से मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है और राजनीति में मनुष्य के व्यावहारिक कार्यों का अध्ययन किया जाता है।

इतना होने पर भी राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान में गहरा सम्बन्ध है। ग्राहम वालास ने लिखा है, "राजनीति बहुत कम अंश में सचेत बुद्धिमत्ता का परिणाम है। अधिक अंश में यह आदत और मूल प्रवृत्ति तथा सुझाव और नकल जैसी अर्द्ध चेतन प्रक्रियाओं की उपज है।"[5]

---

1. "Government to be stable and really popular must reflect and express the mental ideas and moral sentiments of those who are subject to its authority."
—Garner: Political Science and Government, p 38

2. "Politics ....has its roots in psychology, the study . . . . of the mental habits and volitional activities of mankind."
—Lord Bryce (Modern Democracies Vol. I p. 7.)

3. "Psychology is concerned with mental acts which must be concerned in relation to observable individual mind. But Political Science is concerned with the impulsive or willed relations of social being." —Catlin.

4. "The psychologist seeks to explain life in terms of savage instinct and the social psychology leads us to explain the higher by the lower. This does not truly explain the revolutionary process. The right process is to explain the lower by the higher. Man explains the monkey and not monkey the man."

5. "politics is only in slight degree the product of conscious reason, it is largely a matter of sub-conscious process of habit and instinct, suggestion and imitation"
—Graham Wallas.

(राजनीति शास्त्र और भूगोल)
(Political Science and Geography)

भूगोल का सम्बन्ध भूमि, जलवायु, वर्षा, कृषि, खनिज, नदी, पहाड़, समुद्र आदि से है। राजनीति शास्त्र राज्य का अध्ययन करता है और राज्य के निर्माण तत्वों में भूखंड का अत्यधिक महत्व है। अतः किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति का उस देश की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के राजनीति के विद्वानों ने भूगोल का महत्व स्वीकार किया है। स्वयं अरस्तू ने यह स्वीकार किया है कि किसी देश की जलवायु, भूमि, समुद्र तट, पहाड़, मैदान, नदियों तथा खाड़ियों आदि की उसके निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, राजनीतिक इतिहास, सभ्यता और संस्कृति पर अमिट छाप पड़ती है। बोदाँ ने इस विषय पर विस्तार से वर्णन किया। रूसो ने भी अठाहरवीं शताब्दी में अपनी लेखनी द्वारा जलवायु और शासन के रूपों में गहरा सम्बन्ध स्थापित किया और कहा कि गरम जलवायु निरंकुश शासन के लिए, शीत जलवायु बर्बरता के लिए तथा समशीतोष्ण जलवायु सुशासन की उत्पत्ति के लिए अनुकूल है। "माटेस्क्यू ने 1748 ई. में अपनी पुस्तक "The Spirit of the Laws" में राजनीति और सामाजिक संस्थाओं पर, विशेषकर स्वतंत्रता पर भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है। उसने अपने अध्ययन द्वारा निष्कर्ष निकाला है कि पर्वतीय प्रदेश और ठंडी जलवायु दासता तथा निरंकुश शासन के लिए अधिक उपयुक्त है। बकल ने लिखा है, "भौगोलिक प्रभावों का लोगों के चरित्र तथा संस्थाओं की बनावट पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसने मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा तथा भाग्यवाद के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं दिया और कहा कि लोगों के व्यक्तिगत कार्य और सामाजिक कार्य उनकी इच्छा से निर्धारित नहीं किये जाते बल्कि भौगोलिक वातावरण और विशेषकर जलवायु, खाद्य पदार्थ, मिट्टी तथा प्रकृति की अन्य बातों के प्रभाव से निर्धारित होते हैं। इसलिए उसने एक तरफ नार्वे-स्वीडन में तथा दूसरी तरफ स्पेन और पुर्तगाल की संस्थाओं और लोगों के चरित्र में अन्तर का कारण भौतिक वातावरण तथा भौगोलिक स्थितियों को माना। इसी तरह से उसने प्राचीन मिस्र की सभ्यता का कारण उसकी उपजाऊ भूमि को माना है।"[1] परन्तु रिचे ने बकल की आलोचना करते हुए लिखा है कि व्यक्ति और राष्ट्र के चरित्र पर जलवायु, भोजन और भूमि के प्रभाव को बकल ने बहुत बढ़ा चढ़ाकर

---

1. "Buckle in his book 'History of Civilization' went to the extreme length of attributing to geographical influences, the predominant cause of the character and institutions of people. Rejecting what he called the 'meta physical dogma of free will and the 'theological' dogma of predestined events' he asserted that the actions of men and therefore of societies are determined by a reciprocal interaction between the mind and external phenomena. Specially, he maintained that it is not the free will of man which determines the action of individuals and societies but rather the influence of physical environment: particularly climate, food, soil and the general aspects of nature."

—Buckle: History of civilization Vol. I ch. 2

लिखा है।"[1] ह्यूम ने भी वकल की आलोचना करते हुए लिखा है, "जलवायु का राष्ट्रीय चरित्र पर इतना प्रभाव नहीं होता है।"[2]

राजनीतिक भूगोल का अतिशय बढ़ा–चढ़ा कर वर्णन करने के बावजूद भी हम बाइस के शब्दों में यह अवश्य कह सकते हैं कि किसी भी देश में भौगोलिक परिस्थिति एवं परम्परागत संस्थाओं का राष्ट्र के राजनीतिक विकास पर इतना प्रभाव पड़ता है कि उसकी सरकार का एक विशिष्ट स्वरूप बन जाता है।[3] ट्रीट्स्के ने लिखा है कि प्राचीन यूनान में भौगोलिक विविधता के कारण उसके राजनीतिक एकता के विकास में रुकावट पड़ी, स्विट्जरलैंड के चारों ओर से पर्वतमालाओं से आवृत्त होने का इस देश की संस्थाओं तथा इतिहास पर प्रभाव पड़ा है।[4] शेलर ने लिखा है कि इंगलैंड स्वतन्त्ररूप से अपना राजनीतिक विकास बहुत कुछ अंश तक इस कारण कर सका है कि उसे इंगलिश चैनल का संरक्षण प्राप्त है।[5] हिन्ट्ज ने लिखा है कि जर्मनी की भौगोलिक स्थिति का उसके राजनीतिक भूगोल में एक निर्णायक स्थान है और हमारे राजनीतिक चरित्र की अनेक विशेषताएं बहुत कुछ इसी कारण से हैं। आगे लिखा है कि हमारा ऐतिहासिक एवं राजनीतिक भाग्य हमारी भौगोलिक स्थिति में निहित है।[6]

राजनीति शास्त्र और धर्म

(Political Science and Religion)

प्राचीन काल में धर्म और राजनीति में गहरा सम्बन्ध था। हिन्दू राजा धर्म ग्रन्थों के अनुसार और मुसलमान कुरान के अनुसार राज्य चलाते थे। सम्राट अशोक बौद्ध धर्म के अनुसार राज्य किया करता था। धर्म से अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं। सारा अरब इस्लाम धर्म के कारण एकता के सूत्र में बंधा हुआ है। धर्म ने लोगों को सरकार का आज्ञा पालक और सदाचारी बनाया है।

धर्म निरपेक्षता–धर्म ने जहां समाज की सेवा की है, वहां अनेक हानियां भी हुई हैं। जेरूसलम में धर्म के नाम पर अनेक युद्ध हुए हैं। औरंगजेब ने बलात् इस्लाम धर्म फैलाने का प्रयत्न किया जिससे मध्यकाल में हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक संघर्ष चलता रहा और अन्त में मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। ब्रिटिश सरकार द्वारा ईसाई धर्म फैलाने के अनेक प्रयत्न किये गये जिसके फलस्वरूप 1857 ई. में ईस्टइंडिया कम्पनी का साम्राज्य

1. Repley: The Races of Europe. p. 1.
2. "I do not believe that man ever in his spirit or destiny owed any thanks to atmosphere, food or climate." —Hume: Essays on National character Vol. I p. 21
3. Bryce: Modern Democracies Vol I p. 166.
4. Treitschke: Politics p. 214.
5. Shaler in his work "Nature and Man in America (pp. 153.159) emphasised the importance of British Channel upon the history of England.- He says that, "the independent political development of England for the last thousand years has been large part due to the measure of protection afforded by the British Channel
6. Hintze: Germany and the world Power. 'in' Modern Germany in relation to the Great war, 1916 pp. 10-13

वर्गों और हितों के बीच समन्वय और समझौता, संक्षेप में श्रेष्ठ जीवन की सिद्धि ।" [1] डोनाल्ड सी. स्टोन ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का दूसरा पहलू भी है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को विश्व की समस्याओं को हल करने में सफल होना है तो उन सभी संस्थाओं को समुचित रूप से संगठित एवं प्रशासित होना चाहिए जिनके माध्यम से समझौते की बातचीत चलाई जाती है तथा प्रशासकीय कार्य संचालित होता है ।" [2]

राजनीति तथा लोक प्रशासन के सम्बन्धों की व्याख्या के संदर्भ में हमने दो विरोधी मतों के विचार व्यक्त किए। एक का मत है कि लोक प्रशासन राजनीति की ही शाखा है तथा इस प्रकार इनमें अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है तथा दूसरा विचार है कि इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है व यह एकदम स्वतंत्र हैं। वस्तु स्थिति इन दोनों विचारों के मध्य में निहित है। राजनीति तथा लोक प्रशासन को स्वतंत्र सामाजिक विज्ञानों के रूप में आज पूर्णतया मान्यता मिल गई है, अतः किसी एक का दूसरे की शाखा होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनमें कोई आदान-प्रदान न होता हो या इनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती हो। इन दोनों सामाजिक विज्ञानों में चोली दामन का सा सम्बन्ध है तथा एक को दूसरे से अनिवार्य रूप में अनेक स्थानों पर सहायता लेनी पड़ती है। अन्त में, वाल्डो के शब्दों में कहा जा सकता है, "प्रशासन के विद्यार्थी राजनीतिक सिद्धान्त की ओर पहुँच रहे हैं और एक महत्वपूर्ण ढंग से राजनीतिक सिद्धान्त को अपना योग प्रदान कर रहे हैं।" [3]

1. "The immediate objective of the art of public Administration is the most effi cient utilization of resources at the disposal of the officials and employees...... In their broader context, the ends of administration are ultimate objects of the State itself—the maintenance of peace and order, the progressive a chievemen of justice, the instruction of the young, protection against disease and insecurity the adjustment and compromise of conflicting groups and interests in shor the attainment of good life." —L. D. Whit
2. "When we Consider the problem of government's Collaborating through Inte national organization we tend to think only in terms of foreign policy and issues involving Conflict among Countries. This is of Course, natural Sin these are the questions uppermost in the news. But there is another side International Collaboration. In international organizations negotiatons ar Conducted and the secretariat which handles and administrative work must properly organised and administered." —Donald C. Ston
3. "Students of administration are reaching out towards political theory, and hav themselves been Contributing in an important way to political theory." —Wald

राज्य सभी सामाजिक संस्थाओं में सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक शक्ति-शाली है राज्य का जन्म मनुष्य की संगठित रूप से रहने की मूल प्रवृत्ति से तथा इसका विकास मनुष्य के स्वभाव से हुआ है। राज्य कोई ईंट, पत्थर की वस्तु नहीं वरन् मनुष्य से परिवार, परिवार से समाज, समाज से गाँव और गाँव से नगर राज्य बने हैं। गार्नर के अनुसार, "राज्य समाज के एक विशेष भाग का नाम है जो सामान्य हितों की वृद्धि एवं रक्षा के उद्देश्य से राजनीतिक रूप मे संगठित हो। राज्य और समाज में मौलिक अन्तर यह है कि पहले से एक राजनीतिक संगठन सूचित होता है जबकि दूसरे से नहीं।"[1] राज्य निश्चित रूप से एक आवश्यक संस्था है। राज्य आवश्यक संस्था इसलिये है कि बिना राज्य की सहायता के मनुष्य जो कुछ चाहता है वह नहीं कर सकता और जो कुछ बनना चाहता है वह नहीं बन सकता और नहीं मनुष्य को राज्य से सम्बन्ध तोड़ने का अधिकार ही है अतः अधिकांश विद्वानों की राय में पेन्सर का यह कहना पूर्ण रूप से गलत है कि व्यक्ति को राज्य की उपेक्षा करने का अधिकार है।

राज्य शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर State जो लैटिन भाषा के Status शब्द से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर होता है। सोलहवीं शताब्दी मे इस शब्द का प्रयोग इगलैंड से हुआ और उस समय एक प्रभुत्व सम्पन्न संस्था के रूप मे राज्य का स्वरूप और भी निखर गया। बार्कर के अनुसार, "शब्द" 'राज्य' जब सोलहवीं शताब्दी मे इंगलैंड में प्रयुक्त हुआ, तब वह इटली से अपने साथ महान् राज्य अथवा किसी व्यक्ति विशेष अथवा समुदाय विशेष मे निहित महानता का एक विचार लाया।" अतः राजनीति शास्त्र में राज्य वही है जो सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न हो, जिस पर किसी बाह्य सत्ता का कोई नियंत्रण न हो। न्यूयार्क, कश्मीर, बिहार, गुजरात आदि को भी यद्यपि सामान्यतः "राज्य कहा जाता है परन्तु राजनीति शास्त्र जिस राज्य पर विचार करता है वह इनसे भिन्न है। फ्रांस, चीन, भारत आदि राष्ट्र जो सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है वे ही राजनीति शास्त्र की दृष्टि मे 'राज्य' हैं और उन्हीं पर यह शास्त्र विचार करता है।

राज्य की परिभाषा

प्राचीन विचारकों के अनुसार—अरस्तू कहता है "राज्य कुलों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।"

ग्रोसियस ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है, "राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों के पूर्ण समुदाय का नाम है जिन्होंने अपना संगठन सर्व सामान्य लाभों व उपयोगिता की प्राप्ति के लिये किया हो।"

सिसेरो ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है, "राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समाज है जो अधिकारों की सामान्य भावना एवं लाभों में पारस्परिक सहयोग द्वारा संयुक्त है।" ग्रोटियस को भी यह परिभाषा उपयुक्त प्रतीत हुई। उसके मतानुसार, "राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों का एक पूर्ण समाज है जो अधिकार के उपभोग के लिये तथा सामान्य उपयोगिता के लिये आपस में बंधे हुए हैं। वाटल की परिभाषा भी उपरोक्त परिभाषा से मिलती जुलती ही है।

वुड्रो विलसन के अनुसार, "पृथ्वी के किसी निश्चित भाग में शान्तिमय जीवन के लिये संगठित जनता को राज्य कहा जाता है।"[1]

ब्लुंशलीन के अनुसार—एक निश्चित प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से संगठित लोग राज्य हैं।[2]

बोडिन ने 1576 में राज्य के सन्दर्भ में लिखा था। राज्य परिवारों तथा उनकी सांझी सम्पत्ति का एक समुदाय है जो एक सर्व श्रेष्ठ सत्ता तथा विवेक द्वारा शासित है।[3]

बर्गेस राज्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ट भाग है।

मैकाइवर के अनुसार "राज्य का अस्तित्व समाज के अन्दर ही वह समाज का कोई रूप नहीं है। राज्य एक समुदाय है जो एक शक्ति वाली सरकार द्वारा घोषित कानूनों से एक निश्चित प्रदेश में बसने वाले जन समुदाय में सामाजिक व्यवस्था की सभी बाहरी अवस्थाओं को स्थिर रखता है।

प्राचीन परिभाषाओं में अरस्तू की परिभाषा के विषय में कतिपय विद्वानों का *यह मत है कि वह अपने आप में पूर्ण नहीं है। क्योंकि आधुनिक काल में राज्य के चार* तत्व माने जाते है। जब कि अरस्तू ने राज्य को केवल ग्रामों व परिवारों का समूह मात्र माना है। अत: राज्य की आधुनिक कसौटी पर अरस्तू की परिभाषा खरी नहीं उतरती।

सिसरो तथा बोडिन की परिभाषाओं को भी आधुनिक विद्वान अपूर्ण मानते हैं। कारण कि सिसरो ने भी अपनी परिभाषा में सरकार, भूमि तथा राज सत्ता का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

बर्गेस की परिभाषा भी अधूरी है क्योंकि उसमें भी भूमि व राज सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है केवल जनता और राजनीतिक संगठन का वर्णन है। ब्लुंशली ने भी राज सत्ता की ओर कोई ध्यान इंगित नहीं किया है। अत: राजनीति शास्त्र की दृष्टि से उनकी परिभाषा भी अपूर्ण है।

---

1 "The State is a people organised for law with in a definite territory" —*Woodrow Wilson.*

2 "The State is the politically organised, people of a definite territory" —*Bluntschli*

3 In 1576, Bodin defind the state as "an association of families and their Common possessions governed by supreme power and by reason."

अतः राजनीति शास्त्र में राज्य के सम्बंध में आधुनिक परिभाषाओं को विशेष महत्व दिया गया है कारण कि प्राचीन परिभाषाओं में राज्य के आवश्यक तत्वो मे से किसी न किसी तत्व को उपेक्षित कर दिया गया है । अर्थात् उनमे राज्य के सभी तत्वों को सम्मिलित नहीं किया गया है । आधुनिक परिभाषाओं में सबसे प्रामाणिक परिभाषा प्रोफेसर गार्नर, मेकाइवर तथा फिल्ली मोर की मानी जाती हैं।

डा. गार्नर ने राज्य की परिभाषा निम्न रूप मे दी है, 'राजनीति शास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप मे, राज्य थोड़े या अधिक संख्या वाले संगठन का नाम है जो कि स्थायी रूप में पृथ्वी के एक निश्चित भाग मे रहता हो, वह बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो और उसकी एक सगठित सरकार हो जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती हो।"[1]

डा. गार्नर की परिभाषा में राज्य के चारों आवश्यक तत्व जन संख्या, भूमि, सरकार एवं संप्रभुत्व का स्पष्ट उल्लेख है अतः इसे महत्वपूर्ण माना जाता है। फिल्ली मोर की परिभाषा भी प्रामाणिक मानी जाती है उन के अनुसार, "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो पृथ्वी के किसी निश्चित भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो; जो कानूनों, आदतों तथा रीति रिवाजों द्वारा बंधा हुआ हो, जो एक संगठित सरकार द्वारा अपनी सीमा के अन्दर सब व्यक्तियों तथा वस्तुओं पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता (Sovereignty) का प्रयोग एवं नियन्त्रण करता हो तथा जिसे ससार के अन्य समुदायों (Communities) के साथ युद्ध और सधि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।"[2] यह परिभाषा राष्ट्रीयता से ओत प्रोत है। इसमे राज्य के कानून आदत, रीति रिवाज तथा परम्परा की एकता पर विशेष बल दिया गया है। इस परिभाषा में राज्य के चारों आवश्यक तत्वों पर भी प्रकाश डाला है तथा उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्वाधीनता को महत्व दिया गया है।

---

1. Dr. Garner says, "State, as a Concept of political Science and public law, is a community of persons, more or less, numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so, of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."

   Dr. Garner : Political science and Government, 1st Edition Page 49.

2. Phillimore says, "A state, for the purpose of international law, is a people permanently occupying a fixed territory, found together by Common laws, habits and customs into one body politic exercising through the medium of an organised government independent sovereignty and control over all persons and things within its boundaries, capable of making war and peace and of entering into all international relations with other communities of the globe." (International law) Vol I Page 81

लास्की के अनुसार, "राज्य एक निश्चित भूमि पर संगठित समाज है जो शासन और शासितों में बँटा हुआ है तथा अपनी सीमाओं के क्षेत्र में आने वाली अन्य संस्थाओं पर सर्वोच्चता का दावा करता है।"[1]

प्रोफेसर लास्की की उपरोक्त परिभाषा में भूमि जनता, सरकार तथा आन्तरिक (Internal) राजसत्ता का वर्णन तो है किन्तु बाहरी (External) राज सत्ता का नहीं। अतः यह परिभाषा भी किसी सीमा तक अपूर्ण कही जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वान लेखक ओपनहीम ने राज्य की अत्यन्त ही संक्षिप्त तथा एक सीमा तक पूर्ण परिभाषा दी है। वे लिखते हैं, "जब किसी देश में बसने वाले लोग अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सरकार के अन्तर्गत रहते है तब वहाँ राज्य की स्थापना हो जाती है।"[2]

आधुनिक विद्वानों की उपरोक्त परिभाषाओं में फिल्ली मोर की परिभाषा के साथ ही गार्नर की परिभाषा को हम अन्य परिभाषाओं से उत्तम ठहरा सकते है क्योंकि अन्य विद्वानों की परिभाषाओं में राज्य का कोई न कोई आवश्यक तत्त्व विशेष रूप से छूटा हुआ है अथवा उपेक्षित है। किन्तु प्रोफेसर गार्नर की परिभाषा में राज्य के चारों तत्व-जनसंख्या भूमि, सरकार, तथा राज्य सत्ता का पूर्णतः रूप से एवं स्पष्ट वर्णन है। अतः उपरोक्त सभी परिभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष की कसौटी पर सर्वाधिक उपयुक्त होती है। अतः समस्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य निर्माण के लिये सर्व प्रथम आवश्यकता है एक जन समूह की तत्पश्चात् इस जन समूह के लिये एक निश्चित भू खण्ड आवश्यक है जिस पर कि वहाँ स्थायी रूप से निवास कर सकें। साथ ही जब अधिक लोग समूह रूप में निवास करेंगे तो शान्ति एवं सुरक्षा के लिये किसी व्यवस्था का होना भी नितान्त जरूरी है ताकि सामूहिक रूप मे पारस्परिक सम्बन्धों का समुचित रूप से निर्वाह किया जा सके। परन्तु इन सब के ऊपर एक प्रभुसत्ता का होना अत्यन्त आवश्यक है जो व्यवस्था के अस्तित्व को जीवित रखें तथा आन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्धों के संचालन की व्यवस्था को चालू रखें।

राज्य के कितने तत्व हों इस विषय मे भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने राज्य के तीन मूल तत्व स्वीकार किये है। जो है—जनता, प्रदेश व शासन। किन्तु कतिपय विद्वानों ने राज्य के प्रमुख तत्व चार माने हैं जिनमे उपरोक्त तीन तत्वों के साथ प्रभुसत्ता को और सम्मिलित किया है। प्रभुसत्ता के विषय मे विद्वानों में मतभेद हैं क्योंकि कुछ विद्वान इसे अपरिहार्य मानते हैं और कुछ नहीं। कुछ विद्वानों के अनुसार राज्य के पास एक शासन शक्ति अवश्य होनी चाहिये।

---

1. Laski says, "State is a territorial society devided into goverenment and subjects claiming within its allotted physical area,a supremacy over all other institutions."

"The State exists when a people is settled in a country under of own sovereign Government." —Oppenheem.

एस्मीन के अनुसार समस्त-प्रदेश पर राज्य शासन का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

मैकाइवर कहते हैं—राज्य के पास पूर्ण नियामक अथवा बल प्रवृत्ति शक्ति होनी चाहिए।

ओपेनहेम कहते हैं, "राज्य में पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता होनी चाहिये।"

सिजविक के कथनानुसार, "राज्य की आज्ञा सभी को सर्वथा मान्य होनी चाहिये।"

डा. फाइनर कहते हैं, "राज्य का मूल तत्व उसकी बल प्रवृत्ति शक्ति में निवास करती है।"

लास्की के अनुसार "सम्राट (Sorve) निस्सन्देह किसी भी व्यक्ति या समुदाय से प्रमुसर है। और सम्राट के हाथों में पूर्ण नियामक और बल प्रवृत्ति सत्ता निवास करती है।"

राज्य के मूल तत्व

(Elements of State)

अतः राजनीति शास्त्र के विद्वानों द्वारा राज्य के मूल तत्व निम्न माने गये हैं :—

1. जनसंख्या (Population)
2. प्रदेश (Territory)
3. राजनीतिक संगठन या सरकार (Government)
4. राज सत्ता या प्रभुसत्ता (Sovereignty)

आगे हम प्रत्येक के संबंध में संक्षिप्त रूप से विचार करे रहे हैं।

1. जनसंख्या—जनसंख्या के बिना किसी भी राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता। जनता के बिना राज्य का कोई महत्व ही नही। दूसरे शब्दों में, जनता के द्वारा ही राज्य का निर्माण किया जाता है। अर्थात् मनुष्य ही राज्य का निर्माण करते हैं। पर राज्य निर्माण के लिये जनसंख्या अधिक होनी चाहिये। केवल दो चार परिवारों से राज्य का निर्माण नहीं होता। प्रत्युत बड़ी संख्या में परिवारों के समूहों से राज्य का निर्माण होता है। राज्य एक ऐसी मानवी व्यवस्था है जो मनुष्य के अच्छे जीवन के हित के लिए बनी हुई है। आधुनिक काल मे जनसंख्या की कोई सीमा राज्य के लिए व्यवहार में निर्धारित नहीं की जा सकती। यद्यपि राजनीति शास्त्र के आदिकालीन विद्वान् प्लेटो व अरस्तू दोनों ही राज्य के जनसंख्या के सम्बन्ध में एक निश्चित संख्या को मानकर चले हैं। उनका आदर्श यूनान के तत्कालीन प्रमुख राज्य एथेन्स एवंस्पार्टा रहे हैं। प्लेटो ने नागरिकों की संख्या 5040 निर्धारित की है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्य की जनसंख्या न बहुत छोटी होनी चाहिए और न बहुत बड़ी। रूसो ने राज्य निर्माण के लिए 10 हजार जनसंख्या निश्चित की है। अरस्तू ने राज्य की जनसंख्या अधिक न होने का कारण यह बताया है कि अधिक जनसंख्या वाले प्रदेश में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव नहीं होता और कम जनसंख्या वाले राज्य

में व्यक्ति स्वयं सभा भवन में जाकर कानून बना सकते हैं। अतः यूनान की ऐसी स्थिति को देख कर ही अरस्तू ने कम व अधिक दोनों संख्याओं का विरोध किया है।[1]

किन्तु आधुनिक युग के लेखक राज्य की जनसंख्या को किसी सीमा में बांधना उचित नहीं समझते। क्योंकि वर्तमान समय में कई ऐसे राज्य हैं जिनकी आबादी करोड़ों में आती है। जैसे भारत की आबादी 54 करोड़ से भी अधिक है, 'जनवादी' चीन की आबादी 68 करोड़ से भी अधिक है। सोवियत संघ की आबादी 22 करोड़ से कुछ अधिक है। किन्तु विश्व में सान मैरिनो जैसे कम आबादी वाले राज्य भी हैं जिनकी जनसंख्या केवल 15,000 है। मोनेको की जनसंख्या कुल 20,500 ही है।

इतना ही नहीं, वर्तमान समय में एक ओर कुछ राज्यों में आबादी की वृद्धि को प्रोत्साहित किया जाता है। क्योंकि जिस राज्य में जितनी अधिक जनसंख्या होगी वे उतने ही अधिक सैनिक युद्ध में लड़ने के लिये दे सकेंगे। हिटलर के समय में जर्मनी में तो अधिक संतान वाली स्त्री को पुरस्कृत किया जाता था। रूस में भी इसी का अनुकरण किया गया था। वहाँ भी वीरमाता की उपाधि दी जाती थी इसके विपरीत आधुनिक भारत में जनसंख्या की वृद्धि रोकने का प्रयास किया जा रहा है क्योंकि किसी भी देश की जनसंख्या उतनी ही होनी चाहिए जितनी के लिये राज्य में पर्याप्त सुविधा व साधन उपलब्ध हो और भारत की जनसंख्या देश में उपलब्ध साधनों की अपेक्षा अधिक है। भारत में अकाल, बाढ़, सूखा आदि ईश्वरीय प्रकोपों से मृत्यु संख्या अवश्य ऊपर पहुँच जाती है किन्तु उससे दुगने जन्म ले लेते हैं अतः जनसंख्या की वृद्धि आधुनिक काल में भारत की एक प्रमुख समस्या है। हम जनसंख्या का सीमा निर्धारण भले ही न करें किन्तु इतना तो विचार किया ही जा सकता है कि साधनों के अनुकूल ही हम जनता को सुविधा प्रदान कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। इसी लिये भारत सरकार परिवार नियोजन पर विशेष बल दे रही है। अतः हम कह सकते हैं कि राज्य के संगठन को सुस्थिर रखने के लिये पर्याप्त जन-संख्या होनी चाहिये, न बहुत अधिक, न बहुत कम। एक अच्छे राज्य के लिये उसकी जनसंख्या का उसकी सामर्थ्यानुसार होना ज्यादा उत्तम है।

प्रदेश—किसी भी जनसंख्या के निवास के लिये प्रदेश होना चाहिये किन्तु प्रदेश को कतिपय विद्वानों ने राज्य का मूल तत्व स्वीकार नहीं किया है। विशेष कर प्राचीन लेखकों ने इसे राज्य का आवश्यक अंग नहीं माना है जैसे जेलिनेक ने लिखा है कि 19 वीं शताब्दी से पहले किसी भी लेखक ने राज्य की परिभाषा में भूमि या प्रदेश का जिक्र नहीं किया है। दूसरों ने प्रदेश को राज्य का आवश्यक तत्व नहीं माना है।[2] डान डीगी भी प्रदेश को राज्य का अनिवार्य अंग नहीं मानते वे लिखते हैं, "यदि केवल सरकार के सिद्धान्त के अनुसार कोई जनसमूह इकाई के रूप में संगठित है तो उसे हम राज्य ही कहेंगे।"

1 Aristotle was clearly of the opinion that there ought to be a limit and he laid down the general principle that the number should be neither too small nor too large it should, he said, be large enough to be self sufficing and small enough to be well governed."
—Aristotle

2 "Duguit : Droit constitutionnel (1911) Vol I page 54.

वे यह भी कहते हैं कि राज्य अरब के रेगिस्तान में भी बन सकता है और ऐसे अन्य प्रदेश में भी संगठित किया जा सकता है जहाँ जमीन से कुछ भी प्राप्त करना असम्भव है। जहाँ न तो उपनिवेश बसाया जा सकता है और न खेती करके पेट भरा जा सकता है। विलोबी भी राज्य के बनाने के लिये भूमि को अपरिहार्य नहीं मानते। वे लिखते हैं, "राज्य अपने में न तो जनसंख्या है, न सरकार है, न न्यायालय है और न संविधान है। यह सत्य है कि राज्य वह प्रदेश भी नहीं जिस पर राज्य की प्रभुसत्ता मानी जाती है अथवा जिस पर उसका आदेश चलता है। राज्य वास्तव में निश्चित व्यक्तियों का एक समुदाय ही है जिसको राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित किया गया हो।"

किन्तु प्राचीन विचारकों से भिन्न प्रायः सभी आधुनिक विचारक भूमि अथवा प्रदेश को राज्य का आवश्यक अंग मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी जन समूह तब तक राज्य का निर्माण नहीं करता, जब तक वह एक निश्चित प्रदेश पर निवास नहीं करता। बेघर बार कबीले जो एक जगह से दूसरी जगह मारे मारे फिरते रहते हैं, राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। अतः सभी आधुनिक लेखक भूमि को राज्य का आवश्यक अंग मानते हैं। ब्लुंशली के अनुसार—"जिस तरह राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"[2] राज्य तथा अन्य संस्थाओं में इसी कारण अन्तर है क्योंकि राज्य राष्ट्रीय होता है। और संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकती है। राज्य के लिए भूमि आवश्यक है अन्य संस्थाओं के लिये भूमि आवश्यक नहीं है।

भूमि की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि बड़े राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्य अधिक उपयोगी होते हैं यद्यपि इनकी उपयोगिता के विषय में भी विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान बड़े राज्यों को अधिक उपयोगी मानते हैं तो कुछ छोटे राज्यों को। किन्तु विश्व में बड़े राज्यों के साथ ही साथ छोटे राज्यों का अस्तित्व भी है। प्लेटो तथा अरस्तू मध्य राज्यों के पक्ष पाती थे जो न अधिक बड़े हों, न बिल्कुल छोटे। रूसो ने इन दोनों के आधार पर सुशासित राज्य की एक निश्चित सीमा निर्धारित कर दी। रूसो के मतानुसार "विशाल राज्य की अपेक्षा छोटा राज्य अनुपातिक रूप में बलवान होता है।" यह भी सही है कि लोकतन्त्र के लिये अपेक्षाकृत छोटे राज्य सर्वाधिक उपयुक्त हैं। क्योंकि उनमें कम जनसंख्या के कारण जनता का परस्पर विचार विनिमय सरल होता है। वे सरलता पूर्वक एक दूसरे को अपने मत से अवगत करा सकते हैं। उनमें एक दूसरे के प्रति घनिष्ट परिचय होने के कारण पारस्परिक, सहयोग व समन्वय की संभावना अधिक होती है। छोटे राज्यों में

1. "The state itself is, then neither the people, the government, the Magistracy, nor the constitution, nor is it indeed the territory over which its authority extends. It is the given community of given individuals viewed in a certain aspect, namely as a political unity." —Willoughly.

2. As the state has its personal basis in the people, so it has its material basis in the land. "The people do not become a state until they have acquired a territory." —Bluntchli.

अधिक सतर्कता तथा सावधानी भी रखी जा सकती है। डि टाकविले के अनुसार "विश्व इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि किसी बड़े राष्ट्र ने चिरकाल तक जनतन्त्री सरकार के रूप को स्थिर रखा हो। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि बड़े जनतन्त्र की सत्ता छोटों की अपेक्षा सदैव अधिक महान् आपत्तियोंमें ग्रस्त होगी.......... सभी भावावेश, जो जनतन्त्री संस्थाओं के लिए सर्वाधिक घातक हैं, प्रदेश की वृद्धि के साथ फैलते हैं। जबकि उनके सम्मान की रक्षा करने वाले गुण उसी अनुपात से विस्तृत नहीं होते।" प्रत्यक्ष लोकतन्त्र जो रूसो को सर्वाधिक पसन्द था छोटे राज्य में ही पनप सकता है। इसका प्रत्यक्ष व सुन्दर उदाहरण स्विटजरलैंड है। छोटे राज्य में अधिकाधिक सहयोग व एकता होती है। वहाँ राष्ट्रीयता की भावना भी सर्वाधिक सक्षम होती है।

छोटे राज्यों में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। जैसे बड़े राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्य कम सुरक्षित रहते हैं तथा कभी कभी बड़े राज्य छोटे राज्यों को निगल भी जाते हैं। ट्रिट्श्के के मतानुसार छोटे राज्य उपयुक्त नहीं हैं। वह कहता है कि "छोटे राज्य का विचार उसकी दुर्बलता के कारण हास्यास्पद है जो स्वतः निन्दनीय है क्योंकि यह शक्ति का ढोंग करती है। छोटे राज्यों की अपेक्षा बड़े राज्य आर्थिक दृष्टि से भी सुदृढ़ होते हैं क्योंकि उनके पास अधिक साधन होते हैं। बड़े राज्यों में प्राकृतिक साधनों की भी प्रचुरता रहती है क्योंकि उसका क्षेत्रफल विशाल होता है। इसी कारण उनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है। जिस राज्य के जैसे आर्थिक स्त्रोत होते हैं उस राज्य की राजनीतिक स्थिरता भी उन्हीं के अनुकूल होती है। एक ऊंचे स्तर पर राष्ट्रीय जीवन व्यतीत करने तथा सभ्यता के भौतिक रूपों को विकसित करने एवं बाह्य आक्रामकों से अपनी रक्षा करने के साधन छोटे राज्यों के पास उतने नहीं होते जितने बड़े राज्यों के पास होते हैं। छोटे राज्यों की बड़ी संख्या से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भी खतरा रहता है।

परन्तु उपरोक्त विवेचन के पश्चात् भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि छोटे राज्य बड़े राज्यों की तुलना में कहीं भी पीछे नहीं रहे। छोटे राज्यों ने बड़े राज्यों की अपेक्षा कला, साहित्य, विज्ञान आदि में अधिक उन्नति की है। वस्तुतः राज्यों की असली परख तो यही है कि उन्होंने मानव की प्रगति एवं सभ्यता के विकास में क्या योग दिया है? उन्होंने सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में क्या सुधार किये हैं? ब्लुण्ट शली के अनुसार "रोम साम्राज्य के सम्मुख यूनान के नगर राज्य नगण्य थे किन्तु संसार के इतिहास में रोम के साथ ही एथेन्स का भी स्थान है।[1] बेलजियम, डेनमार्क, नीदरलैंड आदि राज्य भी छोटे राज्यों के रूप में हमारे सम्मुख एक अच्छा उदाहरण रखते हैं। छोटे राज्यों ने विश्व साहित्य एवं इतिहास को अमूल्य भेंट प्रदान की हैं जैसे ओल्ड टेस्टामेंट, होमरिक काव्य, ऐटिक तथा ऐलिजाबेथ नाटक आदि। मैकयावली, दांते आदि को पैदा करने वाले भी ये छोटे राष्ट्र ही थे। असली जनमत किस प्रकार कार्य करता है यह भी छोटे राज्यों में ही ठीक से ज्ञात किया जा सकता है। युद्ध और अशान्ति के भय से छोटे राज्यों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता था, अतः उनकी संख्या कम होते-होते नगण्य सी रह गई है। यदि युद्ध का भय मिट

1. Bluntchli—Theory of the State P. 237

बाये तो हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि छोटे राज्य विश्व रूपी आकाश में चमकते सितारों के समान फिर उदय होने लगेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

(3) सरकार किसी भी राज्य के लिये अपना राजनीतिक संगठन अवश्य होना चाहिए। उसका अपना शासन एवं सरकार होनी चाहिये जिसके माध्यम से वह अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति कर सकें तथा साथ ही साथ उन्हें चरितार्थ भी कर सकें क्योंकि शासन के बिना जनता असंगठित एवं अराजक जनसमूह के रूप में होगी और सामूहिक रूप से किसी भी कार्य को करने में असमर्थ होगी। सरकार ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य नीतियाँ निर्धारित की जा सकती हैं एवं सामान्य हितों को उन्नत किया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी राज्यों के लिए एक निश्चित आकार प्रकार की सरकार हो।

सरकार राज्य की आत्मा है। सरकार के बिना राज्य कायम नहीं किया जा सकता। सरकार यदि न हो तो राज्य मे अशांति ही अशांति रहे तथा मनुष्यों के समूह अव्यवस्थित हो जायें। आदिकाल से ही सरकार ने मनुष्यों को व्यवस्थित रहना सिखाया तथा उन्हें आज्ञा पालन करना सिखाया।

परन्तु राज्य में सरकार किस प्रकार की हो इसके लिए कोई नियम अथवा कानून नहीं है। जैसे—भारत, कनाडा, जापान, इंगलैंड, अमेरिका, न्यूजीलैंड, फ्रान्स, पश्चिम जर्मनी, इटली आदि में लोकतन्त्रीय सरकार है तथा इसके विपरीत रूस, चीन, फिनलैंड हंगरी, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड आदि देशों में साम्यवाद दल की तानाशाही सरकार है। टर्की, ईराक, सीरीया व पाकिस्तान मे क्रांतियों के फलस्वरूप सैनिक अधिकारियों ने अपनी तानाशाही स्थापित करली है। सऊदी अरब तथा नेपाल में राजतन्त्र है। लोकतन्त्र वाले देशों में एक सी सरकार नहीं है कहीं संसदीय सरकार है तो कहीं पर अध्यक्षात्मक सरकार है अतः यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य बनाने के लिये सरकार का रूप निश्चित नहीं है। किन्तु सरकार या शासन राज्य का आवश्यक मूल तत्व है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में सरकार ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हितों को उन्नत किया जाता है किन्तु यह बात ध्यान में रखी जाय कि सरकार के मौलिक अधिकार नहीं होते, इसके अधिकार उसे राज्य से मिलते हैं। जिसके पास सार्वभौमिकता होती है।

अतः हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि सरकार के बिना राज्य स्थिर नहीं रह सकता। यदि राज्य शरीर है तो सरकार उसकी आत्मा है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सरकार के बिना राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। रूसो के अनुसार सरकार एक मशीन मात्र है। सरकार राज्य का ही व्यवहारिक संगठन है। "सरकार राज्य के उद्देश्यों और लक्ष्यों को पूरा करने का साधन है।" लास्की के अनुसार सरकार के बिना राज्य का कोई अस्तित्व नहीं। राज्य सूक्ष्म धारणा है तो सरकार वास्तविक तथ्य, राज्य यदि स्थायी एवं स्थिर है तो सरकार अस्थायी एवं परिवर्तनशील है।

(4) प्रभुसत्ता—राज्य का चौथा मूल तत्व है प्रभुसत्ता। प्रभुसत्ता का अर्थ है-'सबसे बड़ीसत्ता'। यह राज्य की सर्वाधिक आवश्यक विशेषता है। राज्य की प्रभुसत्ता आन्तरिक रूप में उच्चतम तथा बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होनी चाहिये क्योंकि आंतरिक प्रभुसत्ता एक व्यक्ति समूह या दल में निहित हो सकती है। जिसे राज्य के सब नागरिकों तथा समुदायों पर उच्चतम एवं असीमित कानूनी अधिकार हो सकता है। बाहरी प्रभुसत्ता से तात्पर्य यह है कि राज्य पर किसी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण न हो। राज्य के अतिरिक्त अन्य संघों के पास जनता हो सकती है, भू प्रदेश हो सकता है किन्तु प्रभुसत्ता नहीं होती। राज्य में प्रभुसत्ता की शक्ति के कारण प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय को राज्य की इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ता है। गार्नर के अनुसार अपनी सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मनुष्यों द्वारा बनाये गये संघों से भिन्न है। आधुनिक राज्य प्रभु राज्य है प्रभु शक्ति के बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। डा. गार्नर के मतानुसार ऐसे राज्य भी राजसत्ता धरी हैं जो पूर्ण स्वतन्त्र चाहे न हो परन्तु लगभग स्वतन्त्र हों। कनाडा, न्यूजीलैंड, लंका और आस्ट्रेलिया इत्यादि अधिराज (Dominions) भी राज्य हैं। क्योंकि वे विदेशी और घरेलू मामलों में ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्र हैं। ग्रेट ब्रिटेन का इन अधिराज्यों पर केवल नाम मात्र का नियन्त्रण है। ये अधिराज्य चाहे तो स्वतन्त्र विदेश नीति का भी पालन कर सकते हैं जैसे लंका ने तटस्थता की स्वतन्त्र विदेश नीति अपनाई है। किन्तु किसी भी राज्य को किसी अन्य राज्य के व्यक्तियों और संस्थाओं पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त नहीं है। प्रत्येक सरकार अपने राज्य में सर्वोच्च होती है और उसके आदेशों का पालन राज्य में रहने वाले सभी लोगों को करना पड़ता है। एक राज्य में दो स्वतन्त्र सरकार स्थापित नहीं की जा सकती यदि ऐसा हो जाये तो राज्य दो भागों में विभक्त हो जाता है। संघ राज्यों में शक्तियाँ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में बंट जाती है परन्तु उससे राजसत्ता में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रोफेसर विलोबी के अनुसार राज्य के लिए इन चारों तत्वों के अतिरिक्त राज्य के लिये एक आवश्यक तत्व और भी है और वह है प्रजा द्वारा आज्ञा पालन की भावना। यदि लोगों में राज्य के प्रति आज्ञा पालन का भाव नहीं है तो वह राज्य अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता।

राजनीति शास्त्र में प्रारम्भ से ही 'राज्य' एवं 'सरकार' शब्द प्रायः एक दूसरे के लिये प्रयोग किये जाते रहे हैं कि जैसे इन शब्दों में कोई अन्तर न हो प्रायः दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग कर दिये जाते हैं। हाब्स ने तथा कुछ राजनीतिक दार्शनिकों ने भी राज्य एवं सरकार को भिन्न नहीं माना है। फ्रांस का सम्राट लुई चौदहवां कहा करता था कि "मैं राज्य हूँ।" इंगलैंड के स्टुअर्ट शासक भी अपनी निरंकुश सत्ता को न्याय उचित सिद्ध करने के लिये राज्य व सरकार में अन्तर नहीं मानते थे। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये दोनों शब्द ही परस्पर भिन्न हैं। सरकार और राज्य एक नहीं है। राज्य एक राजनीतिक रूप से संगठित जन समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग में निवास करता है उसके अस्तित्व का उद्देश्य मानव जीवन का उच्चतम विकास व उत्तम जीवन है और इसी के

सतत प्रयास में वह निरन्तर लगा रहता है। किन्तु 'सरकार' राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है जो राज्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक तो है परन्तु जो राज्य का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। सत्रहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम जान लॉक ने राज्य तथा सरकार में अन्तर किया था उसके पश्चात राजनीतिक शास्त्र के आधुनिक सभी लेखक एवं विद्वान राज्य तथा सरकार में अन्तर करते आये हैं किन्तु साधारण जनता विशेषतः भारत में आज भी इन दोनों शब्दों में अन्तर नहीं समझती। यही कारण है कि हम आये दिन कहते व सुनते रहते हैं कि शिक्षा का संचालन एवं उसकी प्रगति के लिए कदम उठाना राज्य का उत्तरदायित्व है। राज्य की ओर से कई नए कर लगा दिये गए हैं। नई सड़क का निर्माण राज्य की ओर से किये जाते हैं। आजकल अकाल राहत कार्य भी राज्य ने शुरू किये हैं इन सभी कार्यों को हम राज्य के ही समझते तथा कहते हैं तथा बोलचाल की भाषा में हम "सरकारी कर्मचारी" अथवा "राज्य कर्मचारी" एवं "सरकारी विद्यालय" तथा "राजकीय विद्यालय" का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं और यह जानने का प्रयत्न तक नहीं करते कि कर्मचारी या विद्यालय या पुस्तकालय सरकार के नहीं वरन् राज्य के होते हैं क्योंकि सरकार तो बदलती रहती है किन्तु राज्य प्रायः नहीं बदलता और राजनीति शास्त्र की दृष्टि से राज्य तथा सरकार दोनों में मौलिक अन्तर है। राज्य एक व्यक्तित्व सम्पन्न संस्था है। सरकार उसके आधीन रह कर उसकी इच्छाओं को क्रियात्मक रूप प्रदान करने वाली यन्त्र मात्र है। राज्य यदि कल्पना है तो सरकार यथार्थ व स्थूल स्वरूप है। विलोबी के अनुसार —"राज्य व सरकार का अन्तर उस अन्तर के समान है जो व्यक्ति के नैतिक तथा बौद्धिक व्यक्तित्व और उसके भौतिक व्यक्तित्व में होता है।"[1]

सरकार या शासन की रचना उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये होती है जिसके लिये राज्य की स्थापना की जाती है। सरकार राज्य की अनुगामिनी होती है। अतः सरकार की शक्तियां मौलिक नहीं हैं। सरकार वही कार्य कर सकती है जिनकी राज्य को अपेक्षा होती है। सरकार उन्हीं कार्यों को सम्पादित करती है जिन्हें राज्य संविधान द्वारा सरकार को करने की आज्ञा देता है। अतः सरकार राज्य के ही अन्तर्गत होती है। राज्य एक सार भूत सत्ता है जब कि सरकार एक सुदृढ़ वास्तविकता है। किन्तु यह राज्य का यन्त्र है इसी कारण इसकी शक्तियाँ राज्य से प्राप्त होती है और मौलिक नहीं होती। मौलिक शक्तियाँ केवल राज्य द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं जो स्वयं प्रभुसत्ता है। किन्तु सरकार प्रभुसत्ता नहीं है। वह तो केवलमात्र उस प्रभुसत्ता की प्रतिनिधि है। राज्य और सरकार में मुख्यतया निम्न अन्तर है।

(1) सरकार केवल राज्य का अंग मात्र है—राज्य को बनाने के लिये मुख्यतया चार तत्त्व होने चाहिए—भूमि, जनसंख्या, सरकार व प्रभुसत्ता। अतः हम कह सकते हैं कि

1. "The distinction between State and government is anologous to the distinction between a given individual as a moral and intellectual being and as having a physical body".
Willoughby (The Fundamental Concepts of Public Law) P 45.

राज्य के चार तत्वों में सरकार भी एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि इसके बिना समाज में शान्ति एवं व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती।

(2) राज्य के पास राजसत्ता है, सरकार के पास नहीं—राज्य के पास राजसत्ता रहती है जो राज्य का महत्वपूर्ण तत्व है। राजसत्ता के बिना कोई राज्य नहीं बनाया जा सकता। उदाहरण के लिये 1947 से पूर्व भारत में अंग्रेजी शासन का आधिपत्य था अतः तब भारत एक राज्य नहीं था। सरकार के पास राजसत्ता नहीं होती क्योंकि सरकार तो बदलने वाला संगठन है जब कि राज्य सामान्य रूप से स्थाई होता है।

(3) राज्य की शक्ति मौलिक होती है और सरकार की गौण तथा प्राप्त की हुई होती है—यदि राज्य को व्यक्तित्व सम्पन्न मान भी लिया जाये तो राज्य स्वामी है और सरकार उसकी सेवक है। राज्य यदि प्रधान है तो सरकार उसका प्रतिनिधि संगठन। सरकार के प्रधान व प्रतिनिधि रूप को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने एक स्थान पर लिखा है—"राज्य एक आदर्श व्यक्ति है जो अरूप अदृश्य तथा अमर है। सरकार केवल प्रतिनिधि है यद्यपि अपने प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में वह पूर्ण प्रतिनिधि है। किन्तु उस सीमा के बाहर वह पूर्णतः एक अवैध छीना झपटी है।"[1] अतः राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने का यंत्र हम सरकार को कह सकते हैं।

(4) राज्य केवल कल्पना है, सरकार एक वास्तविकता है—राज्य कोई मूर्तिमान अथवा साकार वस्तु नहीं है। वह केवलमात्र एक विचार है जिसका कोई भौतिक अथवा साकार रूप नहीं है। ठीक इसके विपरीत सरकार एक साकार, स्पष्ट एवं व्यक्त की जा सकने वाली वस्तु है। सरकार राज्य का एक सक्रिय रूप है। राज्य की अभिलाषा और संकल्प की अभिव्यक्ति एवं सम्पादन सरकार द्वारा ही होता है। राज्य की राजनीति को क्रियान्वित करने का कार्य सरकार ही करती है। अतः सरकार व्यक्तियों का वह निश्चित समूह है जिसके हाथ में शासन की बागडोर होती है और जो सम्पूर्ण राज्य के क्रिया कलापों का निर्धारण करती है। राज्य ऐसी वस्तु नहीं है जो दिखाई जा सके परन्तु सरकार एक वास्तविकता है राज्य की एक निश्चित नीति होती है जिसे सरकार द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।

(5) राज्य स्थायी, सरकार अस्थायी—राज्य प्रायः स्थायी होती है जबकि सरकार अस्थाई होती है। सरकारें शीघ्र या देरी से परन्तु बदलती अवश्य रहती है। कारण कभी किसी दल की सरकार होती है तो कभी किसी दल की। जो दल शक्ति सम्पन्न होता है वही अपनी सरकार बना लेता है। अतः सरकार अस्थायी तथा परिवर्तनशील है। वस्तुतः सरकार के बदलने का राज्य के स्थायित्व पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता भले कितनी ही सरकारें बदल जायें। सत्ता के रूप में राज्य स्थायी है और सरकारें अस्थाई राज्य का अन्त तो केवल तब होता है जब कोई राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। जैसे मुसोलिनी

---

1. "The State itself is an ideal person, intangible invisible &, immutable. The government is an agent and within the sphere of the agency, a perfect representative, but out side that, it is a lawless usurpation." —Maciver
(Quoted by Wilson in 'Elements of Modern Politics" P. 55.)

ने प्रशीसीनीया को पराधीन बना लिया था तब प्रशीसीनीया के राज्य का अलग से कोई अस्तित्व नहीं था। हिटलर ने भी आस्ट्रीया, पोलैंड, बेल्जियम आदि देशों को विजय कर अपने राज्य में मिला लिया था तो वे राज्य नहीं रहे थे। किन्तु इन राज्यों ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और फिर से राज्य का रूप धारण कर लिया। सन् 1947 से पहले हमारा देश भारत स्वतन्त्र नहीं था। अतः वह भी स्वतंत्र राज्य नहीं था किन्तु जब हमने अपने देश को स्वाधीन करा लिया तो अब भारत भी एक राज्य है, स्वतन्त्र राज्य। वास्तविकता तो यह है कि राज्य के अस्तित्व का बीज मानव स्वभाव में ही निहित है। अतः वह उस समय तक स्थायी रहेगा जब तक मानव तथा उसकी राजनीतिक भावना विद्यमान रहेगी।

(6) राज्य रूप परिवर्तन नहीं करता, सरकार रूप परिवर्तन करती रहती है—सम्पूर्ण विश्व में लगभग सभी राज्य सादृश्य हैं क्योंकि राज्य बनाने के लिये जिन प्रमुख चार तत्वों (1) भूमि (2) जनसंख्या (3) शासन (4) प्रभुसत्ता की आवश्यकता होती है वे सभी राज्यों में विद्यमान हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि सरकार राज्य के प्रमुख चार तत्वों में से एक तत्व है। मैकाइवर ने लिखा है, "जब हम राज्य के बारे में बात करते हैं तो हमारा अर्थ उस संगठन से होता है जिसका प्रशासकीय अंग सरकार होती है। राज्य का एक संविधान होता है नियम संग्रह होता है सरकार निर्माण की विधि होती है तथा नागरिकों का एक समूह होता है। जब हम सम्पूर्ण ढांचे के विषय में विचार करते है तब हम राज्य पर विचार करते हैं।"[1] किन्तु विश्व के भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार की सरकारें हैं जैसे फ्रांस इटली कनाडा जर्मनी लंका भारत जापान इंगलैंड आदि देशों में लोकतन्त्र है। तथा हालैंड नार्वे व स्वीडन में संसदीय सरकार है व रूस, चीन, पूर्वी जर्मनी, हंगरी पोलैंड, बल्गारिया, युगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी दल की तानाशाही सरकारें है जबकि नेपाल, सऊदी अरब-ईरान आदि में आज भी राजतन्त्र है। पाकिस्तान में सैनिक क्रांति के फल स्वरूप सैनिक सरकार स्थापित हो गई है। किन्तु इन सब देशों में राज्य का स्वरूप वही है।

(7) राज्य के लिये सीमा आवश्यक है, सरकार के लिये नहीं—राज्य के लिये क्षेत्र या भूमि का होना आवश्यक है किन्तु सरकार के लिये नही कारण कि किसी एक प्रदेश की सरकार कभी कभी दूसरे प्रदेश में भी स्थापित हो जाती है जैसे द्वितीय महायुद्ध में जब नार्वे जर्मनी से हार गया तो नार्वे सरकार ब्रिटेन में स्थापित हुई और वही से कार्य करती रही। विश्व युद्ध के बाद जब जर्मनी की हार हो गई तो सम्राट वापस नार्वे लौट गये और अपने देश में उनकी ही सरकार वैध रूप से पुनः कार्य करने लगी। अतः स्पष्ट है कि सरकार के लिये किसी क्षेत्र या सीमा का निर्धारण आवश्यक नहीं है। राज्य पूर्ण तथा व्यापक होता

1. "When we speak on the State, we mean the organisation of which the Government is the administrative organ....... A State has a constitution, a code of laws, a way of setting up its government, a body of citizens. When we think of this whole structure, we think of the State." —Mac Iver.
(Quoted by Dorothy M. Pickles in Introduction to Politics P. 37)

है उसके अन्तर्गत राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्ति आ जाते हैं, किन्तु सरकार में वे ही व्यक्ति आते हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध शासन सूत्र से होता है। राज्य एक कल्पना है सरकार यथार्थ।

(8) नागरिक राज्य का सदस्य होता है सरकार का नहीं—मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है। जिस राज्य में जन्म होता है स्वभाविकतः वह उसी राज्य का सदस्य माना जाता है। किन्तु सरकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह भी उसे सदस्य माने-सरकार का सदस्य तो उसे तभी माना जायेगा जब वह सरकार के संचालन में योगदान करता है अन्यथा राज्य का सदस्य होने पर भी उसे सरकार का सदस्य नहीं माना जायेगा। सरकार के अन्तर्गत वे ही व्यक्ति आते हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से शासन सूत्र से होता है। यूँ तो राज्य में सभी नागरिक शामिल होते हैं परन्तु शासन में वे ही कर्मचारी सम्मिलित किये जाते हैं जो राज्य की इच्छा को व्यक्त करते हैं व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होता कि वह राज्य का सदस्य बनें या नहीं बनें क्योंकि आधुनिक युग में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही किसी न किसी राज्य का सदस्य बनता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि रक्त सम्बन्ध द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का सदस्य बनना पड़ता है। किन्तु ठीक इसके विपरीत सरकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति सरकार का सदस्य हो। उसकी सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जो व्यक्ति शासन सूत्र में पदों पर कार्य करते हैं अथवा मनोनीत किये जाते हैं वे ही सरकार के सदस्य माने जाते हैं। उदाहरणार्थ-जो व्यक्ति प्रधान मंत्री, मंत्री, मुख्यमन्त्री, सचिव अथवा अन्य कोई भी विभागीय पदाधिकारी कर्मचारी आदि होते हैं वे सरकार के सदस्य माने जाते हैं परन्तु साधारण नागरिक को हम सरकार का सदस्य नहीं कह सकते। सरकार का क्षेत्र सीमित तथा संकुचित होता है जबकि राज्य पूर्ण तथा व्यापक होता है। सरकार राज्य की चेरी है। अतः सरकार की शक्तियाँ मौलिक नहीं होती। सरकार वही कार्य कर सकती है जिसकी राज्य अपेक्षा करता है। सरकार राज्य का कार्यवाहक यन्त्र मात्र है।

(9) राज्य अप्रत्यक्ष होता है, सरकार प्रत्यक्ष होती है—राज्य का वास्तविक कोई रूप नहीं होता जबकि सरकार का एक निश्चित रूप होता है राज्य एक सूक्ष्म धारणा है। जबकि सरकार एक ठोस एवं मूर्तिमान तथ्य है।

(10) जनता सरकार का विरोध कर सकती है, किन्तु वह राज्य का विरोध नहीं कर सकती - राज्य को सार्वभौमिक अधिकार प्राप्त होते हैं किन्तु सरकार केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग कर सकती है जो सरकार से उसे प्राप्त होते हैं। सरकार के अधिकारों की संख्या भी अत्यन्त सीमित होती है। स्वतंत्र देशों में नागरिकों को सरकार का विरोध करने का अधिकार तो प्राप्त है किन्तु उन्हें राज्य का विरोध करने का अधिकार नहीं है क्योंकि राज्य में संपूर्ण जनता स्वयं सम्मिलित होती है जबकि सरकार जनता की सेवक मात्र होती है। यदि वह जनता के विरुद्ध कोई कार्य करें तो उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सकता है और उसके अधिकारियों को दण्डित किया जा सकता है तथा सरकार द्वारा जो कुछ भी हानि हुई हो उसकी पूर्ति सरकार को करनी पड़ती है। सरकार

प्रभुसत्ता नहीं है जबकि राज्य प्रभुसत्ता है। सरकार तो केवल मात्र प्रभुसत्ता शक्ति की प्रतिनिधि है एवं उसके पास अधिकार का केवल पट्टा है जो प्रभुसत्तावान राज्य द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सरकार को अपने स्वामी राज्य के सम्मुख नतमस्तक होना ही पड़ता है राज्य की शक्ति एवं अधिकार मौलिक होते हैं।

(11) राज्य में सम्पूर्ण जनसंख्या सम्मिलित होती है, सरकार में कतिपय व्यक्ति ही सम्मिलित किये जाते हैं—सभी नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं किन्तु सरकार में वही कर्मचारी होते हैं जो राज्य की इच्छा को व्यक्त करते हैं या राज्य की इच्छाओं की पूर्ति का पालन करवाते हैं। सरकार के द्वारा राज्येच्छा का निर्धारण होता है। अथवा उसका प्रकाशन व पूर्ति होती है। अतः सरकार राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या का एक छोटा सा अंश है। सरकार के अन्तर्गत कार्यकारिणी, विधानमंडल न्यायपालिका के अंग आते हैं। सरकार में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री अन्य मन्त्री और सचिव आदि होते हैं। ये सब सरकार के सदस्य होते हैं। इच्छानुसार इनमें परिवर्तन (चुनाव द्वारा) किया जाता रहता है इनकी सदस्यता स्थायी नहीं होती जबकि राज्य की सदस्यता स्थायी होती है।

(12) सरकार राज्य की एजेन्ट होती है—डा. गार्नर के मतानुसार "सरकार उस संगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा व्यक्त करता है। अपने आदेश जारी करता है। और अपने कार्यों का सम्पादन करता है।"[1]

लास्की के कथनानुसार—"सरकार का अस्तित्व राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये होता है। सरकार स्वतः दबाव डालने वाली सर्वोपरि सत्ता नहीं है, वह तो केवल शासन मात्र है जो इस सत्ता के उद्देश्यों को कार्यरूप देती है।"[2] सरकार अपनी समस्त शक्ति राज्य से ग्रहण करती है तथा प्रजातन्त्र में वह अपने समस्त अधिकार भी जनता द्वारा ही प्राप्त करती है जो राज्य का महत्व पूर्ण तत्व है। यही कारण है कि प्रजातन्त्र में सरकार को राज्य व जनता का सेवक समझा जाता है। वस्तुतः सरकार का कार्य जनमानस के उद्देश्यों की पूर्ति करना ही है उसके अस्तित्व का उद्देश्य मानव का उत्तम जीवन है। और इसी ध्येय की पूर्ति के लिये इसका अस्तित्व बना रहता है।

इस सब के बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य अविनाशी है या उसका विनाश कभी भी संभव नहीं है। यह सत्य है कि प्रभुसत्ता राज्य का सार है और जब तक कोई भी राज्य प्रभुसत्ता को धारण किये रहता है उसका राज्यत्व बना रहता है। प्रभुसत्ता के लोप से राज्य के राज्यत्व का स्वरूप भी बदल जाता है। जैसे द्वितीय महायुद्ध के समय आस्ट्रीया, पोलैंड आदि देशों पर जर्मनी ने विजय प्राप्त कर ली थी। 1945 में मित्र राष्ट्र के सम्मुख अपना आत्म समर्पण करने के पश्चात् जर्मनी इटली जापान आदि प्रायः राज्य

1. "Government is the agency or machinery through which the collective will of the people or state may be formulated, expressed and executed."

—Dr. Garner. (Political science and Government) Page 93.

2. "It exists to carry out the purpose of the state It is not it self the supreme coercive power. It is simply the mechanism of administration which gives effect to the purpose of the power."

—Laski

क्षेत्र यांत्रिक क्रिया है, उसकी शक्ति दमन है तथा उसकी विधि कठोर है।"[1] राज्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो राजनीतिक सम्बन्धों से बंधा होता है तथा किसी सरकार के नियंत्रण में होता है। उसका आधिपत्य किसी निश्चित भू-भाग पर होता है। राज्य समाज का एक रूप है किन्तु समाज राज्य का एक रूप नहीं है। मैकाइवर के शब्दों में "राज्य एक संगठन है जो न तो समाज का समवयस्क है, न समाज के समान व्यापक है उसका सगठन समाज के भीतर निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है।"[2] यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि राजनीति-शास्त्र के लिये राज्य एवं समाज दोनों दो भिन्न संगठन हैं। विल्सन के मतानुसार—"वे लेखक जो राज्य के कार्यों को महत्ता प्रदान करते हैं राज्य तथा समाज को पर्यायवाची मानते हैं। जबकि वे लेखक जो राज्य के कार्यों को कम करना चाहते हैं उसे सामाजिक सगठन का एक ऐसा रूप समझते है जिसके अन्तर्गत भौतिक नियन्त्रण की व्यवस्था सर्वोच्च बन जाती है। सामाजिक को राजनैतिक के साथ एक रूप करने से न तो राज्य स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है और न समाज ही।"[3]

यूनान के नगर राज्यों व आधुनिक युग के राज्यों मे जमीन-आसमान का अन्तर है। वर्तमान समय में सामाजिक व राजनीतिक जीवन में भी स्पष्ट अन्तर है। समाज से उन मनुष्यों का बोध होता है जो परस्पर सामाजिक बधनों में बंधे रहते हैं। इसके विपरीत राज्य समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित की जाती है। समाज का उद्देश्य मानव जीवन को नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, शैक्षणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप से उन्नत बनाना है, मानव की सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं व कलाओं को विकसित करना है। समाज एक ऐसा समूह है जिसमें मनुष्य अपने कार्यों व उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए सगठित होता है।

बार्कर ने समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है, "समाज से हमारा तात्पर्य अनेक उद्देश्यों तथा अनेक संस्थाओं वाले उन सब ऐच्छिक समूहों तथा समुदायों से होता है जो किसी राष्ट्र के अन्तर्गत होते हैं व सामूहिक रूप से तथा समष्टि रूप से ये ही समुदाय

---

1. "The area of society is voluntary co-operation, its energy that of good will, its method that of elasticity; while the area of state is rather that of mechanical action, its energy force and its method rigidity." —E. Barker.
2. "The state is a structure not coeval and co extensive with society but built with in as a determinate order for the attainment of specific ends." —Mac Iver.
3. "Those writers who tends to exalt the functions of the state, think of the State and society as synonymous, while writers who minimize the functions of the State view it merely as one form of social organization, the form in which the machinery of physical control is developed to its highest point. To identify the social with the political would bar any clear understanding of the state or sociey" —Wilson (Elements of Modern Politics P. 53)
4. "By Society, we mean the whole sum of voluntary bodies or associations constituted in the nation with all their various purposes and with all their institutions. Taken together and regarded as a whole, these associations form the social substance which goes by the general and comprehensive name of society." —Barker (Principles of Social and Political Theory—P. 3.)

उस सामाजिक ढांचे का निर्माण करते है जिसे हम समाज के नाम से पुकारते है।"[4] समाज की तरह ही राज्य भी कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए बनाया गया प्राणी समूह है किन्तु बार्कर के अनुसार दोनों के उद्देश्य भिन्न है, "राज्य का केवल एक ही उद्देश्य है किन्तु समाज के बहुल उद्देश्य हैं समाज के समस्त उद्देश्य महान एवं बहुमुखी हैं।" आगे हम निम्न शीर्षकों के अंतर्गत इन दोनों के अन्तर को और भी अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे—

(1) व्यवस्था की दृष्टि से अंतर—राज्य एक राजनीतिक व्यवस्था है जबकि समाज एक सामाजिक व्यवस्था है। राज्य द्वारा ही समाज में शान्ति स्थापित की जा सकती है। सर्वप्रथम व्यवस्था सामाजिक रूप से कुटुम्ब या परिवार की और राजनीतिक रूप से पहली व्यवस्था कबीला थी। आज की सरकार जो राज्य के अन्तर्गत होती है, कबीले का ही व्यापक रूप है और आज का समाज पहले के छोटे परिवारों का विस्तृत रूप है किन्तु दोनों की व्यवस्था मे बहुत बड़ा अन्तर है। राज्य की व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से की जाती है जबकि समाज की व्यवस्था परिवारों के हितों व सामाजिक मूल्यों को दृष्टिगत रखते हुए वैयक्तिक रूप से की जाती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि समाज की व्यवस्था राज्य द्वारा ही की जा सकती है। यदि राज्य यह व्यवस्था बनाये न रखें तो समाज का अस्तित्व ही समाप्त प्रायः हो जाये। समाज का कोई भौतिक आधार नहीं होता। उसके अधिकार में कोई भूमि नहीं होती। वह तो केवल मनुष्यों के पारस्परिक बन्धनों पर निर्भर रहता है। परन्तु राज्य में मनुष्य के परस्पर के बन्धनों को इतना महत्व नहीं दिया जाता। समाज का क्षेत्र सीमित भी हो सकता है, किसी एक परिवार के रूप में और विस्तृत भी हो सकता है, सम्पूर्ण विश्व के रूप में। किन्तु राज्य का अस्तित्व बिना किसी खास निश्चित भूमि के कदापि नहीं हो सकता। समाज में किसी प्रकार की सुदृढ़ व्यवस्था नहीं होती उदाहरण स्वरूप जैसे- शिकारी समाज में किसी प्रकार का शासन नहीं होता किन्तु राज्य में राजनीतिक व्यवस्था अवश्य होती है।

(2) राज्य बाह्य सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है, जबकि समाज अंतरात्मा की भावना को प्रभावित करता है—समाज व राज्य में बाह्य एवं अन्तर का भेद भी है। राज्य कानून के बल से नागरिकों के बाहरी सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कष्ट दे अथवा हानि पहुँचाये तो कानून अपराधी को दंडित करता है। इसके विपरीत समाज हमें अच्छे कार्यों के करने की ओर बढ़ने को प्रेरित करता है। वह पाप और पुण्य की भावना से हमें झकझोर कर अच्छे कार्यों में संलग्न रखता है। वास्तव में देखा जाय तो समाज पारस्परिक स्नेह को जन्म देता है। मैकाइवर के अनुसार "परिवार या धर्म अथवा क्लब जैसे समाज के संगठन विद्यमान है जिनकी उत्पत्ति अथवा प्रेरणा का स्रोत राज्य नहीं होता। इसी प्रकार रीति-रिवाज अथवा प्रतिद्वन्दिता जैसी सामाजिक शक्तियां हैं जिनकी रक्षा अथवा जिनका सुधार राज्य कर सकता है परन्तु राज्य उनकी रचना नहीं कर सकता है। इसी प्रकार मित्रता और ईर्ष्या जैसे सामाजिकता के प्रेरक भाव भी है जो ऐसे घनिष्ट और व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो

राज्य के महान यन्त्र द्वारा नियन्त्रित नहीं होते।"[1]

(3) समाज के पास कोई प्रभुता नहीं होती, जबकि राज्य प्रभुता सम्पन्न होता है— राज्य के पास अपने नियमों को पालन करवा सकने की शक्ति एवं क्षमता रहती है। यदि कोई व्यक्ति राज्य के नियम एवं कानूनों का उल्लंघन करता है तो राज्य उसे दंडित कर सकता है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता है तो समाज केवल मात्र उसे बहिष्कृत कर सकता है, दंडित नहीं कर सकता। समाज के पास किसी को दंड देने का अधिकार नहीं है और न ही उसके पास राज्य की तरह अपने आदेशों का पालन करवाने के लिए पुलिस, सेना अथवा न्यायालय ही होते हैं। बार्कर के अनुसार "समाज का क्षेत्र स्वेच्छा तथा सहयोग का है, उसकी शक्ति सद्भावना की है तथा उसका तरीका लचीलेपन का है, जबकि राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक है। उसकी शक्ति पशुबल है तथा उसका तरीका दृढ़ता का है। (The area of the society is voluntary. Co-operation; its energy is that of good-will and its method is elasticity : while the area of the other (state) is rather that of mechanical action, its energy is force and method rigidity.)—Barker.

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राज्य के पास भौतिक बल होता है जबकि समाज के पास केवल नैतिक बल होता है जिसके आधार पर वह मनुष्य की भावना को प्रेरित कर सकता है परन्तु अपनी किसी भी बात को मनवाने के लिये समाज व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता जबकि पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था होने के नाते राज्य के कानूनों के पीछे शक्ति होती है। समाज के भी अपने नियम होते हैं किन्तु ये नियम आदेशात्मक अथवा आज्ञा सूचक नहीं होते। ये केवल आचरण के नियम मात्र हैं तथा उनका पालन करना अधिकांशतः व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है।

(4) क्षेत्र की दृष्टि से अंतर—क्षेत्र के बिना राज्य की कल्पना करना असंभव है किन्तु समाज के लिये किसी निश्चित क्षेत्र सीमा अथवा भूमि की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि समाज की सीमा संकुचित भी हो सकती है और विशाल भी। वह स्थानीय भी हो सकता है एवं अन्तर्राष्ट्रीय भी। जबकि राज्य का कार्य क्षेत्र राजनैतिक सुव्यवस्था तक ही सीमित रहता है। मैकाइवर के अनुसार "राज्य का ढांचा समाज का समानपदी अथवा सहयोगी नहीं है अपितु राज्य समाज के ही अन्तर्गत विशेष उद्देश्यों के लिये स्थापित निश्चित व्यवस्था है।"[2]

1. "It is perfectly obvious if only we look at the facts of the case that there are social forms like the family or the church or the club which own neither their origin nor their inspiration to the state and social forces like custom or competition, which the state way protect or modify but certainly does not create and social mothes like friendship or lealovsy which establish relation ship too intimate and personal to be controlled by the great engine of the state"

—Mac Iver (The Modern State P 5)

2. "The State is a Structure not coeval and Co-extensive with society, but built within it is a determinate order for the attainment of specific ends."
Mac Iver—(The Modern State P. 40)

(5) प्राचीनता व नवीनता का अन्तर—समाज राज्य से अधिक प्राचीन है। सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक परम्पराओं का जन्म राज्य के कानूनों व नियमों से पूर्व हुआ है। जब मनुष्य संगठित नहीं था और खाना बदोशों की तरह अपने-अपने अलग कबीलों के रूप में जीवन व्यतीत करता था उसका कोई व्यवस्थित संगठन नहीं किन्तु तब भी असंगठित रूप में समाज तो था ही। धीरे-धीरे व्यवस्थानुरूप समाज संगठित होता गया और मानव सभ्यता के क्रमिक विकास से मनुष्य को राज्य की आवश्यकता महसूस होने लगी। गार्नर के अनुसार—"राज्य एक आवश्यक समुदाय है, दूसरे समुदाय ऐसे नहीं हैं। मनुष्य बिना किसी अन्य संस्था के सदस्य बना रह सकता है और वास्तव में बहुत से मनुष्य ऐसे ही मिलेंगे परन्तु कोई भी मनुष्य राज्य से बाहर नहीं रह सकता।'

(6) समाज राज्य से अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक है जैसा मैकाइवर के अनुसार पहले लिखा जा चुका है कि राज्य का संगठन न तो समाज का समवयस्क है और न समाज के ही समान व्यापक है अपितु राज्य का संगठन समाज के भीतर निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये स्थापित है। इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि समाज राज्य से व्यापक है क्योंकि वह मनुष्य के संपूर्ण जीवन से सम्बन्धित है। समाज मनुष्य के धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के समस्त पहलुओं से, सम्बन्धित है, बना हुआ है। वह मनुष्य का सर्वांगीण विकास चाहता है। इसके विपरीत राज्य मुख्य रूप से मनुष्य के राजनीतिक पहलू से ही अधिक निकट व सम्बन्धित है। समाज मनुष्य के जीवन की समस्त बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करता है परन्तु राज्य विशेष चिन्ता उसके सामाजिक जीवन की नहीं करता किन्तु समाज के लिये राज्य का महत्व है इस बात की पुष्टि में श्री बार्कर ने लिखा है कि समाज राज्य द्वारा कायम रखा जाता है और यदि समाज इस प्रकार कायम न रखा जाये तो इसका अस्तित्व ही न रहे। समाज यदि ईंट पत्थर है तो राज्य उसकी बनी दीवार के बीच लगी हुई सीमेंट या चूने के समान है जो ईंटों और पत्थरों को यथा स्थान बनाये रखती है ताकि दीवारें जैसी की तैसी ही बनी रहें।

(7) संगठन का अन्तर—संगठन की दृष्टि से देखा जाय तो राज्य एक ही वैध संस्था है जब कि समाज में अनेक संस्थाएं अन्तर्निहित होती है। समाज के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसमें संगठन हो ही जब कि राज्य का संगठित रूप आवश्यक एवं अपेक्षित है। राज्य तो व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो राजनीतिक सम्बन्धों से बन्धा है, तथा जो किसी सरकार के अधीन और उसके द्वारा संगठित है। आरम्भ से ही देखा जाये तो समाज परिवार एवं कबीलों के रूप में भी एक तरह से असंगठित ही था। राज्य अथवा सरकार ने ही सर्वप्रथम समाज को एक संगठन का रूप दिया। राज्य या सरकार के बिना समाज में संगठन नहीं रह सकता।

प्रो. गार्नर के अनुसार राज्य एक सतत और स्थायी समुदाय है। यह सनातन एवं सतत है। इसका अन्त नहीं होता। किन्तु यह सत्य है कि राज्य समाज का केवल एक भाग है क्योंकि समाज राज्य से अधिक व्यापक होता है। उसमें अनेक संस्थाएं होती हैं

[illegible]

राज्य भी उन्हीं में से एक है वैसे राज्य और समाज के अपने-अपने उद्देश्य हैं कार्य हैं अपनी अपनी विशेषता हैं, अपनी अलग व्यवस्था है कार्य प्रणाली है यहां तक कि उनकी पद्धति में भी अन्तर है। राज्य बल प्रयोग करता है जब कि समाज स्वेच्छा से सहयोग को प्रमुखता देता है। अतः यह स्पष्ट है कि दोनों में महान् अन्तर है—मैकाइवर समाज और राज्य को एक मानने वाले हीगल, हिटलर, मुसोलिनी आदि विचारकों से सहमत नहीं है। उनके अनुसार "समाज तथा राज्य को एक ही मानना सबसे अधिक भ्रांति उत्पन्न करना है। क्योंकि इससे समाज व राज्य की सब समझदारी रुक जाती है।"[1]

राज्य और संस्थाएँ या संघ

प्रारम्भ में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएं बहुत ही कम थी। अतः संघों की संख्या भी सीमित थी किन्तु वर्तमान भौतिक वादी युग में मनुष्य के जीवन की सामाजिक आवश्यकताएं अत्यधिक हो गई हैं। अतः आज का समाज संघों या समुदायों का पूरा एक जाल बन गया है।" बार्कर के अनुसार "हम समाज को सामान्य जीवन बिताने वाले कुछ व्यक्तियों के रूप में उतना नहीं जानते जितना कि हम उसे व्यक्तियों के उस समुदाय के रूप में देखते हैं जो पहले से ही ऐसे विभिन्न समूहों में संगठित है जिनमें प्रत्येक का एक अपतर और उच्चतर समुदाय में एक अपतर और उच्चतर सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपना एक सामान्य जीवन है।[2] राज्य और संघ दो भिन्न भिन्न संस्थाएं हैं। कभी कभी मनुष्य अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कुछ संगठन बना लेते हैं जिन्हें संघ या समुदाय कहते हैं। उन्हें हम राज्य नहीं कह सकते। क्योंकि राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि समुदाय अथवा संघ की सदस्यता ऐच्छिक होती है। कोई भी मनुष्य किसी भी संघ की सदस्यता स्वीकार कर सकता है। एवं इच्छा होने पर अस्वीकार भी कर सकता है।

संघों की मुख्यतः दो प्रमुख विशेषताएं है प्रथम तो यह है कि वह किसी उद्देश्य के लिये निर्मित किया जाता है एवं द्वितीय यह कि उसकी सदस्यता पूर्णतः ऐच्छिक होती है। यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाये तो राज्य भी उद्देश्य की दृष्टि से समुदाय की श्रेणी में आता है किन्तु फिर भी राज्य और समुदाय में निम्न बातों का स्पष्ट अन्तर है:—

(1) सीमा की दृष्टि से अन्तर—राज्य की अपनी एक सीमा होती है, उसका अपना निश्चित भू भाग होता है एवं उसका निश्चित कार्य क्षेत्र होता है। जबकि समुदायों की सीमा का भूमि से कोई संबंध नहीं होता। आधुनिक युग में मनुष्य के कई ऐसे समुदाय हैं जिनमें विभिन्न राज्यों तथा राष्ट्रों के सदस्य शामिल है। जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्त-

1. "In the first place we must distinguish the state from society. To identify the social with the political is to be guilty of the grossest of all confusions, which completely bars any understanding of either society or the State."
Mac Iver—(Modern state Page 5-6)
2. We see society less as a numbers of individuals leading a common life; we see it more as an association of individuals already united in various groups, each with its Common life, in a further and higher group for a higher and common purpose."
—Barker.

राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संघ, रेड क्रास सोसाइटी आदि संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय हैं। जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं जबकि राज्य किसी निश्चित भू भाग तक ही सीमित होता है।

(2) स्थायी व अस्थाई का अन्तर—राज्य सामान्यतः पूर्ण रूप से स्थाई होते हैं जबकि संघ प्रायः अस्थाई होते हैं। उनका लोप होता रहता है। कुछ संघों का निर्माण तो थोड़े समय के लिये एक निश्चित कार्य हेतु किया जाता है उदाहरण के लिये जैसे अकाल पीड़ित सहायता संघ या बाढ़ पीड़ित सहायक संघ आदि संघ अकाल या बाढ़ खत्म होने के साथ खत्म हो जाते हैं। राज्य में भी परिवर्तन तो होते हैं किन्तु उसका पूर्ण लोप नहीं होता।

(3) राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है, संघ के पास नहीं—राज्य नागरिकों से अपने आदेशों का पालन शक्ति के बल से करवा सकता है। वह अपने आदेश की अवेहलना करने वाले को दंड भी दे सकता है। इसके लिये राज्य के पास सेना, पुलिस तथा न्यायालय होते हैं। जब कि संस्थाओं के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं होती, राज्य नागरिकों से कर वसूल कर सकता है परन्तु संघ या समुदाय बलपूर्वक ऐसा नहीं कर सकते वे केवल यही कर सकते हैं कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को अपनी सदस्यता से वंचितकर दे। वे अपने सदस्यों से केवल चन्दे के रूप में ही धन ले सकते हैं, उन्हें कर लगाने का कोई अधिकार नहीं होता। मैकाइवर के अनुसार "संस्था व्यक्ति तथा सदस्यों के ऐसे समूह को कहा जाता है जो एक सामान्य लक्ष्य के लिये संगठित है।"[1] राज्य सर्वोपरि समुदाय होता है, अन्य संघ उसके अधीन होते हैं। लास्की के अनुसार समाज का संगठन संघात्मक होता है। अन्य समुदायों को राज्य के नियमों की सीमा में रह कर ही कार्य करना पड़ता है। मनुष्य और समुदाय दोनों ही राज्य के आधीन होते हैं। राज्य प्रभुत्व सम्पन्न होते हैं, समुदाय ऐसे नहीं होते।

(4) सदस्यता की दृष्टि से अन्तर—सदस्यता की दृष्टि से इनमें प्रमुख अन्तर यह है कि राज्य को छोड़कर अन्य सभी समुदायों की सदस्यता ग्रहण करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है जबकि राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है क्योंकि मनुष्य प्रायः जन्म से ही किसी न किसी राज्य का सदस्य बन जाता है तथा जीवन पर्यन्त उसका सदस्य बना रहता है। आधुनिक काल में मनुष्य स्वतन्त्रता से एक राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य का सदस्य भी बन सकता है परन्तु उसके लिये किसी न किसी राज्य का सदस्य होना तो अनिवार्य है ही। इसके विपरीत मनुष्य समुदायों का सदस्य बने या न बने इसमें उसे पूर्णतः स्वतन्त्रता है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य एक समय में एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है जब कि समुदायों की दृष्टि से वह एक ही समय में कितने ही समुदायों की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। तीसरी बात यह है कि समुदाय की सदस्यता को मनुष्य अपनी

1. "An association denotes a group of persons or members who are associated and organised into a unity of will for a Common end."

Mac Iver—Modern State Page 6.

इच्छा से छोड़ सकता है जब कि राज्य की सदस्यता को वह अपनी इच्छा से अकारण ही नहीं छोड़ सकता।

(5) राज्य का उद्देश्य व्यापक होता है संस्थाओं का उद्देश्य संकुचित होता है— राज्य का उद्देश्य अपने सारे राज्य की भलाई है वह अपने राज्य की सम्पूर्ण जनता की भलाई के लिये प्रयत्न शील रहता है। वह राज्य की संपूर्ण जनता की आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक उन्नति के लिये कई योजना बनाता है तथा उन्हें क्रियान्वित करता है जबकि किसी भी संस्था का उद्देश्य सामान्य न होकर विशिष्ट होता है अर्थात् संस्थाए मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का प्रयास नहीं करती है जैसे कोई शिक्षण संस्था समाज के शैक्षणिक विकास का भरपूर प्रयास तो करेगी परन्तु वह उसके राजनीतिक जीवन मे कोई जिज्ञासा नहीं रखेगी। जबकि राज्य का उद्देश्य समाज का चतुर्मुख विकास करना है। राज्य किसी एक व्यक्ति अथवा विषय या वर्ग की उन्नति तक अपने आपको सीमित नही रखता वरन् उसका उद्देश्य सामान्य हित होता है। राज्य अपनी सीमा में बसने वाले सभी नागरिकों के लिये कार्य करता है जबकि समुदाय उन थोड़े से सदस्यों के लिये ही कार्य करता है जो उसके सगठन में सम्मिलित होते हैं। पिछले कुछ समय की कार्य वृद्धि से यह बात स्पष्ट है कि राज्य के कार्य तथा हितो का योग सब नीजि समुदायों के कार्यों एवं हितों के योग से बढ़ कर है। अतः यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है कि राज्य समुदायों से एक होते हुए भी अपने लक्ष्य तथा प्रभुता के कारण सबसे भिन्न है। राज्य एक सर्वोच्च समुदाय होता है तथा अन्य समुदाय इसके अधीन होते हैं। राज्य के पास समुदायों को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है। वह किसी भी समुदाय के अस्तित्व तक पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। बार्कर के अनुसार—"एक-से उद्देश्य की पूर्ति के लिये समाज मे सहयोगियों के रूप में कार्य करने वाले मनुष्यों के सघ के अर्थ में राज्य भी यद्यपि अन्य समुदायों जैसा एक समुदाय होता है तथापि यह एक ऐसा समुदाय होता है जो अन्य समुदायों से इस अर्थ में भिन्न होता है। अनिवार्य कानूनी व्यवस्था की योजना को बनाये रखने का इसका एक विशेष उद्देश्य रहता है जिसके कारण इसे एक निश्चित भू भाग पर रहने वाले सभी व्यक्तियों को सम्मिलित करने का विशेष क्षेत्र तथा विधि निर्माण एवं कानूनी बल प्रयोग की विशेष शक्ति प्राप्त हो जाती है।"[1]

राज्य - राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता

'राज्य' और 'राष्ट्र' शब्द में मूल रूप से अन्तर है परन्तु कई बार राज्य और राष्ट्र शब्द के एक ही अर्थ में प्रयोग होने के कारण साधारण जनता में बड़ी भ्रान्ति फैल जाती है उदाहरण स्वरूप अर्जेन्टाइना राज्य के संविधान में उस राज्य का नाम अर्जेन्टाइना राष्ट्र रखा गया है। इसी कारण लोग राष्ट्रीयता के अर्थ को ठीक से नहीं समझ पाते हैं और प्रायः उसका गलत प्रयोग करते हैं। वस्तुतः राष्ट्र और राष्ट्रीयता मे भी बहुत अन्तर है। किन्तु कई लेखकों ने राष्ट्रीयता के अर्थ में राष्ट्र का प्रयोग किया है। जबकि अन्य लेखक उसे राज्य के अर्थों में प्रयोग करते हैं।

1. Barker—Principles of Social and Political Theory Page 4.

राष्ट्र को अंग्रेजी में 'Nation' कहा जाता है। 'Nation' शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'नेशियो' (Natio) से हुई है जिसका अर्थ है 'उत्पन्न होना'।। यह शब्द इसे वंशीय अथवा नैतिक (Ethical) अर्थ प्रदान करता है। इसके अनुसार राष्ट्र का अर्थ है, 'वे लोग जो रक्त सम्बन्धी एकता द्वारा एक राजनीतिक समाज में परस्पर सम्बन्धित हों।' बर्गेस और लीकॉक वंशीय भाव में राष्ट्र की परिभाषा करते हैं। बर्गेस के अनुसार "राष्ट्र भौगोलिक एकता वाले एक प्रदेश में बसी हुई नृ-वंशीय एकता (Ethnic Unity) वाली जनसंख्या है।"[1] काल्वो अपनी अंतर्राष्ट्रीय विधान नामक पुस्तक में इस बात पर विशेष बल देता है कि राष्ट्र का विचार मूल या जन्म वंश के समुदाय, भाषा के समुदाय आदि के साथ जुड़ा हुआ है।

प्रो. गार्नर के अनुसार "न तो राष्ट्र ही आवश्यक रूप से, राज्य के रूप में संगठित एक जन समूह होता है। और न राज्य आवश्यक रूप से एक राष्ट्र।" संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि सही रूप में यह राष्ट्रों का संघ न होकर राज्यों का संघ है। इसी प्रकार कोलम्बो सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले देश भी राज्य हैं, राष्ट्र नहीं।

कुछ लेखक वंश और रक्त के आधार पर राष्ट्र का निर्मित होना चित्रित करते हैं जैसे लीकॉक के अनुसार "यद्यपि राष्ट्र शब्द का प्रयोग बहुधा शिथिलता से किया जाता है तथापि वंश सम्बन्धी महत्व के रूप में उस पर उचित ढंग से विचार किया जाना चाहिये।" किन्तु 'वंश' और 'राष्ट्र' दो नितान्त भिन्न शब्द हैं। सिजविक के अनुसार 'मुख्य आधुनिक राष्ट्रों में से कुछ प्रत्यक्षतः मिश्रित वंशों के हैं।" अर्थात् हम रक्त की पवित्रता को प्रमाणित नहीं कर सकते- जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या कई नस्ल एवं मिश्रित रक्त की बनी है और इस प्रकार राष्ट्र की वंशीय महत्ता कुछ भी नहीं है। जनता के समूह से राष्ट्र बनता है और समूह के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसमें वंश, भाषा या धर्म की समानता हो वस्तुतः राष्ट्र चेतना अथवा विचारों की समानता का भाव है। भाषा और धर्म दोनों ही मनुष्य को पारस्परिक सम्बन्धों के सूत्र में आबद्ध करने के लिए महत्वपूर्ण हैं किन्तु धर्म और भाषा की एकता तथा राष्ट्रीयता की भावना की समानता आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं है। उदाहरण के लिए हम स्विट्जरलैंड को ले सकते हैं जैसे- स्विस लोग न तो एक भाषा बोलते हैं और न उनका धर्म एक है। किन्तु वे एक राष्ट्र हैं। यह सच है कि अतीत में धर्म की धारणा शक्तिशाली राष्ट्र निर्मित करने की शक्ति रही थी और यही धर्मांधता उसका विघटन करने को भी उत्तरदायी रही थी किन्तु अब समय बदल गया है। अब जो धर्म जनसमूह को एक राष्ट्र बनाने के लिये जोड़ते हैं वे अविश्वसनीय, धर्मनिरपेक्ष तथा अप्रासंगिक हैं। डा. गार्नर के अनुसार- "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता

---

1 "Nation is Population of an ethnic unity inhabiting a territory of a geographic unity."
—Burgess

का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चेतन एवं दृढ़ निश्चयी है।"[1]

राष्ट्र की परिभाषा—बर्गेस के अनुसार, "राष्ट्र प्रजातीय एकता से युक्त जनता है जो भौगोलिक एकता के आधार पर एक प्रदेश पर निवास करती हो।"[2] किन्तु बर्गेस की इस परिभाषा की आलोचना की गई है। कारण कि न तो साधारण अर्थ में और न राज विज्ञान की दृष्टि में सामान्यतः राष्ट्र एक प्रजातीय समूह मात्र माना जा सकता है और न ही किसी राष्ट्र के लिए भौगोलिक एकता आवश्यक है। प्रजातीय एकता का अर्थ स्वयं बर्गेस ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उसका आशय ऐसी जनता से है जिसकी भाषा, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, परम्परा, रीति-रिवाज, उचितानुचित की भावना अथवा सामान्य चेतना हो।

मार्शल स्टालिन के अनुसार—"राष्ट्र ऐतिहासिक रूप से निर्मित जनता की वह दृढ़ एकता है, जिसका निर्माण एक सामान्य भाषा, भू-खंड, आर्थिक जीवन, तथा सामान्य संस्कृति के रूप में व्यक्त सामान्य मनोविचारों के आधार पर होता है।"[3] उस परिभाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य बातों के साथ ही साथ इसमें राष्ट्र निर्माण में ऐतिहासिकता पर विशेष बल दिया है और यह सत्य भी है क्योंकि राष्ट्र कोई अचानक उत्पन्न होने वाला संगठन नहीं है। इसका विकास क्रमशः तथा धीरे-धीरे होता है और उसमें युग लग जाते हैं। जब अनेक सामान्य परिस्थितियों में मानव के सहनिवास के कारण उस एकानुभूति का विकास हो पाता है तब उसका बन्धन राष्ट्र की सृष्टि करता है।

जिमर्न के अनुसार—"राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जो घनिष्टता, अभिन्नता और प्रतिष्ठा की दृष्टि से संगठित है और एक ही मातृभूमि से सम्बन्धित है।[4]

ब्राईस के अनुसार—राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जिसने अपने आपको स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्र होने की इच्छा रखने वाली राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया हो।"[5]

गिलक्राइस्ट के अनुसार—"अर्थ की दृष्टि से राष्ट्र राज्य के बहुत समीप है। राष्ट्रीयता तथा राज्य को मिलाकर राष्ट्र बन जाता है।"[6]

---

1. "A Nation is a culturally homogeneous social group which is at once conscious and tenacious of its unity of psychic life and Expression."]

—Dr. Garner op. cited P. 112.

2. Burgess—Political science and Constitutional Law Vol 1 P. 1.
3. A Nation is historically constituted, stable community of people formed on the basis of a common language territory, economic life and psychological wake up manifested in a common culture."

(J. V Stalin Works Vol II 1907-13 Page 30.)

4. "Nation is a body of people united by a corporate sentiment of peculiar intensity, intimacy, and dignity related to a definite home-country." —Zimmern
5. "Nation is a nationality which has organised itself into a political body independent or desiring to be independent."

—Bryce : Impressions of south Africa Page 33.

6. "R. N. Gilchrist Principles of Political Science."
Page 25-26, (edition 1957.)

हेज के अनुसार—"राष्ट्रीयता राजनीतिक एकता तथा सर्वाधिकारी स्वतंत्रता को प्राप्त करके राष्ट्र बन जाती है।"[1]

ब्लंशली के अनुसार—"राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो विशेषतः भा और प्रथाओं द्वारा परस्पर एक सी सभ्यता में आबद्ध होता है और जिसके कारण उ एकता तथा विदेशियों से पृथकता का भाव उत्पन्न हो जाता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से हमारे सम्मुख राष्ट्र का रूप स्पष्ट हो जाता है कि रा किसी भूभाग पर निवास करने वाले उस जनसमूह को कहा जाता है जिसमें रक्त वंश आ की ऐतिहासिक एकता हो तथा भाषा और परम्पराओं द्वारा जनसमूह एकसी सभ्यता आबद्ध हो।

राज्य एवं राष्ट्र में अन्तर—राष्ट्र का अर्थ राज्य के अर्थ से अधिक व्यापक है। कुछ विद्वान इन दोनों शब्दों मे अन्तर नहीं मानते किन्तु यह गलत है, क्योंकि राष्ट्र का सम्बन्ध राजनीतिक संगठन से न होकर भावना से है और राज्य का सम्बन्ध राजनीतिक संगठन से है। राज्य भौतिक है जबकि राष्ट्र पूर्णतः आध्यात्मिक है। राज्य के अन्तर्गत केवल चार प्रमुख तत्व भूमि, जनसंख्या, सरकार तथा राजसत्ता आते हैं किन्तु राष्ट्र में अनेक सांस्कृतिक तत्व भी होते हैं जो सभी अनिवार्य तो नहीं होते किन्तु उनमें कुछ के मिलने पर ही राष्ट्र का निर्माण होता है। एक राज्य मे यदि राष्ट्रीय भावना न हो तो भी वह राज्य रह सकता है, परन्तु राष्ट्र नही बन सकता उदाहरण के लिये जैसे 1918 से पूर्व आस्ट्रीया तथा हंगरी एक सम्मिलित राज्य था चूंकि उसमें राष्ट्रीय भावना नहीं थी अतः वह राष्ट्र नहीं बन सका। राष्ट्र एव राज्य दोनों का सम्बन्ध प्रायः किसी भू-खण्ड विशेष से होता है किन्तु राष्ट्र उस भू-खण्ड विशेष से बाहर भी फैल सकता है जैसा कि प्रो० गार्नर ने कहा है, "यदि राज्य को हम नस्ल सम्बन्धी अथवा भाषा सम्बन्धी जन समूह के रूप में मान ले तो राज्य की सीमायें उसकी सीमाओं से बाहर फैल सकती है तथा इसी प्रकार राष्ट्र की सीमायें राज्य की सीमाओं से अधिक विस्तृत हो सकती है वस्तुतः वे बहुत कम एक होती हैं। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन के अंग्रेजी राज्य में स्काच वेल्स तथा पहले के आइरिश लोग सम्मिलित हैं। इसके विरुद्ध फ्रांसिसी राष्ट्र नस्ल की दृष्टि से फ्रांस के बाहर तक फैला हुआ है और बेल्जियम, इटली तथा स्विटजरलैंड तक इसका विस्तार है। आजकल की प्रवृत्ति राष्ट्र तथा राज्य को एक मानने की अर्थात् राज्यों का संगठन राष्ट्रों की सीमाओं के अनुसार करने की है किन्तु ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका है।[3]

दोनों मे अंतर की दृष्टि से राष्ट्र की शक्ति नैतिक होती है। राष्ट्र अपील करता है समझता है अथवा बहिष्कार करता है। इसके विपरीत राज्य आज्ञा देता है बाध्य करता

1. A Nationality by acquiring Political Unity and sovereign independence becomes a nation.
—Hayes Essay on nationalism 1626 P. 5.
2. Nation is a union of masses of men-bound together especially by language and customs in a common civilization which gives them a sense of unity and distinction from all foreigners,"
Bluntschli—The Theory of the State P. 90.
3. गार्नर 'राज्य विज्ञान और शासन' पृष्ठ 79-80

है तथा दंड देता है। राष्ट्र राज्य से अधिक व्यापक हो सकता है। एक राष्ट्र में कई राज्य हो सकते हैं जैसे अरब एक राष्ट्र है और उसके कई राज्य हैं।

राष्ट्र का मूल आधार एकता होती है राज्य का सत्ता। ,जिस राज्य में एकता नहीं होती उसे हम राष्ट्र नहीं कह सकते राज्य पूर्णतः एक राजनीतिक व्यवस्था होता है यह मानवीय आवश्यकताओं का मूर्तरूप होता है। राष्ट्र की तरह इसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से मनुष्य के आध्यात्म अथवा उसकी अमूर्त भावनाओं से नहीं होता।

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को पृथक राज्य निर्मित करना चाहिये। प्रत्येक राज्य में एक अकेला राष्ट्र होना चाहिये एकल राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त ने अधीनस्थ राष्ट्रों में विद्रोह का पोषण किया। यह अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के राष्ट्र के आत्म निर्णय के अधिकार का अनुमोदन करता है यद्यपि इसके विपरीत लार्ड एक्टन ने बहु राष्ट्रीय राज्य का समर्थन किया है।

किन्तु यह स्पष्ट है कि राज्य वह समुदाय है जिसमें लोग एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत विधि के लिये संगठित होते हैं जबकि राष्ट्र वह जन समुदाय है जो मनोवैज्ञानिक रूप से साथ साथ रहने की इच्छा रखता है। जिमेरिन के अनुसार—"राष्ट्रीयता धर्म की भांति आत्मगत (subjective) होती है और राज्यत्व वस्तुगत (objective) होता है। राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक होती है और राज्यत्व राजनैतिक। राष्ट्रीयता मनः स्थिति होती है और राज्यत्व कानूनी स्थिति। राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक संपत्ति होती है राजत्व एक अनिवार्य उत्तरदायित्व, राष्ट्रीयता एक भावना, विचार तथा जीवन का मार्ग होती है और राज्यत्व समस्त सभ्यता पूर्ण जीवन दर्शन की एक अविछेद दशा।"[1]

राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता जन्म अथवा नस्ल के कारण उत्पन्न ऐसी एक भावना है जिससे लोग परस्पर बंध जाते हैं रिचार्ड डब्ल्यू फ्लोरनो के अनुसार—राष्ट्रीयता का प्रयोग मोटे तौर से कभी कभी यद्यपि रक्त सम्बन्ध के प्रसंग में किया जाता है तथापि शुद्ध कानूनी अर्थ के अनुसार इन दोनों में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है।"[2] राष्ट्रीयता को हम यदि विभिन्न दृष्टिकोण से देखें तो वह व्युत्पत्ति की दृष्टि से लिये गये अर्थ से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। वर्तमान युग में अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्राष्ट्रीय विवाह तथा प्रवास के कारण एक ही रक्त के व्यक्तियों का मिलना न केवल कठिन वरन प्रायः असम्भव हो गया

1. "Nationality, like religion is subjective; statehood is objective; nationality is psychological, statehood is political nationality is a condition of mind, statehood is a condition in law; nationality is a spiritual possession, statehood is an enforceable obligation; nationality is a way of feeling, thirking, and living, statehood is a condition, inseparable from all civilized ways of living."

Zimmern—(Notionality and Government P. 51.)

2. While nationality is some times used broadly with reference, to blood relationship, in the strict legal sense, there is no necessary connection between them. (Richard W. Flournoy)—Article on 'nationality' in the Encyclopaedia of the social science Page 249. Vols. XI-XII.

है । अतः आज के बौद्धिक, भौतिक एवं वैज्ञानिक युग में राष्ट्र के लिये प्रजाति, धर्म और भाषा की एकता आवश्यक नहीं है अपितु आवश्यकता है मात्र उस विशिष्ट भावना की जिसे राष्ट्रीयता के नाम से पुकारते है । अतः आगे हम राष्ट्रीयता क्या है, उसे समझाने का प्रयास करेंगे ।

विद्वान लेखक जिमेरिन की ऊपर दी गई परिभाषा में यह स्पष्ट कहा गया है कि राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है । यह एक जन समूह की धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता को सूचित करती है ऐसी भावना के अभाव में राज्य का निर्माण तो हो सकता है किन्तु राष्ट्र के बिना राष्ट्रीयता नहीं बन सकती । राष्ट्रीयता किसी भी देश में अपने पृथक राज्य के बिना भी रह सकती है एवं एक ही राज्य में अनेक राष्ट्रीयताएं भी हो सकती हैं जैसे सोवियत संघ ऐसा संघ है जहाँ अनेक राष्ट्रीयताएं पाई जाती हैं अब वह समय दूर नहीं जब कि संसार के सभी राज्य राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो जायेंगे । राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित हुए राज्य को ही राष्ट्र कहते हैं । राष्ट्रीयता मानव जाति की मूल भूत भावनाओं में से एक है । मनुष्य जाति के किसी अंग में जो परस्पर एकानुभूति होती है उसे ही राष्ट्रीयता कहते हैं यह एकता धर्म नस्ल भाषा व्यवहार तथा रीति रिवाज आदि की एकता व समानता के कारण उत्पन्न होती है । राज्य के निवासियों में यह एक्य होता है उसे ही राष्ट्र कहते हैं और उस एकता को राष्ट्रीयता ।

लार्ड-ब्राइस के अनुसार—"एक राष्ट्रीयता वह जनसंख्या है जो कतिपय बन्धनों द्वारा संगठित होती है । उदाहरण के लिये भाषा और साहित्य, विचारों और रीतियों और परम्पराओं द्वारा यह अपनी सम्बद्ध एकता का अन्य उन जनसंख्याओं या समुदायों की एकता से भिन्नता अनुभव कर सकती है जो उसी तरह अपने नीजि समान बंधनों से संगठित होती है ।"

मिल के अनुसार—"मनुष्यों के एक भाग को राष्ट्रीयता का निर्माण करने वाला जन समुदाय कहा जा सकता है बशर्ते कि वह उन समान सहानुभूतियों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हुए हों जो उनके तथा अन्यों के बीच विद्यमान नहीं है । जो उन्हें अन्य लोगों की अपेक्षा एक दूसरे के साथ अधिक सहयोग में लाती है, एक ही सरकार के अधीन रहने की इच्छा प्रदान करती है और यह इच्छा प्रदान करती है कि उन्हीं की अथवा विशिष्ट रूप से उन्हीं में से एक अंश की सरकार होनी चाहिये ।

राष्ट्रीयता पर निम्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है ।

कानून की दृष्टि से—किसी भी व्यक्ति की राष्ट्रीयता राज्य की सदस्यता के अनुसार निर्धारित होती है । रिचार्ड डब्लू एक फ्लो स्नो के अनुसार "राष्ट्रीयता उस व्यक्ति का स्तर है जो राज भक्ति के बन्धन द्वारा राज्य से बंधा हुआ हो ।" राष्ट्रीयता इस प्रकार राज्य की सदस्यता है जिससे व्यक्ति तथा राज्य में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है । और इसी के फलस्वरूप व्यक्ति के राज्य पर अधिकार तथा उसके प्रति कुछ कर्तव्य हो जाते हैं ।

सत्व की दृष्टि से—हिल्बर्ट बोहम के अनुसार "भाषा एवं संस्कृति की विभिन्नता तथा धर्म, जाति एवं रीति के अन्तर के परिणाम स्वरूप ऐसे सामाजिक समूहों का निर्माण होता है जो राजनैतिक सीमाओं के विषय में स्वतन्त्र होते हुए भी मौलिक राष्ट्रीय इकाइयों का निर्माण करते हैं। राष्ट्रीयता का चिन्ह इस प्रकार किसी राज्य के प्रति लगाव नहीं, अपितु किसी जन समूह के प्रति लगाव होता है। इस प्रकार तात्विक अर्थ में राष्ट्रीयता से तात्पर्य उन लोगों अथवा उस समूह से होता है जो राजनैतिक उद्देश्यों से परे एक ऐसी समष्टि का निर्माण करते हैं जिसका स्वरूप अधिक विस्तृत तथा अधिक व्यापक होता है। जैसे- पोलैंड में यूक्रेनियन राष्ट्रीयता में पोलैंड के सब यूक्रेनियन लोग सम्मिलित हैं तथा यूरोप में पोलिश राष्ट्रीयता में यूरोप के सभी पोलिश लोग आ जाते हैं।"[1] अधिकतर विद्वानों ने राष्ट्र को एवं राष्ट्रीयता को एक ही अर्थ में प्रयोग किया है यह बात उपर्युक्त परिभाषा में ध्यान देने योग्य है। उन्होंने राष्ट्रीयता की परिभाषा उस भावना से नहीं की जो किसी जन समूह को राष्ट्र का रूप प्रदान करती हैं जैसे लार्ड ब्राइस के अनुसार "राष्ट्रीयता वह जनसंख्या है जो भाषा एवं साहित्य विचार एवं प्रथाओं व परम्पराओं जैसे बन्धनों से परस्पर बंधी हुई हों।"[2]

गिलक्राइस्ट ने भी यही विचार व्यक्त किये हैं राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना अथवा सिद्धान्त है राष्ट्रीयता उन पर आधारित होती है जिनकी एक सी भाषा एक धर्म, एक इतिहास एवं एक सी परम्परायें हों, सामान्य हित समान हों राष्ट्रीयता की उत्पत्ति इन्हीं व्यक्तियों से होती है जो एक जाति के हों और जो एक ही भू-खण्ड पर निवास करते हों।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से—बर्गेस के अनुसार राष्ट्रीयता को सर्वाधिक नस्ल से संबंधित माना गया है। प्रेडियर के मतानुसार "नस्ल, जाति, भाषा, आदतें, प्रथा एवं धर्म की एकता जैसे तत्वों से राष्ट्र का निर्माण होता है।" यह विचार अतीत काल में तो सत्य समझा जाता था किन्तु अब इसे सत्य नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वर्तमान आधुनिक युग में नस्ल का सम्मिश्रण अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह ढूंढना असम्भव सा हो गया है कि किस राष्ट्र का उदय किस नस्ल से हुआ है क्योंकि अब जो राष्ट्र हैं वे किसी जाति

1. "Differences in language and culture as well as variations in religion, race and customs result in the formation of social groups which independent of political boundaries, constitute fundamental national units. Nationality thus signifies adherence to a people rather them to a state .... Nationality in the concrete sense thus refers to a people or a group which independent of its political aims from a totality relatively, wider and more comprehensive in character. Thus the Ukranion nationality in Poland includes all Ukranions in Poland and Polish nationality in Europe all the Polish in Europe."
   (Hildbert Boehm—Artical on "nationality" in Encyclopaedia of social sciences Vols XI-XII P. 432)
2. "Nationality is a population held together by certain ties eg language and literature, ideas, customs, traditions." —Bryce.
   (Quoted by Garner in his Political science and Government P. 115)

विशेष से विकसित नहीं हुए हैं। राज्यत्व एवं राष्ट्र—राष्ट्र के अन्य निर्माणात्मक तत्वों की अपेक्षा राज्यत्व को अधिक महत्व दिया जाता है। ब्राइस के अनुसार "राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जिसने अपने आप को स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्र होने की इच्छा रखने वाली राजनैतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया हो।"[1] गिल क्राइस्ट ने तो राज्यत्व को राष्ट्र का जीवन ही माना है उनके अनुसार "कोई राष्ट्रीयता इसीलिए जीवित रहती है कि या तो अपनी भूमि तथा अपने राज्य के सहित वह राष्ट्र रह चुकी होती है अथवा अपनी भूमि तथा अपने राज्य के सहित वह राष्ट्र होना चाहती है।"[2]

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अनेक राष्ट्र स्वतन्त्रता के लिये लड़े और अन्त में उन्होंने प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों का स्तर प्राप्त किया। अतः राज्यत्व: राष्ट्र के लिये एक आवश्यक अंग है—किन्तु यह जरूरी नहीं कि राज्यत्व के बिना राष्ट्र ही न हो। राष्ट्र का प्रमुख आधार वहां के लोगों का व्यक्तित्व होता है और राजनैतिक स्वतन्
अथवा राज्यत्व इस राष्ट्रीय व्यक्तित्व को बनाये रखने के साधन मात्र होते हैं।
स्कांटिश लोगों का राज्य है, राष्ट्र नहीं प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व आस्ट्रीया और हंगरी रा
थे राष्ट्र नहीं। राष्ट्र शब्द आत्म परक है जब कि राज्यत्व शब्द निरपेक्ष एवं राजनीति
है किन्तु आधुनिक मान्यता यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को पृथक राज्य निर्मित करना चाहि
प्रत्येक राज्य में एक अकेला राष्ट्र होना चाहिये—जैसे कि आज प्रायः प्रत्येक राष्ट्र अप
एक निजी राज्य में संगठित है।

जॉन स्टुअर्ट मिल के मतानुसार—एक राज्य में एक ही राष्ट्रीयता होनी चाहि
यह दशा स्वतन्त्र संस्थाओं के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जिन राज्यों में एक से अधि
राष्ट्रीयतायें होती हैं। उनमें स्वतन्त्र संस्थाओं का अस्तित्व असम्भव हो जाता है। जिस
देश की जनता में आपसी मेल-जोल की भावना न हो और विशेषकर जिसके निवासियों
की भाषायें तक भिन्न हों, वहां प्रतिनिधि सरकार के जीवन के लिये समुचित जनमत का प्राप्त होना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिये जहां भी राष्ट्रीयता का तत्व किसी भी मात्रा में विद्यमान हो वहां उस राष्ट्रीयता को एक ही शासन के अधीन संगठित कर देना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि सरकार का प्रश्न शासितों के द्वारा निपटाया जाना चाहिए।"[3]

---

1. "Nation is a nationality which has organised itself into a political body eihter independent or desiring to be independent." —Bryce.
(Impressians of South Africa P. 33.)
2. A Nationality lives either because it has been a nation, with its own territory and State or because it wishes to become a nation with its own territory and State." —Gil Christ.
(Principles of Political Science P. 31)
3. "Free inititutions are next to impossible in country made of diffrent nationalities. Among a people without fellow feeling, especially if they read and speak diffrent languages, the united public opinion, necessary to the working of representative govenment can not exist. Where ever the sentiment of nationality exists in force, there is a prima faceie case for uniting all the members of the nationality, under the same government. This is merely saying that the question of government ought to be decided by the governed."
—John Stuart mill (Representative Government P. 360-61)

स्टुअर्ट मिल—आत्म निर्णय का अधिकार प्रत्येक राष्ट्रीयता को देना चाहते हैं। प्रथम महायुद्ध से पूर्व योरप में आत्म निर्णय के अधिकार की माग बड़ी तेजी से बढ़ी फिर राष्ट्रपति विलसन ने पैरिस के शान्ति सम्मेलन मे इस अधिकार का समर्थन किया और अपने भाषण में कहा कि खेल की गोटों की भांति निवासियों और प्रदेशों को एक राजसत्ता से लेकर दूसरी के अधीन करना अनुचित है। प्रत्येक प्रादेशिक समझौता उस स्थल के निवासियों के हितों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। निवासियो की समस्त प्रकट भावनाओं को हर सम्भव प्रयत्नों द्वारा संतुष्ट किया जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकल राष्ट्रीय राज्य के बहुल राष्ट्रीय राज्य की अपेक्षा कतिपय स्पष्ट लाभ है किन्तु यह भी सच है कि अनेक राष्ट्रीय राज्यों के होने पर अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताओं मे वृद्धि होगी। तथा विश्व शांति को नष्ट करने वाली पारस्परिक प्रतिस्पर्धाओं मे बढ़ोतरी होगी। लार्ड एक्टन ने बहुल राष्ट्रीय राज्य का समर्थन करते हुए कहा कि भिन्न राष्ट्रों का समूहीकरण सभ्य समाज के लिये उतना ही आवश्यक है जितना एक समाज का निर्माण करने के लिये व्यक्तियों का समूही करण।

आत्म निर्णय एक राष्ट्र व एक राज्य के सिद्धांत की आलोचना—मानव एकानुभूति मनुष्य के जीवन में परस्पर सहनिवास की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। राष्ट्र को राज्य अथवा अन्य किसी तत्वों के माध्यम से बनाई हुई एकता का रूप न मान कर मनुष्य के परस्पर सहनिवास तथा कुछ अन्य तत्वों से विकसित एकता का रूप मानते हैं। हेज के अनुसार "कोई राष्ट्रीयता एकता और राज सत्तापूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर एक राष्ट्र बन जाती है।" इसके लिए उदाहरण स्वरूप इजराइल को लिया जा सकता है किन्तु इस आत्म निर्णय के सिद्धान्त को क्रियान्वित किया जाये तो इसका परिणाम अच्छा नही निकलेगा विश्व मे असंख्य छोटे छोटे राज्य स्थापित हो जायेंगे जो विश्व शांति के लिए खतरा सिद्ध हो सकते हैं। लीग आफ नेशन्स ने 1920 मे कानून विशारदों की एक समिति गठित की थी उनके मतानुसार "किसी भी राज्य की जनता के एक भाग को उस राज्य से अलग होकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी भी नियम द्वारा नहीं दिया जा सकता यदि इस प्रकार का अधिकार दिया गया तो यह उस राज्य की सत्ता पर कठोर आघात होगा।" यूरोप मे कुछ राष्ट्रीयता बहुत अधिक संख्या में है जिसकी अपनी अलग भाषा व संस्कृति है जिसे वह बनाये रखना चाहती है तो उस प्रजाति या राष्ट्रीयता को भले ही आत्मनिर्णय का अधिकार देना उपयोगी सिद्ध हो सकता है किन्तु छोटी छोटी राष्ट्रीयताओं को यह अधिकार देना सर्वथा अनुचित है।

राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र निर्माण के तत्व—किसी भी मानव समूह में जो भावनात्मक एकानुभूति उत्पन्न होती है उसे हम राष्ट्रीयता कहते हैं और जिस जन समूह में यह भावना उत्पन्न होती है उसे हम राष्ट्र कहते है। अतः इन दोनों का उद्गम एकसा ही है। मोटे तौर पर राष्ट्र निर्माण मे निम्न तत्वो का योग होता है।

(1) भौगोलिक तत्व—किसी भी निश्चित प्रदेश में अधिक समय तक बसे रहने के कारण वहां के लोगों मे प्रायः राष्ट्रीय भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। मातृ भूमि पर साथ

रहने के कारण उनके जीवन में एकरसानुभूति का उदय हो जाता है। इसी कारण उनकी एक ही सामान्य संस्कृति का विकास भी हो जाता है। भौगोलिक एकता से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है क्योंकि एक ही भूमि पर निवास करने वाले जन समूह की एकसी आदतें, एकसी संस्कृति, एकसी भाषा, रीति रिवाज व व्यवहार आदि होने से उनके अनुभव तथा हित भी समान होते हैं। यही कारण है कि भौगोलिक एकता का प्रभाव राष्ट्रीय संस्थाओं पर भी पड़ता है। मातृ भूमि पर स्नेह उत्पन्न हो जाने के कारण मनुष्य उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये अपना सर्वस्व त्याग देने के लिये कटिबद्ध रहता है और यही उत्कट प्रेम राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए परम आवश्यक है।

(2) नस्ल की एकता—वर्तमान युग में नस्ल की एकता को विशेष महत्व नहीं दिया जाता किन्तु गिलक्राइस्ट के अनुसार—"एक नस्ल से उत्पत्ति के प्रति विश्वास चाहे वह वास्तविक हो अथवा अवास्तविक राष्ट्रीयता का बन्धन होता है प्रत्येक राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक उत्पत्ति की पौराणिक कथाएं होती है।"[1] किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से आज इसकी कोई मान्यता नहीं है। क्योंकि वर्तमान काल में नस्लों का ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि यह पता लगाना कठिन है कि कौन सा राष्ट्र किस नस्ल से उत्पन्न हुआ है।

इसके अतिरिक्त ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें एक ही नस्ल के लोगों ने विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण कर लिया है उदाहरण स्वरूप हम अमेरिका को ले सकते हैं जहां अनेक नस्लों का अस्तित्व होते हुए भी उनका ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि अब उनका राष्ट्रीय स्वरूप एक ही है। वर्तमान समय में वंशगत एकता राष्ट्रीयता का प्रबलतम बंधन है। किन्तु वंशगत एकता राष्ट्रीयता के मूल तत्व के लिये आवश्यक नहीं रह गई है क्योंकि आज कोई भी वंश अपनी मौलिक पवित्रता का दावा नहीं कर सकता है। जब कभी लोगों का एक समूह विश्वास कर लेता है कि वह एक वंश के हैं तो उन्हें समान कल्याण के समान बन्धनों में सम्बद्ध करना आसान हो जाता है। गार्नर के अनुसार—"नस्ल एक भौतिक तत्व है जबकि राष्ट्रीयता एक मिश्रित तत्व होता है। जिसमें आध्यात्मिक तत्व भी प्रविष्ट होते हैं।"[2] कई बार ऐसा भी होता है कि प्रजातीय एकता के होते हुए भी विभिन्न राष्ट्रीयताओं का जन्म होता है जैसे जर्मन, अंग्रेज, डच, डेन आदि नस्ल या प्रजातीय दृष्टि से एक होते हुए भी विभिन्न राष्ट्रों में बंटे हुए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी देश में प्रजातीय एकता हो तो वहां पर राष्ट्रीय एकता के विकास में बहुत सुविधा उत्पन्न हो जाती है जैसे हिटलर और मुसोलिनी ने इसी आधार पर एकता स्थापित की किन्तु जहां प्रजातीय एकता न हो वहां पर राष्ट्रीयता के विकास में निश्चित रूप से बाधा उपस्थित होती है।

---

1. "Belief in a common origin, either real or fictitious is a bond of nationality. Every nationality has its legendary tales of its own origins."
—Gilchrist, op cit. P. 28.

2. "Race is a physical phenomenon, whereas nationality is a complex phenomenon into which spiritual elements also enter."
—Garner, op. cit. P. 177.

हो। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा लोग अपने अपने हृदय, मस्तिष्क तथा भावों की एकता स्थापित करते हैं, तथा उनमें पारस्परिक विचार विमर्श तथा आदान प्रदान किया जा सकता है। वे भाषा के द्वारा ही एक दूसरे को समझने में समर्थ होते हैं। हिल्बर्ट बोहम ने भी राष्ट्रीयता के विकास के लिये सामान्य भाषा का महत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार "आधुनिक राष्ट्रीयता का कदाचित सबसे महत्वपूर्ण तत्व भाषा है। मातृ भाषा के विचार ने भाषा को एक ऐसा सूत्र बना दिया है, जिससे बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन का अस्तित्व सम्भव होता है। मातृ भाषा आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सबसे अधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति है।"[1]

धार्मिक मातृ भाव–यह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों से राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होता है–

बोहम के शब्दों में—"पवित्रता का सम्पूर्ण भावात्मक क्षेत्र, जिसका राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है–पूर्णतः धार्मिकता से प्रभावित होता है। पूर्वजों का सम्मान, कुटुम्बीय संस्था का आदर, राष्ट्रीय वीरों, विशेषकर राष्ट्रीय शहीदों की प्रशंसा, राष्ट्र के लिये आत्म-त्याग की भावना, परम्परावाद जो लोगों को नैतिक मान्यताओं तथा प्रथाओं में बांधे रहता है-और जो जगत की सभ्यता के प्रबल प्रभावों से उनकी रक्षा करता रहता है, ये सब उस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के चिन्ह है-जो वर्णिक एवं धार्मिक दोनों ही होती है।"[1]

वर्तमान काल में धर्म निरपेक्षता के कारण धर्म मानव के व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन से पीछे हटता जा रहा है किन्तु यह भी सच है कि लोगों ने धार्मिक विभिन्नताओं के होते हुए भी राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। 1962 और 1965 में भारत में चीन और पाकिस्तान के बर्बर आक्रमण के समय हमारे देश वासियों ने अपने धार्मिक मतभेदों को भुला कर जिस अखण्ड एकता का परिचय दिया व वह प्रशंसनीय ही नहीं वरन् वन्दनीय भी है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है किंतु उस समय समग्र राष्ट्र एक था, सब धर्म के व्यक्ति एक अखण्ड एकता के सूत्र में आबद्ध थे वह सूत्र था राष्ट्रीयता। का किंतु यह भी उतना ही रूप है कि जहाँ धार्मिक मतभेद की भावना कट्टरता से, आ घुसी है वहाँ धर्म ने

1. "Perhaps, the most important factor of modern nationalism is language. The concept of a mother tongue has made language the source from which spirings all intellectual and spiritual existence. The mother tongue represents the most suitable expression of spiritual individuality."

—(Mass Hildebert Boehm, op. cit. P. 235)

1. "The whole emotional realm of piety which occupies suchas important place in nationalism, is thoroughly impregnated with a religious Strain. Ancesral reverence, the respact for the institution of family, adoration of national heroes and particularly of national martyrs, the readiness to self sacrifice for the nation, the traditionalism which clings to morals and customs and defends them against the levelling influnces of world civilization-all these are manifestations of an attitude which is both ethnis and religious."

—(Mass Hildebert Boehm. op. cit. P. 236-237)

राष्ट्रीयता का मार्ग अवरुद्ध भी किया है। जैसे हिन्दु व मुसलमान भारत में एक राष्ट्र का रूप अभी भी पूर्ण रूप से धारण नहीं कर सके हैं जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारत में समय समय पर होने वाले साम्प्रदायिक दंगे हैं। प्रारम्भ में समाज में समान धर्म की भावना ने ही लोगों को परस्पर सम्बद्ध किया था। प्राचीन काल में धर्म को राष्ट्रीय चिन्ह माना जाता था। राष्ट्रीय भावना के लिये धर्म एक सुदृढ़ प्रलोभन है। गैस के अनुसार—"किसी जमाने में समान धर्म राष्ट्रीयता का महान पोषक तत्व था किंतु अब धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त से धर्म का राष्ट्रीयता के क्षेत्र में महत्व बहुत ही कम हो गया है।" सच तो यह है कि आज के युग में लोग धर्म से विमुख होते जा रहे हैं। किन्तु धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता और सहिष्णुता की भावना ने राष्ट्रीयता की भावना को बल प्रदान किया है। धर्म ने लोग में एकता उत्पन्न की और उन्हें अनुशासन में रहना सिखाया और यह अनुशासन ही राज्य तथा राष्ट्र का प्रमुख आधार है। धर्म ने लोगों को एक सामान्य संस्कृति भी प्रदान की। छठी और सातवी शताब्दी में अरबों में इस्लाम ने अद्भुत एकता उत्पन्न की। गार्नर के अनुसार "यद्यपि कुछ अवस्थाओं में धार्मिक साम्य राष्ट्रीयता विकास में शक्ति शाली और राष्ट्रीय एकता के बंधनों को सुदृढ बनाने वाला तत्व रहा है और कुछ अवस्थाओं में उनके अभाव में राज्यों का विघटन भी हुआ है, तथापि हमें सहिष्णुता की आधुनिक भावना का कृतज्ञ होना चाहिये जिसके कारण राष्ट्रीयता निश्चित करने के लिये अब इसे अत्यावश्यक अथवा महत्वपूर्ण तत्व नहीं माना जाता।[1]

(iii) आर्थिक जीवन—किसी भी राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता के निर्माण में आर्थिक निर्भरता का भी बहुत महत्व है स्टालिन ने तो आर्थिक जीवन को सामान्यत को आर्थिक समष्टि कह कर पुकारा है। आर्थिक निर्भरता भी लोगों को परस्पर एक सूत्र में आबद्ध करती है।

(iv) कला एवं साहित्य—राष्ट्रीयता के विकास के लिये कला एवं साहित्य की एकता भी आवश्यक है। किन्तु कला एवं साहित्य राष्ट्रीयता की उत्पत्ति नहीं करते वरन उसे शक्ति शाली बनाते हैं। कला व साहित्य के सहयोग से ही सांस्कृतिक एकता उत्पन्न होती है—

राजनीतिक तत्व—जिन लोगों की भाषा, नस्ल धर्म-एक हो उनकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे अपना एक पृथक राज्य बनाये। राष्ट्रीय भावना का मूर्त रूप राज्य ही है। राष्ट्रीयता एक भावना है। वह मनुष्यों के मानसिक चिन्तन व अनुभूति का परिणाम है। ठीक इसके विपरीत राज्य एक पूर्व सत्ता है। राज्य का निर्माण राष्ट्रीय भावना के अनुसार ही होता है। वर्तमान काल में अधिकांश राष्ट्रीयतायें या तो स्वाधीनता की इच्छा के रंग में रंग गई है अथवा अपना पृथक राज्य स्थापित करना चाहती है।

1. "While Community of religion has in some cases been a power ful factor in the development of nationality and in the strengthening of the lands of national unity, and while in other cases, the absence of it has contributed to the disruption of the state it is no longer, thanks to the modern spirit of toleration, an essential or important element of determing nationality." —Garne. opp. citd. P.121.

गिलक्राइस्ट के अनुसार—चाहे अतीत के लिये हो अथवा भविष्य के लिये हो, राष्ट्रीयता के लिये राजनीतिक एकता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और यह इतनी महत्वपूर्ण है कि विभिन्न इकाईयों में से प्रायः केवल इसी को ही आवश्यक कहा जा सकता है।[1] समान राजनीतिक एकता का एक पहलू यह भी है कि जब भिन्न रूपों की जनसंख्या चिरकाल तक एक ही राज्य में रहती है और राज्य अपनी नीति में सहिष्णु होता है तो समय बीत जाने पर भिन्न भिन्न रूपों के तत्व एक राष्ट्रीयता में लीन हो जाते हैं। जैसे अमरीका में सभी भिन्न राष्ट्रीयताएं अमरीकी राष्ट्रीयता के सूत्र में आबद्ध हो गई। भारत में यद्यपि विभिन्न धर्म तथा जातीयां हैं, विभिन्न भावनाएं तथा वेशभूषा है किन्तु अंग्रेजों के विरुद्ध समस्त भारतीय राष्ट्रीयता की भावना से ओत प्रोत होने के कारण संगठित हो गए। विदेशी शासन के कारण ही भारत में राष्ट्रीय एकता उत्पन्न हुई स्वतन्त्रता के पश्चात धीरे-धीरे राष्ट्रीय भावना में कुछ कमी आती जा रही थी किन्तु चीनी व पाकिस्तानी आक्रमणों के समय भारतीयों की अखंड एकता राष्ट्रीयता की भावनाओं के कारण ही स्थापित हुई थी इसमें कोई संशय नहीं। आस्ट्रीया के शासन के विरुद्ध सारा इटली, मेजिनी और गैरी बाल्डी के नेतृत्व में इकट्ठा हो गया था। हंगरी और इटली में, नेपोलियन के कारण राष्ट्रीयता की भावनाएँ उदित हुई थी। अतः यह स्पष्टतः ही कहा जा सकता है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता राष्ट्र के विकास में सहायक सिद्ध होती है। अतः राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के विकास के लिए राजनैतिक तत्व भी एक महत्वपूर्ण तत्व होता है।

(5) ऐतिहासिक तत्व—किसी भी जनसमूह का प्राचीन इतिहास भी राष्ट्र के विकास में सहयोग होता है। एक विद्वान के अनुसार "संस्मरणों के सामान्य उत्तराधिकार की भावना चाहे वे सफलताओं अथवा वैभव की हों अथवा कष्ट एवं त्याग की तथा एक ही राज्य में लंबे समय तक साथ रहने और अपने संचय को आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाने की इच्छा किसी जन समूह को राष्ट्र बना देती है।" हम प्रायः अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि शहीदों के स्मारक व उनकी स्मृतियां हममें ऐसी अनुभूति जागृत करतीं हैं जो राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता की सृष्टि करती है। प्राचीन काल के इतिहास से प्रेरणा लेकर हम आज भी संकल्पबद्ध होकर एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। जिनका इतिहास एक होता है उनका सुख, दुखः स्मृति, अनुभव, अनुभूतियां सब समान हो जाती हैं। बप्पा रावल, राणा प्रताप, राणा सांगा आदि की स्मृतियों एवं उनके बलिदानों ने मेवाड़ में राष्ट्रीय भावना को सदा जागृत रखा। शिवाजी के महान कार्यों ने महाराष्ट्र में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न की। गुरू गोविन्द सिंह की वीरता ने यह बात सिखों में आज भी गांधी, सुभाष, तिलक, पटेल, जवाहर, लाल बहादुर शास्त्री, डा. राजेन्द्र प्रसाद, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह, आजाद, रास बिहारी बोस आदि को कौन भूल सकता है जिन्होने अपने स्वतन्त्रता संग्राम से हमारे देश में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न की और राष्ट्रीय भावनाओं से जनमानस को अभिभूत कर दिया। इतिहास सदैव ही हमारे देश में राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ उत्पन्न करता रहेगा। किन्तु यह बात ध्यान रखी जाये कि प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास और वीरों में अन्तर होता है।

1. Gilchrist, op Citd. P. 31.

ऐसा ही देखा जाता है कि एक राष्ट्र का वीर दूसरे राष्ट्र का शत्रु माना जाता है जैसे नैपोलियन फ्रांस का वीर था परन्तु वह स्पेन, जर्मनी, इंगलैंड रूस आदि का शत्रु था। इसी प्रकार सिकन्दर महान तथा हिटलर आदि। तथापि यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि इतिहास ने सदैव ही किसी न किसी रूप में भावी पीढ़ी को प्रेरणा प्रदान की है। इसीलिए विद्वान विचारक जान स्टूअर्ट मिल ने–सामान्य इतिहास को राष्ट्रीय एकता में सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना है।

राष्ट्रीयता के निर्माण के उपरोक्त तत्वों के अध्ययन से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्रीयता के निर्माण का आधार कोई एक तत्व नहीं है अपितु उसके निर्माण में अनेक तत्वों का योगदान होता है तथा अलग-अलग भू-भाग एवं जन समूहों में एव इतिहास के अलग-अलग काल में इन तत्वों का योगदान भी अलग रहा है।

राज्य का आंगिक (जीवधारी) सिद्धान्त
(Organic Theory of the State)

राज्य की प्रकृति के संबंध में राजनीति शास्त्र में इस सिद्धांत का विशेष महत्व है यद्यपि इस सिद्धान्त में उतनी अधिक व्यवहारिकता नहीं है। यह सिद्धान्त समाज अथवा राज्य की तुलना एक आंगिक प्राणी अर्थात् मनुष्य, पशु आदि जीवधारियों से करता है। इस संबंध में विद्वान् लेखक, डा० लीकॉक लिखते हैं, "जैसा कि हाथ का संबंध शरीर से है। *अथवा पत्ती का पेड़ हैं, वैसा ही संबंध मनुष्य का समाज से है। मनुष्य समाज में ही अपना* अस्तित्व रखता है और समाज मनुष्य में।"[1] इसी कारण इसे जीवधारी या आंगिक सिद्धान्त कहा जाता है।

सिद्धांत का इतिहास—यद्यपि आधुनिक राजनीति शास्त्र में यह सिद्धान्त प्रसिद्ध व्यक्ति वादी विचारक हरबर्ट स्पेन्सर के द्वारा प्रतिपादित किया गया परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि इस सिद्धांत की आंशिक मान्यता प्लेटो के समय से ही रही है। स्वयं प्लेटो के शब्दों में "राज्य व्यक्ति का ही विस्तृत रूप है। (State is a man of great strature) प्लेटो के अनुसार जिस प्रकार राज्य मे तीन वर्गों के व्यक्ति होते हैं (i) शासक (ii) योद्धा और (iii) श्रमिक, उसी प्रकार व्यक्ति मे भी तीन प्रकार के तत्व होते हैं (i) बुद्धि (ii) साहस (iii) क्षुधा या भूख।

प्लेटो के पश्चात् अरस्तू, सिसरो आदि ने भी इस विचार का समर्थन किया। सामाजिक समझौता सिद्धांत के प्रवर्तक हाब्स ने राज्य का नामकरण ही 'Leviathan' किया जिसका अर्थ विशाल भीमकाय मे आत्मा की भांति है तथा राज्य में होने वाले उपद्रव आदि व्यक्ति के शरीर मे पैदा होने वाले फोड़ों (Boils) के समान है। रूसो के मतानुसार राज्य और व्यक्ति दोनों मे शक्ति एव इच्छा दोनों का महत्व है। इसने मनुष्य के शरीर में हृदय (Hart) एवं मस्तिष्क (Brain) की तुलना राज्य में क्रमशः व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका से की।

1. "As is the relation of hand to body on leaf to a tree, so is the relation of man to society. Man exists in Society and Society in Man" —Dr Leacock.

मध्यकाल जर्मनी में विख्यात विचारक ब्लंशली ने यह तुलना और भी अतिशयोक्ति पूर्ण रूप से की । उनके मतानुसार राज्य मानव शरीर का ही प्रतिबिम्ब है (State is the very image of human organism) । उसने तो यहाँ तक कहा कि राज्य पुलिंग है एवं गिरजाघर (charch) स्त्रीलिंग है अतः राज्य को स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार नहीं प्रदान करने चाहिये ।

स्पेंसर का मत—परन्तु इस सिद्धांत का वैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेज दार्शनिक स्पेंसर द्वारा ही किया गया जिसके मतानुसार एक जीवधारी एवं राज्य में निम्न बातों की समानताएँ विद्यमान हैं ।

(i) जीवधारी समाज और राज्य सभी के विकास का क्रम एकसा होता है। दोनों सामान्य कीटाणु (germs) के रूप में उत्पन्न होते हैं जिनके ढांचे में समानता एवं सरलता होती है परंतु ज्योंहि उनका विकास होता है, उनमें असमानता एवं जटिलता उत्पन्न हो जाती है । उदाहरण स्वरूप जैसे सुक्ष्म वायु या छोटे शरीर में थोड़े ही अवयव होते हैं, प्रारम्भिक समाज में भी मात्र शिकारी अवस्था की बात थी परन्तु ज्यों ज्यों समाज का विकास होता गया उसमें कार्यों का विस्तार एवं विस्तार होता गया जो उसी प्रकार की बात है कि शरीर के विकास के साथ उसमें अवयवों का विस्तार एवं जटिलता पैदा होती है।

(ii) जीवधारी, समाज और राज्य सब में उनके अंग एक दूसरे पर आश्रित हैं, तथा सभी अंग सम्पूर्ण पर आश्रित है । इतना ही नहीं, विभिन्न अंगों में परस्पर सम्बंध एवं समन्वय भी है ।

(iii) जीवधारी, समाज और राज्य में जीर्ण शीर्ण (wear and tear) होने एवं पुरानों का स्थान नयों द्वारा लेने की बात भी है। जैसे शरीर में छिद्र एवं रक्त-जीवाणु नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नये जीवाणु (cells) लेते हैं, उसी प्रकार समाज में वृद्ध एवं शिथिल व्यक्ति मरते रहते हैं और उनका स्थान नये पैदा होने वाले व्यक्ति लेते रहते हैं।

इसके बाद स्पेंसर जीवधारी, समाज और राज्य के बीच कुछ आकार विषयक समानताएँ बतलाता है । उसके अनुसार जीवधारी की तरह इनमें भी तीन आनुक्रमिक प्रणालियाँ हैं (i) जीवित रहने की प्रणाली, (ii) विभाजक प्रणाली और (iii) नियामक (Regulating) प्रणाली ।

(a) जीवधारी में जीवित रहने की प्रणाली में मुँह, पेट, आँते एवं गला आदि है जिसके द्वारा शरीर में भोजन का पाचन होता है और सम्पूर्ण शरीर यंत्र जीवित रहता है। समाज की भी अपनी निजी जीवित रहने की प्रणाली उत्पादन प्रणाली (Productive System) है जिसमें उत्पादन करने वाले क्षेत्र एवं कृषि क्षेत्र आदि सम्मिलित हैं ।

(b) जीवधारी में विभाजक प्रणाली में रक्त-शिरायें, हृदय, नसें एवं नाड़ियाँ आदि हैं जो सम्पूर्ण शरीर में रक्त का संचार करती हैं । सामाजिक ढांचे में यातायात एवं संदेश वाहन के साधन जीवधारी रचना के विभाजक प्रणाली के अनुरूप है । स्पेंसर के शब्दों में

"जो स्थान मनुष्य के शरीर में नसों और नाड़ियों का है, वही स्थान समाज में सड़कों, रेलों, डाक और तार का है।"[1]

(c) अंत में जीवधारी में नियामक के (Regulation) के रूप में मस्तिष्क है जो संपूर्ण शरीर को नियन्त्रण में रखता है, उसी प्रकार राज्य में नियामक का कार्य, सरकार करती है जो सभी व्यक्तियों और व्यक्तियों के समुदायों को नियन्त्रण में रखती है। अतः दोनों को स्पेंसर ने नियामक प्रणाली में सम्मिलित किया है।

उपरोक्त समानताओं के आधार पर स्पेंसर ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य भी एक जीवधारी रचना (Organism) है परन्तु साथ ही उसने यह बात भी स्वीकार की है कि दोनों के बीच समानताएं पूर्ण नहीं है तथा उनमें निम्न बातों की स्पष्ट असमानताएं हैं।

(i) दोनों में प्रथम असमानता तो यह है कि जीवधारी रचना का आकार ठोस है, अर्थात् उसकी इकाइयाँ परस्पर निकट संपर्क से जुड़ी हुई है परन्तु इसके विपरीत सामाजिक शरीर खंडित (discrete) है तथा इसकी इकाइयाँ पृथक एवं स्पष्ट है। उसके शब्दों में "सामाजिक शरीर की इकाइयाँ स्वतंत्र है और अधिक या कम बिखरी हुई है।"[2]

(ii) स्पेंसर ने जीवधारी रचना और सामाजिक संस्था के बीच एक अन्य अधिक महत्वपूर्ण अन्तर बताया है। उसके अनुसार जीवधारी रचना में सम्पूर्ण शरीर में एक निश्चित भाग में चेतना केन्द्र (Nerve Sensrium) स्थित हैं जबकि समाज में इस प्रकार की वस्तु स्थिति नहीं है। जीवधारी की भाँति समाज में चेतना का कोई एक केन्द्र नहीं होता अपितु समाज में चेतना केन्द्र व्यापक एवं बिखरे हुए हैं क्योंकि समाज में प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य की अन्यों से स्वतन्त्र सत्ता होती है जिसके कारण वह अपना मनमाना कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है। अन्य शब्दों में, समाज में प्रत्येक व्यक्ति में अपना निजी चेतना केन्द्र होता है।

परन्तु जीवधारी और समाज एवं राज्य में उपरोक्त आधारभूत (Fundamental) मतभेदों के होने पर भी स्पेंसर ने अपनी विचारधारा में कोई परिवर्तन नहीं किया अपितु इन भेदों के आधार पर उन्होंने अपने व्यक्तिवाद के सिद्धान्त की रचना की। उपरोक्त भेदों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राज्य को व्यक्ति को अपने निजी कल्याण के लिये मुक्त छोड़ देना चाहिये क्योंकि "समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिए है, न कि उसके सदस्यों का अस्तित्व समाज के लाभ के लिये है।" यह बात उल्लेखनीय है कि स्पेंसर ने कभी इस बात का अनुभव नहीं किया कि उसका निष्कर्ष उसके राज्य के जीवधारी सिद्धांत के विपरीत जाता है।

सिद्धान्त की आलोचना एवं मूल्यांकन—वस्तुतः राज्य के जीवधारी सिद्धान्त के विषय में दो दृष्टिकोण है। प्रथम, यह कि राज्य एक जीवधारी है और द्वितीय, यह कि एक जीवधारी के समान है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस सिद्धान्त की बड़ी उपयोगिता है क्योंकि यह राज्य और समाज की एकता पर बल देता है। यह बात सत्य है कि राज्य केवल व्यक्तियों का

1. "What arteries and veins mean to human body, the roads, railways, Posts and Telegraph services mean to society."
2. "The units of social body are free and more or less widely dispersed.

समूह मात्र नहीं है अपितु सामाजिक एकता का प्रतीक है। यह बात निर्विवाद है कि कोई व्यक्ति एकांत जीवन व्यतीत नहीं कर सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः समाज पर निर्भर रहने की बात मनुष्य के लिये स्वाभाविक (Natural) एवं आवश्यक (Necessary) है और समाज तथा राज्य भी एक जीवधारी की तरह संगठित है। अतः यह बात आसानी से स्वीकार की जा सकती है कि जीवधारी और राज्य तथा समाज में समानता है परन्तु यह बात स्वीकार करना कदापि संभव नहीं है कि राज्य जीवधार है (State is an organism) क्योंकि राज्य और जीवधारी में स्पष्टतया निम्न बातों का अंतर है:—

(i) जीवधारी रचना के जीवाणु (cells) तथा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के बीच कोई समानता नहीं है। जीवधारी के जीवाणु में किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होती। वे भौतिक पदार्थ के यांत्रिक टुकड़ों में विचारने या इच्छा की कोई शक्ति नहीं है और उनका अस्तित्व केवल मात्र सम्पूर्ण जीवन की सहायता करने और उसे स्थिर रखने के लिये होता है। इसके विपरीत समाज एवं राज्य के जीवाणु-व्यक्ति स्वतंत्र विवेकशील और नैतिक प्राणी हैं जो यंत्र की भाँति कार्य नहीं करते। यह सत्य है कि व्यक्ति भी समाज से स्वतंत्र रह कर अपना कल्याण नहीं कर सकता है परन्तु हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि समाज के बिना भी वह अपना निजी जीवन बिता सकता है।

दूसरी ओर जीवधारी रचना के जीवाणु अपने जीवन के लिये सम्पूर्ण पर ही आश्रित है क्योंकि यदि उन जीवाणुओं अथवा जीवधारी के किसी अवयव को मूल शरीर से पृथक कर दिया जाय तो उसका अंत हो जायेगा। उदाहरणार्थ एक पेड़ की किसी डाली को काट दीजिये या शरीर से हाथ या पाँव काट दीजिये तो वे नष्ट हो जायेंगे परन्तु व्यक्ति राज्य से निर्वासित रहकर अपने अंतःकरण के अनुसार स्वतंत्रता पूर्वक कार्य अवश्य कर सकते हैं।

(ii) जैसा हम ऊपर जीवधारी और राज्य की समानता के सम्बन्ध में उल्लेख कर चुके हैं कि जीवधारी और राज्य समानता और सरलता से असमानता और जटिलता की ओर से अग्रसर होते हैं परन्तु साथ ही हमें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि दोनों में जन्म, विकास और अंत की विधियों में स्पष्ट असमानता है। जैसा हम जानते हैं कि दो जीवधारी रचनाओं के मेल से एक नये जीवधारी का जन्म होता है परन्तु राज्य के जन्म की यह प्रणाली नहीं है। इसी प्रकार एक जीवधारी की मृत्यु सामान्य प्राकृतिक नियम है परन्तु राज्य की मृत्यु होने की बात संभव नहीं है जैलिनेक ने ठीक लिखा है, "विकास, पतन और मृत्यु राज्य के जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है यद्यपि वे जीवधारी के जीवन में स्वाभाविक है। राज्य का जन्म उस प्रकार कभी नहीं होता जिस प्रकार कि एक पौधे या पशु का जन्म होता है।"[1]

---

1. "Growth, decline and death are not necessary process of State life though they are inseparable from the life of an organism. The states do not originate or renew itself as a plant or as an animal does." —Jellinek.

उपरोक्त विवरण को पढ़कर यह कहा जा सकता है यद्यपि यह बात तो स्वीकार नहीं की जा सकती कि राज्य भी बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था में से होकर गुजरता है तथा उसका भी जन्म और पतन होता है जैसा कि स्पेंसर तथा उसके कुछ समर्थक प्रतिपादन करते हैं परन्तु साथ ही इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज और राज्य का अस्तित्व एवं उनकी इच्छा उनका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के अस्तित्व और इच्छाओं से भिन्न है।परन्तु जीवधारी सिद्धांत को पूर्ण रूप से स्वीकार करने का अभिप्राय: व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन बनाना है। जिसमें उसकी स्वाधीनता का अंत हो जावेगा और राज्य निरंकुश रूप से अधिनायक बन जावेगा। जैसा कि डा० लिकॉक लिखते हैं, "जैसा हाथ का शरीर से अथवा पत्ती का पेड़ से संबंध है, वैसा ही मनुष्य का समाज से संबंध है। व्यक्ति समाज में अस्तित्व रखता है और समाज व्यक्ति में। इसका वास्तविक अर्थ क्या है यह विश्व ने हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली में देख लिया है।"[1] इसीलिये विद्वान लेखक जैलिनेक का कथन है कि, "हमें इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिये अन्यथा इसकी अधिक असत्यता का डर इसकी थोड़ी बहुत सत्यता की अच्छाई को भी समाप्त कर देगा।"[2]

अंत में, निष्कर्ष रूप से हम यह लिखना उपयुक्त समझते हैं कि विद्वान् लेखक गैटल ने इस सिद्धान्त की उपयोगिता निम्न कारणों से स्वीकार की है :—

(1) यह सिद्धांत ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोण का महत्व सिखलाता है।

(2) यह सिद्धांत नागरिकों एवं राजनैतिक संस्थाओं की अंतर्निर्भरता पर बल देता है।

(3) यह सिद्धांत सामाजिक जीवन की अनिवार्य एकता को प्रतिपादित करता है।

(4) यह सिद्धांत यह बहुमूल्य शिक्षा प्रदान करता है कि समाज या राज्य व्यक्तियों के संगठन से कुछ अधिक है जिसका भी अपना अस्तित्व एवं इच्छा है।

(5) अंत में, यह सिद्धांत इस बात को प्रतिपादित करता है कि मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी है जिसके कारण ही समाज और राज्य का जन्म एवं विकास हुआ।

---

1. "As is the relation of hand to body or leaf to tree, so is the relation of man to society. He exists in it and it in him. What it actually means the world witnessed in Hitler's Germany and Mussolini's Italy."

2. "We had better rejected the theory in toto lest the danger from the larger amount of falsity in the analogy should outweigh the good in the little truth it contains." —Jellineck.

अध्याय 4

राज्य की उत्पत्ति
(Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(1) काल्पनिक सिद्धान्त
- (i) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
- (ii) शक्ति सिद्धान्त
- (iii) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

(2) अर्ध-काल्पनिक सिद्धान्त
- (i) पितृ प्रधान सिद्धान्त
- (ii) मातृ प्रधान सिद्धान्त

(3) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

"वे परिस्थितियां जिनमें आदिम मनुष्यों ने सबसे पहले राजनीतिक चेतना के प्रकाश को देखा और वे किसी प्रकार के राजनीतिक संगठन के रूप में एकत्रित हुए—ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णतया नहीं तो अधिकतर अस्पष्टता के कोहरे में ढके हुए हैं।" —गार्नर

राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई यह विशेष तथा एक ऐतिहासिक समस्या है। इतिहास ही हमें यह बताता है कि आर्य कौन थे, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म आदि का प्रचार तथा प्रसार कैसे हुआ? इसी प्रकार एशिया, यूरोप, रूस, अमेरिका आदि देशों की उत्पत्ति तथा विकास किन परिस्थितियों में हुआ यह भी हमें इतिहास ही बताता है। किन्तु प्रारम्भ में मनुष्य कैसे एक राज्य संस्था के रूप में संगठित हुआ इसके विषय में इतिहास मौन है। सभ्यता और संस्कृति के विषय में तो पुरातत्व विभागों द्वारा खुदाई तथा खोज का विवरण पुष्ट है किन्तु संस्था के रूप में संगठन का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं है। अतः राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने इसकी परिकल्पना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधार पर की है। गिलक्राइस्ट के अनुसार "जहाँ इतिहास असफल हो जाता है वहाँ हम कल्पना का सहारा लेते हैं।"[1] राज्य कब और कैसे बने यह कहना अत्यधिक कठिन है। अतः विभिन्न समयों पर राजनीतिज्ञों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किये हैं। कल्पनाएं की हैं। और उन्होंने कुछ सिद्धान्त भी निकाले हैं। इन्हीं सिद्धान्तों ने आदि काल से कालान्तर तक क्रमशः राजा और प्रजा के सम्बन्धों को समय समय पर प्रभावित किया एवं शासन व सत्ता का रूप निश्चित किया जिनसे ही हमें आज प्राचीन काल की राजनैतिक अवस्था एवं प्रवृत्तियों का पता चलता है।

राज्य की उत्पत्ति के कुछ अंश भी इन में ही विद्यमान है। राज्य के उत्पत्ति से संबंधित सिद्धान्तों को हम निम्न वर्गीकरण में बाँट सकते हैं—

(1) काल्पनिक सिद्धान्त—

(अ) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, (ब) शक्ति का सिद्धान्त (स) काल्पनिक समझौते का सिद्धान्त

(2) अर्द्ध काल्पनिक सिद्धान्त

(अ) पितृ प्रधान सिद्धान्त (ब) मातृप्रधान सिद्धान्त

(3) ऐतिहासिक सिद्धान्त

राज्य का विकास वादी सिद्धान्त—

[1] Of the circumstances surrounding the dawn of political conciousness we know little or nothing from history. Where history fails, we must resort to speculation."
—Gilchrist (Principles of Political Science P. 48.)

आगे हम प्रत्येक पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे:—

(1) काल्पनिक सिद्धान्त—

(अ) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य एक दैवी संस्था है। इसे ईश्वर ने मानव के हितार्थ बनवाया है। इस सिद्धान्त के अनुसार या तो ईश्वर स्वयं शासन करता है या वह अपने किसी प्रतिनिधि को शासन करने हेतु भेजता है। अतः राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और जनता का कर्तव्य है कि राजाज्ञा का पूर्णतः पालन करें। प्रजा के लिये राजा की आज्ञा का पालन एक धार्मिक कर्तव्य है। और उसका उल्लंघन अपराध नहीं अपितु पाप है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों एवं समर्थकों ने इस प्रकार शासक को जनता एवं विधि से श्रेष्ट बना दिया अर्थात् इस पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसकी इच्छा एवं शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। क्योंकि सभी वस्तुएं ईश्वर की ही बनाई हुई है। राज्य भी इसी की सृष्टि है। प्राचीन समय में बहुत काल तक राजनीति धर्म से सम्बन्धित रही है। तथा राज प्रभुत्व सदैव दैवी शक्तियों से सम्बन्धित रहा है। गैटल के अनुसार—"मानव इतिहास के एक दीर्घ काल तक राज्य ईश्वर कृत या दैवी समझा जाता था और सरकार का स्वरूप था।"[1]

दैवी सिद्धान्त का विकास— इसके सर्व प्रथम प्रतिपादक यहूदी थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि राजा की नियुक्ति ईश्वर के ही द्वारा होती है तथा वही उसे पदच्युत कर सकता है अर्थात राजा की सम्पूर्ण शक्ति का स्त्रोत ईश्वर है। राजा की नीति ईश्वर के संकेत पर ही आधारित होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, तारे, नक्षत्र, गृह आदि सब का रचियता ईश्वर है। ईश्वर ही मनुष्य को ज्ञान देता है और समय-समय पर अवतार लेकर या अपना पैगम्बर भेज कर मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाता है। ब्लुंशली के अनुसार "राज्य ईश्वर की कृति है और पृथ्वी पर दैवी सरकार का सीधा प्रकाशन है।"

यूनान तथा रोम में भी इसी सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी कतिपय यूनानी दार्शनिकों के मतानुसार राज्य एक स्वाभाविक संस्था है। रोम के लोगों का विश्वास था कि ईश्वर ही अप्रत्यक्ष रूप से राज्य का संचालन करता है। प्लूटार्क के मतानुसार "एक नगर की स्थापना भूमि के बिना असम्भव है। परन्तु ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।"

महाभारत में तथा मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी यह उल्लेख मिलता है कि राजा का निर्माण इंद्र, वरुण, यम, मित्र आदि देवताओं के ही अंश से हुआ है। महाभारत में यह स्पष्ट कहा गया है कि लोग प्रजापति के पास गये और उन्होंने प्रजापति से यह प्रार्थना की कि उन्हें ऐसा शासक दे जो उनकी अराजकता तथा राज्य की अशान्त दशा से रक्षा कर सके। उन्होंने कहा "हे प्रभु मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है हमें एक ऐसा व्यक्ति दो जिसकी हम मिलकर पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा।"

---

1 "During a large part of human history, the state was viewed as of direct devine creation and its Government was theocratic in nature."

—Gettel (Political Science Page 7)

गीता में स्वयं श्री कृष्ण ने कहा कि "मैं मनुष्यों में राजा हूँ" कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को इंद्र वयम के समान वर्णित किया गया है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजा को देवतुल्य तथा ईश्वर कृत माना गया है किन्तु उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि राजा को निरंकुश बना दिया जाये। मनुस्मृति में यह कहा गया है कि "राजा धर्म के अधीन है और धर्म की रक्षा के लिए ही वह दंड धारण करता है धर्म से पतित राजा अपने बन्धुओं सहित मारा जाता है।"

ईसाई धर्माचार्यों ने भी राज्य के दैवी सिद्धान्त को यूरोप में बहुत फैलाया। उनके अनुसार मनुष्य अपने पाप कर्म के कारण स्वर्ग से पृथ्वी पर धकेल दिया गया और ईश्वर ने पृथ्वी पर शासन करने के लिए राज्य स्थापित किया तथा राजा की नियुक्ति की। सन्त पाल के अनुसार "प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिये क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियां ईश्वर की दी हुई है। अतः जो भी कोई उनकी अवज्ञा करता है वह ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करता है। और जो लोग ऐसा करते हैं उन पर ईश्वरीय श्राप गिरता है।"[1]

मिस्र के प्राचीन निवासी राजा को साक्षात ईश्वर मानते थे और वहाँ राजा को सूर्यपुत्र समझा जाता था। इसी प्रकार चीन में भी राजा ईश्वर का प्रतिनिधि अवतार अथवा देवता वंशज समझा जाता था जापान में तो आज तक भी राजा मिकाडो को सूर्य देवता का पुत्र कहा जाता है।

इंगलैंड में स्टुअर्ट राजाओं ने भी इसी सिद्धान्त का सहारा लिया। जेम्स प्रथम कहा करता था कि राजाओं को दैवी अधिकार प्राप्त है। जेम्स प्रथम के अनुसार "राजा लोग पृथ्वी पर भगवान की श्वास लेती हुई मूर्तियां हैं और उनके आदेशों की अवज्ञा भगवान की अवज्ञा है। जिस तरह परमात्मा के कृत्य का मुकाबला करना नास्तिकता और ईश्वर निन्दा है उसी तरह एक प्रजाजन में यह भाव होना कि राजा क्या कर सकता है अथवा यह कहना कि यह या वह नहीं कर सकता अधर्म एवं ईश्वर विरोध है।" पर यहूदियों के प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में भी यही उल्लेख मिलता है कि ईश्वर ही राजा को नियुक्त करता है। वही अत्याचारी शासकों को सिंहासन से उतारता व उनकी हत्या करता है।

इसी प्रकार मिस्र, अरब, चीन तथा जापान आदि देशों में भी राज्य को ईश्वरीय संस्था माना गया है। मिस्र आदि देशों में तो राजा को साक्षात ईश्वर ही मानते थे तथा ईश्वर के ही समान उसकी पूजा की जाती थी। सिकन्दर महान् ने जब मिस्त्र विजय की तो उसने तो यही आदेश दे दिया कि उसकी (स्वयं) पूजा भी ईश्वर की ही तरह से की जाये। चीन में भी राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि अवतार अथवा देवता का वंशज माना जाता था।

1. "Let every soul be subject into the higher powers, for there is no power but of God: the powers that be, are ordained of God whosoever resisteth the power, resisteth the ordinance of God and they they that resist shall receive to them selves damnation."
—(St. Paul to Rowan, Romans X, 1 and 2)

जापान में तो अब भी उसे सूर्यपुत्र माना जाता है। यूरोप में जब धर्म सुधार हुआ तो मार्टिन लूथर तथा कैल्विन आदि ने सांसारिक सत्ता अर्थात राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का ही समर्थन किया। लूथर आदि के मतानुसार भी राज्य ईश्वर द्वारा निर्मित माना जाता रहा। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया किन्तु उस समय यह विवाद उठा था कि राज्य की शक्ति जनता के हाथ में रहनी चाहिये अथवा राजा के हाथों में तो यूरोप के राजाओं ने अपनी राजशक्ति को सुरक्षित रखने के लिये, "राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त" बना लिया। राजाओं के दैवी अधिकार राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्तों का सहारा लेकर बना लिये गये जो इस प्रकार हैं।

राजा का दैवी अधिकार—यह तो सर्व सम्मत मत है कि यह अधिकार राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। अपनी सत्ता स्थापित करने तथा स्वेच्छाचारी शासक होने के लिये ही राजाओं ने इस सिद्धान्त की घोषणा की। उन्होंने ही यह प्रचार व प्रसार किया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है।

डा. फिग्स के अनुसार—यह सिद्धान्त चार मुख्य बातों पर आधारित है:—

(i) राज सत्ता ईश्वर प्रदत्त है।

(ii) राज सत्ता वंशगत व पैतृक है।

(iii) राजा विवेक का महान स्वरूप है अत: केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है।

(iv) राजा की अवज्ञा अथवा उसका विरोध करना पाप है।

इन तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा को ईश्वर नियुक्ति करता है, जनता नहीं तथा राजशक्ति पिता द्वारा पुत्र को हस्तान्तरित होती है (वंशगत) और इस उत्तराधिकार को समाप्त नहीं किया जा सकता। राजाज्ञा का पालन ही ईश्वर की प्रमुख इच्छा है अत: जनता को राजाज्ञा माननी चाहिये तथा उसका विरोध कदापि नहीं करना चाहिये। राजा कानून तथा जनता से भी बड़ा है जैसे ईश्वर के दिये हुए अन्य प्रकोप महामारी, हैजा, आग, भूकम्प, आंधी, दुर्घटना, रोग, मृत्यु आदि को मनुष्य सहन करता है, उसके दु.ख झेलता है, इसी प्रकार राजा द्वारा किये हुए अत्याचारों को भी मनुष्य को सहन करना चाहिये क्योंकि राजा भी तो एक तरह से ईश्वर का बनाया हुआ या भेजा हुआ प्रतिनिधि है जो ईश्वर का ही रूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार अच्छा राजा प्रजा के अच्छे कर्मों का पुरस्कार है और अन्यायी या अत्याचारी राजा उसके दुष्कर्मों का दण्ड है जिसे स्वीकार करना अनिवार्य है।

सर्व प्रथम जेम्स प्रथम ने जो स्टुअर्ट वंश का था इस अधिकार का इंगलैंड में प्रचार किया। 17 वीं शताब्दी में इसी कारण राजा को देवता तक समझा जाने लगा था। जेम्स के अनुसार—"राजाओं को देवता कहना उचित है, क्योंकि पृथ्वी पर उनकी और ईश्वरीय शक्ति की समानता है। ईश्वर क्या कर सकता है इस पर विचार करना जिस प्रकार अधर्म एवं नास्तिकता है उसी प्रकार राजा क्या कर सकता है इस पर विचार करना या

है कहता कि राजा कुछ नहीं कर सकता यह कौन है आदि बातें प्रजा के लिये धृष्टतापूर्ण एवं अवज्ञापूर्ण है। क्योंकि राजा लोग पृथ्वी पर ईश्वर की जीवित प्रतिमाएं हैं।"[1]

राबर्ट फिल्मर ने भी पैट्री आर्का में उपरोक्त मत का समर्थन किया। लूई 14 वें के स्वेच्छाचारी शासन को स्वीकार करते हुए बूजे का भी यही मत था कि राजतन्त्र सर्वोत्तम प्रकार का राजनैतिक संगठन है और राजा का राज्य में वही स्थान है जो पिता का कुटुम्ब में। राजा ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।" अतः राजा के दैवी अधिकारों के समर्थकों ने सदा ही यह कहा कि राजा की आज्ञा पालन करने से ही समाज में शान्ति स्थापित रह सकती है अन्यथा अराजकता फैलने का भय है। राजा यदि बुरा भी है तब भी जनता को उसे हटाने का कोई अधिकार नहीं है वह अधिकार केवल परमात्मा को है अन्य को नहीं। क्योंकि वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, जनता के प्रति नहीं।

मध्य युग में इस सिद्धांत के प्रबल समर्थन का कारण शायद यह भी रहा हो कि रोम के कैथोलिक सम्प्रदाय के विरुद्ध यह सिद्धान्त राजा को बल प्रदान करता था, और उस काल में पोप का जो अनुचित विस्तार हो रहा था पोप जो विलासी, अत्याचारी और निरंकुश होते जा रहे थे उनके अधिकारों पर इस सिद्धान्त से रोक लगती थी तब किसी ने भी यह कल्पना तक नहीं की थी कि भविष्य में यही सिद्धान्त राजाओं के अत्याचारी हो जाने का कारण भी बनेगा। क्योंकि बाद में जनता की राजनैतिक जाग्रति के विरुद्ध तथा प्रजातन्त्र के विचारों का हनन करने के लिये राजाओं ने इसी का सहारा लिया था। अठारहवीं सदी में जनता ने यह अनुभव किया कि यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है तथा क्रियात्मक रूप में भयानक है और सभी से इसका त्याग किया गया। किन्तु रूस, आस्ट्रीया, जर्मनी आदि देशों में कुछ काल बाद तक भी यह सिद्धान्त प्रचलित रहा।

दैवी सिद्धान्त का मूल्यांकन—राज्य एक मानवी संस्था है क्योंकि इसके नियम मानव द्वारा ही निर्मित तथा क्रियान्वित किये जाते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं के कारण हुई और उन्हीं की संतुष्टि के लिये राज्यों का अस्तित्व बना रहा। ऐसी स्थिति में दैवी सिद्धांत अनुचित ही नहीं वरन् भयंकर भी है। क्योंकि यह शाही अधिकार के एक पक्षीय अधिकार को न्यायी ठहराता है। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बनाकर धार्मिक रूप से स्वीकृत बनाता है। यह निरंकुशतावाद का निरा प्रचार मात्र है और राजा को नियन्त्रणहीन तथा स्वेच्छाचारी बनाता है। यदि राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मान भी लिया जाये तब भी अविवेकी, अत्याचारी, विलासी, बर्बर राजा को मान्यता देना कहाँ उचित नहीं लगता क्योंकि भगवान तो सत्य, शिवं और सुन्दरम् है और उसके प्रतिनिधि को भी तद्नुरूप ही होना चाहिये।

1. "Kings are justly called Gods for the exercise a manner of resemblance of divine power upon earth. As it is atheism and blasphamy dispute What God can do: so it is presumption and high contempt in a subject to dispute what a king can do or to say that a king can not do this or that. Kings are beathing images of God upon earth."
—James I

आधुनिक राजनैतिक विचारकों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया। बुद्धिवाद के विकास तथा राष्ट्रवाद और जनतन्त्र की धारणा के कारण यह सिद्धान्त क्षीण होता चला गया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पश्चात तो लगभग इसका नाश ही होने लगा तथा यह समझा जाने लगा कि राज्य मनुष्य की राजनैतिक इच्छाओं का परिणाम है। गिल क्राइस्ट के अनुसार इस सिद्धान्त के पतन के निम्न कारण प्रमुख हैं:—

(i) समझौते के सिद्धान्त की उत्पत्ति जिसने अनुमति पर अधिक बल दिया।

(ii) आत्मिक शक्ति से अलग एहिक या सांसारिक शक्ति की प्रधानता अर्थात धर्म एवं राज्य का पृथक्करण

(iii) प्रजातन्त्र के उदय से निरकुंश शासन के सिद्धान्त का विरोध

दैवी सिद्धान्त की आलोचना—(1) यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक अनैतिहासिक तथा अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि राज्य के कानून बनाना और उन्हें लागू करना मनुष्य का कार्य है। इतिहास में इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है।

(2) यह सर्व सिद्ध है कि इस सिद्धान्त की ओट में राजाओं ने प्रजा को सदैव धोखा ही दिया है। तथा धर्म का मुखौटा लगा कर अपनी निरकुंशता और स्वेच्छा चारिता से प्रजा पर सदैव अत्याचार ही किये हैं। राजा सदा ही मानव के प्रति उत्तरदायी है और ईश्वर से उनका सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों की तरह व्यक्तिगत ही है। किन्तु मानव से उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत नहीं अपितु पदगत है।

(3) धर्म का क्षेत्र सदा ही राजनीति से भिन्न रहा है। यह सिद्धान्त भी राजनैतिक है धार्मिक नहीं क्योंकि धर्म के क्षेत्र में मनुष्य भावना से काम लेता है किन्तु राजनीति के क्षेत्र में मानव विवेक, बुद्धि तथा तर्क से काम लेता है। यह सिद्धान्त वर्तमान काल में राष्ट्रपति की नियुक्ति पर भी लागू नहीं होता है क्योंकि उसका निर्वाचन जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा ही होता है। अतः यह सिद्धान्त अवास्तविक एवं काल्पनिक मात्र है।

(4) यह सिद्धान्त अनैतिक भी है। ... का मत था कि ईश्वर अत्याचारी व अत्याचारी राजा जनता को दंड देने के लिये चुनता है किन्तु यह ठीक नहीं है ऐसे राजा ईश्वरीय नहीं वरन भ्रष्टाचार के जीवित उदाहरण अवश्य हो सकते हैं।

(5) यह सिद्धान्त राज्य को दैवी और पवित्र बता कर व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता का हनन करता है अतः यह प्रगतिकारी नहीं वरन प्रतिगामी है। इसमें कहीं भी जनता के अधिकारों की बात नहीं कही गई है।

(6) नास्तिकों के लिये इस सिद्धान्त का कोई महत्व ही नहीं है कारण कि वे ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते तो राजा को उसका प्रतिनिधि भी स्वीकार कैसे करें।

दैवी सिद्धान्त का महत्व—वर्तमान युग में भले ही इसका महत्व न रहा हो किन्तु प्राचीन काल में निरन्तर ही इसका ऐतिहासिक महत्व रहा है। इतिहास बताता है कि

प्राचीन काल में धर्म का राजनीति पर कितना प्रभाव था। वस्तुतः धर्म ने ही मानव को आज्ञाकारी बनाया, उसमें भय की भावना उत्पन्न की जो अति आवश्यक थी। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को भी धार्मिक शपथ लेनी पड़ती थी जिसके आधार पर न्याय करता उसका भी नैतिक कर्तव्य था इस सिद्धान्त ने ही समाज से अराजकता तथा अव्यवस्था को दूर किया और राज्य में शान्ति स्थापित की। धर्म की शक्ति ने व्यक्ति, सम्पत्ति और सत्ता की सुरक्षा करने में पर्याप्त सहायता दी। इसी से मनुष्य में कर्तव्य, सहयोग तथा उत्तरदायित्व की भावना का उदय हुआ। मनुष्य में कानून के प्रति निष्ठा का भाव जागृत हुआ क्योंकि मनुष्य ईश्वर से डरता था अतः इसी भय ने मनुष्य के पापी व दुराचारी होने या दुष्कर्म करने पर सदा ही अंकुश रखा। इससे हमें पता चलता है कि धर्म और राज्य एक न होने पर भी परस्पर आबद्ध अवश्य थे आधुनिक राज्यों में भी कुछ राजनैतिक कार्य कम धार्मिक क्रियाओं से संबद्ध है। उदाहरणार्थ राज्याभिषेक अथवा पद की शपथ लेने में ईश्वर धर्म या आत्मा का स्थान अब भी है। राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री मंत्रीमंडल, न्यायाधीश अथवा राज्य के कई अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारियों को धार्मिक प्रक्रिया द्वारा पद की शपथ आज भी लेनी पड़ती है। इतना ही नहीं आधुनिक विश्व में भी कुछ राज्य ऐसे है जो धार्मिकता पर आधारित हैं, जैसे पाकिस्तान। 1924 के पूर्व टर्की भी धार्मिक राज्य था।। इस सिद्धान्त ने राज्य को नैतिकता प्रदान की और उसे ऐसी संस्था बना दिया जिसे नागरिक श्रद्धा की दृष्टि से देखे।

दैवी सिद्धान्त के ह्रास के कारण,

विद्वान लेखक गिल क्राइस्ट के मतानुसार इस सिद्धान्त के पतन के निम्न कारण हैं:–

(1) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—जिसने राजा और प्रजा के आपसी कर्तव्यों के पालन और जनता की इच्छा के महत्व पर बल दिया और जिसने प्रजा। पर अधिक बल दिया।

(2) धर्म और राज्य का पृथक्करण,-जिसके कारण सांसारिक मामलों में धर्म का महत्व घट गया। चूंकि धर्म की दृष्टि से दैवी सिद्धान्त भी धार्मिक सिद्धान्त ही था अतः उसका महत्व भी जाता रहा एवं धार्मिक शक्ति के स्थान पर धर्म से, भिन्न शक्तियों का अभ्युदय हो गया।

(3) लोक तन्त्र का उदय—जिसके परिणाम स्वरूप जन साधारण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गये। अतः धीरे-धीरे राजाओं की शक्तियां कम होती गई और निरंकुशवाद प्रायः समाप्त सा ही हो गया।

(ब) शक्ति सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति अथवा बल प्रयोग राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसके अनुसार राज्य और शासन शक्ति पर आश्रित है। राज्य सर्वोच्च शक्ति का परिणाम है। राज्य की उत्पत्ति में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती है। शक्ति-शाली का निर्बल को अपने अधिकार में रखने तथा उन पर शासन करने की प्रवृत्ति से ही राज्य की उत्पत्ति हुई। मानव स्वभाव से ही महत्वाकांक्षी तथा

ईर्ष्यालु व झगड़ालू होता है। उसमें अपने अधिकारों के प्रति आकांक्षा होती है। इसी की पूर्ति के लिये शक्ति शाली लोग आदि काल से ही निर्बल पर बल पूर्वक अधिकार करते आये हैं। और उन पर शासन करने लगे हैं। धीरे धीरे वह शक्ति के बल पर अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ा कर एक जनपद बना लेता और उसका एक छत्र नेता बन बैठता। फिर एक जनपद बल के आधार पर दूसरे जनपद से युद्ध करता उसे अपने अधीन करके उस पर भी अपना प्रभुत्व जमा लेता। शक्ति के इसी क्रमानुसार राज्यों और साम्राज्यों का उदय हुआ। प्राचीन यूनान में स्पार्टा और एथेंस नगर राज्यों (जनपदों) ने अपने पड़ोसी निर्बल जनपदों को जीतकर साम्राज्यों का निर्माण किया। इसी प्रकार प्राचीन भारत में मगध कोशल, अवन्ति, वत्स आदि भी निर्बल जनपदों पर विजय प्राप्त कर महा जनपदों के रूप में विकसित हुए। ह्यूम ने लिखा है, "राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुई होगी जब किसी मानव दल के नेता ने शक्ति शाली और प्रभाव शाली होकर अनुयायियों पर अधिकार जमाकर उन पर अपनी हुकूमत लादी होगी।" इससे स्पष्ट है कि शक्ति ही राज्य की उत्पत्ति का मूल रूप है। इस बात की पुष्टि करते हुए जेंक्स ने लिखा है, "यह सिद्ध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं है कि आधुनिक राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्ध में है।"[1] वोल्टेयर ने प्रथम राजा को एक भाग्यशाली योद्धा माना है।"[2] इस कथन की पुष्टि धर्म ग्रन्थों में भी मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है, देवताओं में पहले कोई राजा नहीं होता था, जब असुरों (राक्षसों) से युद्ध हुआ तो उसमें उनकी पराजय हुई। हार की समीक्षार्थ जब उनकी सभा हुई तो उसमें कहा गया कि "हमारी पराजय का कारण युद्ध में हमारा नेतृत्व करने वाला कोई राजा नहीं है। आओ हम सब मिल कर राजा को चुन लें।"[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रंथ में कहा है, एक बार देवों और असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने बड़े लड़के इन्द्र को छिपा दिया कि कहीं असुर उसे मार न डालें। देवताओं ने प्रजापति के पास जाकर निवेदन किया कि राजा के बिना युद्ध करना असंभव है। और यज्ञ द्वारा इन्द्र से राजा बनने की प्रार्थना की। इससे स्पष्ट है कि युद्ध से राजा की उत्पत्ति हुई है। (War begot the king) इतना ही नहीं प्राचीन धर्म ग्रंथों में दंड की भी कल्पना की गई है जो राज्य की शक्ति का प्रतीक है। राज्य की सुरक्षा और लोक कल्याण के लिए दंड अनिवार्य समझा गया है। दंड द्वारा ही राजा राज्य की प्राप्ति, सुरक्षा, और उन्नति करता है। कौटलीय ने अर्थशास्त्र में दंड को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रतीक मानते हुए लिखा है, "दंड द्वारा राजा से सुरक्षित हुए चारों वर्ण और आश्रम, अपने अपने धर्म और कर्म में लगे रहते हैं तथा अपने अपने मार्ग पर चलते हैं।"[4] उन्होंने विद्वानों का मत प्रकट करते हुए लिखा है, "लोक में कोई ऐसी

---

1. "Historically speaking, there is not the slightest difficulty in proving that all political communities of the modern type owe their existence to successful warfare."
—Jenks : History of politics P. 71.
2. "The first King was fortunate warrior."
—Voltaire.
3. ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ 1, 14.
4. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालित: ।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥ 3/1/5

उत्तम वस्तु वश में करने वाली नहीं है जैसी दंड नीति।"[1] छान्दोग्य उपनिषद में भी लिखा है, "शक्ति से पृथ्वी, स्वर्ग, पहाड़, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सब सीधे खड़े रहते हैं शक्ति से इस विश्व में स्थिरता आती है। वह जो शक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह इस विश्व का देवता और स्वामी है।" मनु ने दंड का निर्माण राजा के निमित्त माना है। इसी को सूत्र रूप में मत्स्य न्याय कहा है जिसके अनुसार सबल निर्बल को अपना आहार बनाता है। लीकॉक ने लिखा है," ऐतिहासिक रूप से इसका यह अभिप्राय है कि शासन मानव आक्रमण का परिणाम है, राज्य का जन्म एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को दास बनाने तथा एक निर्बल कबीले पर एक बल शाली कबीले की विजय से हुआ। साधारणतया श्रेष्ठ सैनिक शक्ति द्वारा जो किसी व्यक्ति ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों पर अधिकार जमाया; उसी से राजसत्ता का उदय हुआ। इसी कारण कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य का धीरे धीरे विकास हुआ।"[2] आधुनिक समाज शास्त्री भी इसी सिद्धांत का समर्थन करते हैं। प्रसिद्ध समाज शास्त्री ओपेन हाइमर ने लिखा है," जहां तक राज्य की उत्पत्ति का सम्बंध है, पूर्ण रूपेण खासकर सम्भवतः अपने अस्तित्व की प्रथम दशा में राज्य एक सामाजिक संस्था है जिसको कि मनुष्यों के विजयी समूह पर आन्तरिक विद्रोह और बाहरी आक्रमणों से बचने के लिये और विजयी समूह ने पराजित समूह पर राज्य का नियमन करने के उद्देश्य से पराजित समूह पर बलपूर्वक लादा है।"[3] इसी और स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि "राज्य वह संगठन है जिसमें एक वर्ग अन्य वर्गों पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है। ऐसे वर्ग संगठन का जन्म केवल युद्ध द्वारा एक समूह की दूसरे समूह पर विजय द्वारा ही सम्भव है।"[4]

दूसरा, इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य के विकास का आधार भी शक्ति को ही मानते हैं। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, सीजर, बाबर, अकबर, औरंगजेब, नेपोलियन, हिटलर आदि ने अपने साम्राज्य शक्ति के आधार पर ही फैलाये।

---

1. न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्ड
   इत्याचार्य : 8/1/5
2. "Historically, the theory of force means that government is the out come of human aggression, that the beginnings of the State are to be sought in the Conquer and enslavement of man by man, in the conquest and subjugation of feebler tribes, and generally speaking in the self-seeking domination acquired by superior physical force. The progressive growth from tribes to kingdom and from kingdom to empire is but a continuation of the same process." —Dr Leacock.
3. "The state completely in its gensis, essentially and almost cemletely during the first stages of its existence, is a social institution forced by a victorious group of on a defeated group, with the sole purpose of regulating the dominion of the victorious group over the vanquished and securing itself against revolt from with in and attacks from abroad." —Oppenheimer
4. The state may be defined as an organization of one class dominating over the other classes. Such a class organisation can come about in one way only namely, through Conquest and the subjection of ethanic groups by the dominating group." Oppenheimer. The State ch. IV.

तीसरा, इसके समर्थक राज्य की सुरक्षा का आधार भी शक्ति को ही मानते हैं। देश में आन्तरिक शान्ति और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा सेना द्वारा ही स्थापित की जाती है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों से मित्र राष्ट्रों ने सैनिक शक्ति से ही अपने-अपने साम्राज्यों की रक्षा की थी। यह सब शक्ति से ही सम्भव है अन्यथा उसकी कोई भी परवाह नहीं करेगा। ब्लुंशली ने लिखा है," बिना शक्ति के न कोई राज्य उत्पन्न होता है और न स्थायी रह सकता है।"[1]

शक्ति सिद्धान्त के मूल-तत्त्व शक्ति सिद्धांत के निम्न वर्णित मूल तत्त्व हैं।

(1) राज्य सबलों द्वारा निर्बलों पर अधिकार तथा प्रभुत्व का परिणाम है।"[2]

(2) शक्ति ही न्याय है।[3]

(3) युद्ध ने ही राजा को जन्म दिया है।[4]

शक्ति सिद्धान्त का इतिहास—इतिहास की दृष्टि से शक्ति सिद्धांत की विचारधारा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में 'मत्स्य न्याय' और 'वीर भोग्या वसुन्धरा' अर्थात् वीर ही पृथ्वी का शासन करते हैं की विचारधारा मिलती है। प्राचीन यूनान मे सोफिस्टों ने राज्य की उत्पत्ति को शक्ति पर ही आधारित किया था। पोलबियस (204 से 212 ई. पू.) ने भी शक्ति सिद्धांत का समर्थन किया है। प्लेटो के समकालीन विचारकों में भी इस सिद्धांत का समर्थन मिलता है। केलीक्लीज ने मत्स्य न्याय का समर्थन करते हुए कहा है कि बलवान जो करता है वह ठीक है। प्लेटो ने सीमेकीस के विचारों का उद्धृत करते हुए लिखा है कि "संसार में कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है। शक्ति शाली द्वारा लागू की गई व्यवस्था ही न्याय संगत अधिकार है।"[5]

मध्य युग मे ईसाई धर्मावलम्बियों ने चर्च की राज्य पर श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये राज्य को पाशविक शक्ति पर आधारित बतलाना प्रारम्भ किया। पोप ग्रेगरी सप्तम ने लिखा है, "हम में से कौन इस बात से अपरिचित है कि राजाओं और सामन्तों की उत्पत्ति उन क्रूर आत्माओं से है जो परमात्मा को भूलकर उद्दण्डता, लूटमार, कपट, हत्या और प्रत्येक अपराध से संसार के शासक के रूप में बुराई का प्रसार करते हुए अपने साथी मनुष्यों पर मदान्धता और असहनीय धारणा के साथ राज्य करते रहें।'[6] मध्य युग की समाप्ति पर मेकियावेली (Machiaveli) ने इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए लिखा है कि राजा को नैतिकता-अनैतिकता की परवाह किये बिना छल कपट आदि द्वारा भी येनकेन प्रकारेण

1. "Without force a state can neither come into being nor Continue, force is required with in, as well as without." —Bluntschli.
2. "The State is the result of the subjugation of the weaker." —by the stronger.
3. Might is right.
4. War begot the king.
5. "I proclaim that justice is nothing else than the interest of the stronger." Thrasymaschus quoted by Plato in his Repblic I, S 338 c p 16 ed 1950.
6. "Which of us is ignorant that kings and Lords have had their orgin in those who ignorant of God. by arrogance, rapine and perfidy, slaughter, by every crime with the devil agitating as the prince of the world, have cotinued to rule over their fellow men with blind cupidity and intolerable presumption." —Gregory VII

राज्य को शक्तिशाली बनाना चाहिए। इस प्रकार चाणक्य की भांति मेकियावेली ने भी साम दाम दंड भेद की नीति का समर्थन किया है। अनुबन्धवाद के समर्थक हाब्स ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "वह अनुबन्ध केवल शब्दों का समूह है और व्यक्ति को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता है। जो तलवार की शक्ति पर आधारित न हो"......केवल शब्दों से व्यक्तियों के क्रोध, लोभ, मोह और स्वार्थ का दमन नहीं किया जा सकता जब तक कि इन पर कोई अंकुश न लगाया जाये।"

आधुनिक काल में अनेक विचारधारा के अनुयायियों ने अपने विचारों में इस सिद्धांत को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

(1) व्यक्तिवादियों (Individualists) ने इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहा है कि समाज में अस्तित्व के लिये निरन्तर संघर्ष होता है जिसमें जो सबल होता है वह रह जाता है और निर्बल नष्ट हो जाता है।[1] हर्बर्ट स्पेन्सर राज्य को शक्ति का ही फल मानता था यह उचित भी है क्योंकि प्रकृति अथवा समाज में रहने मात्र से व्यक्ति सुरक्षित नहीं हो सकता है जब तक उसकी सुरक्षा की व्यवस्था न की जाये।

(2) साम्यवादियों (Communists) ने इस सिद्धांत का समर्थन विपरीत निष्कर्ष निकालने के लिये किया था। उनके अनुसार राज्य वर्ग संघर्ष के आधार पर बना है और सबल वर्ग निर्बल वर्ग का शोषण करता है लेनिन ने लिखा है, "राज्य पूंजीपतियों के हाथ में एक ऐसा साधन है जिससे वे जनता की बहुसंख्या पर शासन करते हैं।"[2] इसीलिये कार्लमार्क्स ने मजदूरों को संगठित होकर क्रांति द्वारा राज्य पर अधिकार करने का आह्वान किया था ताकि पूंजीवाद का नाश हो सके। साथ ही परन्तु उनका भी राज्य पर अधिकार भी अस्थायी माना था ताकि शक्ति के प्रतीक राज्य का क्रमशः अंत होकर एक वर्गहीन और राज्यहीन समाज (Classless and statelss society) की स्थापना हो सके।

(3) अराजकतावादियों (Anarchists) ने भी राज्य को शक्ति का ही परिणाम माना है अतः वे इसे अनावश्यक बुराई मानते हैं जिसकी समाप्ति होनी चाहिये।

(4) अधिकारवादी दार्शनिकों (Authoritarian philosophers) में से भी विशेषकर जर्मन दार्शनिकों ने इस सिद्धांत में नये सिरे से जीवन फूंका है। उन्होंने राज्य के लिये शक्ति और युद्ध की आवश्यकता पर बल दिया है। ट्रीटस्की ने लिखा है, "राज्य आक्रमण और प्रतिरक्षा की सार्वजनिक शक्ति है जिसका मुख्य काम युद्ध करना और न्याय की व्यवस्था करना है।"[3] बर्नहार्डी लिखता है, "संघर्ष प्रकृति का नियम है। प्राणियों के लिये युद्ध जीवन की एक आवश्यकता है।"[4] इस प्रकार प्रकृति की भांति मानव समाज

---

1. Struggle for existence and survival of the fittest.
2. "The state is the instrument of exploitation in the hands of capitalists who rule over the population." —Lenin.
3. "The state is the public power of offence and defence the first task of which is the making of war and admining of justice." —Treitschke.
4. 'Might is the *supreme right* and the *dispute as to what is right is decided by the* arbitrament of war' War gives a biological just decision, since its decision rest on the very nature of things." —Bernhard.

में भी निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इसके फलस्वरूप उपयुक्त और शक्तिशाली व्यक्ति आगे आते हैं। आधुनिक काल में शक्ति सिद्धांत के प्रबल समर्थक ओपनहीमर हैं। उनका कहना है कि राज्य वह संगठन है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग पर आधिपत्य स्थापित करता है और यह केवल युद्ध द्वारा ही संभव है। आगे कहा है कि प्रत्येक मनुष्य में एक आर्थिक प्रेरणा है। उसकी भौतिक आवश्यकताएं मानव के विकास का मुख्य कारण हैं। ये आवश्यकताएं दो ही प्रकार से पूर्ण होना संभव है। या तो मनुष्य स्वयं काम करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे या बल प्रयोग द्वारा दूसरे के श्रम को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम बनाये। पहला ढंग श्रम का है दूसरा डाकेजनी का। पहला ढंग आर्थिक और दूसरा राजनैतिक। राज्य की उत्पत्ति आर्थिक ढंग से न होकर राजनैतिक ढंग से अर्थात् सबलों की आवश्यकताओं की पूर्ति निर्बलों के श्रम से हुई है। ओपनहीमर ने राज्य की उत्पत्ति की छः अवस्थाएं मानी है। प्रथम, पशुपालक और कृषकों में लगातार युद्ध परन्तु कृषक अपनी रक्षा करने में असमर्थ। अतः वह अपना विरोध करना छोड़ देता है। द्वितीय अवस्था में आक्रमणकारी भी उसकी सम्पत्ति और प्राणों को नष्ट न करके उसकी पैदावार में से उसके खाने के लिए छोड़कर शेष को उठा ले जाते हैं। तृतीय अवस्था में किसान स्वयं ही अपनी पैदावार में से एक निश्चित भाग दे देते हैं और इसके बदले में उन पर उनके प्राणों और सम्पत्ति की रक्षा का दायित्व आ जाता है। चौथी अवस्था में विजेता विजितों में नये सम्बन्धों की सृष्टि होती है। पांचवीं अवस्था में विजेता विभिन्न गांवों के बीच झगड़े निपटाने के लिए एक-एक कर्मचारी नियुक्त करते हैं छटी अवस्था और अंतिम अवस्था में विजित और विजेता दोनों एक हो जाते हैं और विजेता-समूह का नेता राजा कहलाने लगता है। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई।

19 वीं शताब्दी में बिस्मार्क ने रक्त और लौह (Blood and Iron) की नीति निर्धारित की थी। द्वितीय महायुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी ने शक्ति सिद्धांत का पल्ला पकड़ा था। और अब और साम्यवादी चीन तो आज भी खुले आम युद्ध का समर्थन कर रहा है। जिसने यह घोषणा की है कि शक्ति बंदूक की नली में निहित है। (Power Lies in the barrel of the gun).

शक्ति सिद्धांत का मूल्यांकन—इतना होने पर भी राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का आंशिक योग माना जा सकता है, इसे पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता है। स्लटासी कहता है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बहुधा राज्यों की उत्पत्ति युद्धों से हुई है परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि केवल शक्ति द्वारा ही राज्यों की उत्पत्ति हुई है। अन्य तत्व जैसे रक्त सम्बन्ध, धार्मिक एकता, आर्थिक हित आदि तत्वों का भी इस संस्था के आविर्भाव में महत्वपूर्ण भाग रहा है। गार्नर के अनुसार अब बहुत कम ऐसे लेखक हैं जो राज्य की उत्पत्ति में बल का समर्थन करते हैं। परन्तु यह सत्य है कि बल अथवा शक्ति राज्य की विशेषताएं हैं अर्थात् राज्य अपने सदस्यों को अपनी आज्ञा पालन करा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शक्ति आन्तरिक और बाह्य क्षेत्रों के लिए आवश्यक अंग है। परन्तु

इतना होते हुए भी विद्वानों का कहना है कि राज्य का उत्पत्ति शक्ति द्वारा नहीं हुई है।"[1] ब्लटशली के अनुसार इस सिद्धांत में सत्य का अंश यह है कि बिना शक्ति के न कोई राज्य उत्पन्न होता और न स्थायी रह सकता है। परन्तु केवल शारीरिक शक्ति पर्याप्त नहीं है, नैतिक शक्ति भी आवश्यक है।[2]

हक्सले ने कहा है कि मानव जगत में सहयोग और सहकारिता की भावना प्रमुख हैं। बल और शक्ति का स्थान गौण है। राज्य की स्थापना बल पर स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकती है। जनता के शरीर पर बलात् काबू भी पाले तो वह स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकता। वास्तविक जोर तो जनता के हृदय पर अधिकार प्राप्ति से हो हो सकती है जो बल द्वारा कदापि संभव नहीं है।

2. डा. मार्शल कहते हैं कि 'सबलों का राज्य' उन स्वार्थी लोगों का राज्य है जो अपने वातावरण को सबसे कम लाभ पहुँचाते हैं और निर्बलों के परिश्रम का फल भोगते रहते हैं।

3. गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि यदि यह सिद्धांत सत्य होता तो मिल्टन या न्यूटन सदृश दुर्बल प्राणी इस संसार में नहीं बच पाते और संसार उनके अमूल्य योगदान से वंचित रह जाता। मानव समाज शक्ति की अपेक्षा सहानुभूति, सेवा, सहयोग, प्रेम आदि गुणों पर आधारित है।

4. नैतिकता, उचित और अनुचित का भेदभाव प्रत्येक सभ्य समाज के लिए अनिवार्य है। समाज की रीढ़ नैतिकता है। कांट के अनुसार चोर व लुटेरों के समाज में भी न्याय और उचित अनुचित का विचार होता है नहीं तो वह समाज ही नष्ट हो जाए। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "बल राज्य की एक कसौटी होता है परन्तु उसका सार नहीं। यदि वह राज्य का सार बन जाए तो राज्य का अस्तित्व उसी समय तक रह सकता है, जब तक शक्ति बनी रहे। शक्ति का विवेकहीन प्रयोग सभी क्रांतियों का पूर्वगामी रहा है। राज्य का स्थायी आधार नैतिक बल होता है। औचित्य पूर्ण बल उन मानव मस्तिष्क के समान ही स्थायी होता है, जिन पर वह आश्रित होता है।"[3] इसके अतिरिक्त यदि

1. "The emergence of the state was not due to force, although in the process of expansion force, undoubtedly played a part."

2. "However, even the errors of the doctrine contain a residuum of truth. It makes prominent one element. Which is indispensable to the state.........without force a state can neither come into being nor continue. Force is required within, as well as without (But) without right the might of the stronger is brutal, it is the wolf that devours the lamb United with right, it becomes worthy of the moral nature of man."

—Bluntschli: Theory of the state p. 291 of Russian Social contract, chap III willoughby the nature of the state p. 41.

3. "Coercive power is a criterion of the state, but not its essence. It becomes essence of the state, it can last so long as might can last. Indiscriminate use of force has been the forerunner of all revolutions. Moral force is the permanent foundation of the state. Might with right is as lasting as the human minds on which it depends."

—Gilchrist.

बल की ही राज्य का आधार मान भी लिया तो अपने अस्तित्व स्थापना के लिए निरन्तर युद्ध ही चलते रहेंगे जो अवांछनीय है। इसका समर्थन करते हुए ग्रीन ने भी लिखा है, "राज्य का निर्माण उस बल प्रयोग के द्वारा होता है जो लिखित अथवा अलिखित कानून के अनुसार भीतरी व बाहरी आक्रमणों से नागरिकों की रक्षा के लिए निर्मित किया जाता है।"[1] बोडिन ने लिखा है, "केवल शक्ति डाकुओं के गिरोह का संगठन कर सकती है, राज्य का नहीं।"[2] इससे स्पष्ट है कि उत्पत्ति तथा विकास में शक्ति ने भले ही योग दिया हो पर इसका स्थायी आधार शक्ति की अपेक्षा नागरिकों का कल्याण ही हो सकता है।

(5) शक्ति सिद्धान्त के अनुसार शक्तिशाली की जीत की धारणा मान्य होती है। बर्नहार्डी, सर हेनरीमेन तथा स्पेन्सर ने योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) के सिद्धान्त पर बल दिया है। योग्यतम की विजय का अर्थ है सबसे शक्तिशाली को जीवित रहने का अधिकार। अतः जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती है। इससे समाज में सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा अराजकता फैल जायेगी। अतः समाज में शांति और न्याय की दृष्टि से शक्तिशाली का अर्थ हक्सले के मतानुसार वह है जो जीवित रहने और उत्पादन की वृद्धि हेतु परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करता है। इसी प्रकार मार्शल का मत है कि शक्तिशाली वह नहीं जो परिस्थिति का भला करता है बल्कि वह है जो परिस्थितियों से सबसे अधिक लाभ उठाता है। इस प्रकार शारीरिक शक्ति की अपेक्षा नैतिक या आध्यात्मिक शक्तिवाला अधिक शक्तिशाली माना जाता है। उदाहरणार्थ महात्मा गांधी शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी नैतिक और आत्मिक बल की दृष्टि से कितने शक्तिशाली थे कि अन्ततः शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को भी उनकी बात को गौरपूर्वक सुनना पड़ा।

(6) शक्ति सिद्धान्त को मान्यता देने पर इसके परिणाम बहुत भयंकर हो सकते हैं। इसके आधार पर शक्तिशाली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों की स्वतन्त्रता समाप्त कर उन्हें अपने अधीन कर लेगा जिसके परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग हो जायेगी।

(7) राज्य शक्ति की अपेक्षा मानव चेतना का परिणाम है। लिण्डसे ने लिखा है "राज्य और सरकार में सभी संस्थाएँ मानव चेतना का परिणाम हैं और वे ऐसी कृतियां भी हैं जो मनुष्य द्वारा नैतिक उद्देश्य को समझने के कारण उत्पन्न हुई हैं।" इस प्रकार शक्ति सिद्धान्त कसौटी पर खरा नहीं उतरता है।

सारांशतः शक्ति का सिद्धान्त पूर्णतः सत्य नहीं तो पूर्णतः मिथ्या भी नहीं है। राज्य की उत्पत्ति में निश्चय ही शक्ति का अंश रहता है। देश की आन्तरिक शांति और बाह्य आक्रमणों से रक्षा में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है परन्तु इस सदंर्भ में आवश्यकता

---

1. "It is not coercive power as such but coercive power exercised according to law, Written or unwritten, for the maintenance of the existing rights of the citizens for external and internal invasions that makes a state." —T. H Green
2. "Superior force may make a band of robbers but not a state." —Bodin

ती ही है कि शक्ति का प्रयोग और विवेकपूर्ण ढंग से जन साधारण के हित में होना हिए।

(स) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (The Social Contract Theory)—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। वस्तुतः राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के विरुद्ध जो प्रक्रिया हुई उसी के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ।

समझौते का अर्थ—इस सिद्धान्त का अर्थ है कि राज्य को परमात्मा ने नहीं बनाया बल्कि लोगों ने परिस्थिति से विवश होकर शासकों के साथ एक समझौता किया, जिसके फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। गार्नर ने लिखा है कि जिन विद्वानों ने इस सिद्धान्त को राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया उन्होंने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मानव जाति की आदिम अवस्था को प्राक् नागरिक (Pre-Civil) अथवा प्राक् सामाजिक (Pre-Social) अवस्था माना जिस अवस्था से मुक्ति पाने के लिए व्यक्तियों ने परस्पर प्रकट या अप्रकट समझौता किया जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने के अपने प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) का परित्याग कर उसके स्थान पर नागरिक अधिकार (Civil Rights) अर्थात् 'राज्य द्वारा उत्पन्न और रक्षित अधिकार' प्राप्त किये, अर्थात् इस प्रकार समझौते के द्वारा राज्य का जन्म हुआ। राज्य के निर्माण से पूर्व-प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं से तंग आकर प्राकृतिक मानव ने राज्य की स्थापना का निर्णय लिया था। विलोबी के अनुसार "सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य को समाज के उन व्यक्तियों द्वारा किये गये समझौते का परिणाम मानता है जो उस संगठन निर्माण के पूर्व सब प्रकार के राजनीति नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त थे।"[1]

इस सिद्धान्त की मुख्य मान्यतायें निम्न हैं:—प्रथम, इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक नैसर्गिक संस्था न होकर मानव निर्मित या कृत्रिम संस्था है। दूसरा, राज्य का कोई विकास नहीं हुआ है बल्कि इसका निर्माण एक निश्चित समय में हुआ है। तीसरा, राज्य का निर्माण किन्हीं निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है। इसीलिए जिन व्यक्तियों के द्वारा इसका निर्माण हुआ है उनको पूरा-पूरा अधिकार है कि वे राज्य को भंग करें, इसके स्वरूप में परिवर्तन को या इसको नया रूप प्रदान करें। यदि सरकार प्रजा के हितों के विरुद्ध कार्य करे तो प्रजा को सरकार बदलने का पूरा पूरा अधिकार है। यही कारण है कि 18 वीं शताब्दी में यूरोप में सरकारों को निरंकुश स्वेच्छाचारी शासकों के हाथों से निकाल कर प्रजातंत्रात्मक स्वरूप प्रदान किया गया। वस्तुतः सामाजिक समझौतों का सिद्धान्त निम्न तीन मान्यताओं पर आधारित है जिनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है:—

1. "Contact theory.........founds the state upon an original agreement entered into by the individuals of a society, who prior to that time, have been entirely independent of political cotrol." —Willoughby.

(1) प्राकृतिक अवस्था—राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते से हुई है और इससे पूर्व की अवस्था को प्राकृतिक अवस्था माना है। प्राकृतिक अवस्था की स्थिति के सम्बन्ध में सभी विचारक एकमत नहीं है। कुछ विद्वानों ने इस अवस्था को कष्ट पूर्ण माना है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में लोगों का जीवन शान्तिपूर्ण था। प्राकृतिक कानून ही उसके जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों के संरक्षक थे परन्तु आगे चलकर लोग इन नियमों की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करने लगे। इससे झगड़े बढ़ने लगे। रूसो ने भी प्राकृतिक अवस्था को स्वर्ग के समान आनन्ददायी माना है परन्तु आगे चलकर जनसंख्या में वृद्धि होने एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा प्रारम्भ होने से प्राकृतिक अवस्था में झगड़े प्रारम्भ हो गये। इस प्रकार हाब्स, लॉक तथा रूसो इन तीनों के ही अनुसार जब प्राकृतिक अवस्था असह्य हो गई, तो इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को सामाजिक समझौता करना पड़ा।

(2) सामाजिक व राजनीतिक समझौता (Social and Political Contract)—हाब्स और रूसो के अनुसार एक समझौता हुआ था जबकि लॉक के अनुसार दो समझौते हुए हैं। हाब्स के अनुसार लोगों ने सामाजिक समझौते के द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके एक समझौता किया जिसके अनुसार समाज की रचना हुई। इसी समझौते के परिणाम स्वरूप शासक उत्पन्न हुआ। शासक समझौते में सम्मिलित नहीं था अतः उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगता है। इस प्रकार हाब्स निरंकुश शासक का समर्थन करता है। लॉक के अनुसार दो समझौते अर्थात एक सामाजिक समझौता हुआ और एक राजनीतिक पहले समझौते के अनुसार समाज की रचना हुई और दूसरे के अनुसार सरकार की। इस प्रकार राजा निरंकुश न रहकर शर्तों से बंध गया। यदि वह जनता के अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ नहीं है तो उसे जनता द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। इस प्रकार लॉक ने सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र (Limited or Constitutional Monarchy) को जन्म दिया। रूसो के अनुसार लोगों ने प्राकृतिक अवस्था में अपने समस्त व्यक्तिगत अधिकार सम्पूर्ण समाज को दे दिये। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मानव अपने अधिकारों को अपने से पृथक करके समाज को सुपुर्द करता है, और समाज का अंग होने के कारण उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है मनुष्य ने अपनी अराजक अवस्था को दूर करने के लिये ऐसा किया। रूसो के अनुसार मनुष्य का यह समझौता दो पक्षों में हुआ। एक पक्ष में वह वैयक्तिक रूप से है तो दूसरे में सामूहिक रूप से। उसके अनुसार एक ऐसे संविदा की कल्पना है जिसके कारण व्यक्ति का स्थान समूह और व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा (General will) को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार रूसो प्रत्यक्ष लोकतंत्र का समर्थन करता है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

इस सिद्धान्त ने मध्ययुगीन अवस्था का विरोध किया जिसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। अतः इस सिद्धान्त की विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक आलोचनाएं भी हुई जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है,—

(1) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से—ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धांत की मुख्यतः निम्नलिखित आलोचनाएं की गई हैं।

(i) इस सिद्धान्त के अनुसार मानव जाति का विकास पूर्व सामाजिक और सामाजिक दो अवस्थाओं में हुआ। जैसा कहा गया है कि पूर्व सामाजिक अवस्था में मनुष्य सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से मुक्त था जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से युक्तियुक्त नहीं लगता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है वह सदा से ही समाज का अंग रहा है फिर चाहे वह समाज अविकसित और अव्यवस्था में ही क्यों न रहा हो। इतना ही नहीं, समाज एक निरन्तर विकसित संस्था है जिसका आदिकाल से लेकर आज तक निरन्तर विकास होता रहा है। अतः मानव समाज का दो अवस्थाओं में विभाजन तर्कसंगत नहीं लगता है।

(ii) इस सिद्धान्त के अनुसार मानव आदिम युग में सामाजिक प्राणी की अपेक्षा व्यक्तिपरक अधिक था। परन्तु समाज शास्त्र द्वारा तत्कालीन समाज के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानव व्यक्तिपरक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक था। यह बात स्पष्ट है कि उस युग में समाज की इकाई व्यक्ति की अपेक्षा परिवार अथवा समूह थी और व्यक्ति तथा व्यक्तिगत अधिकारों का कोई मूल्य न था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का स्वेच्छा से समझौता करना और राज्य का निर्माण करने की बात सोचना स्पष्ट रूप से ही विश्वसनीय नहीं लगती है।

(iii) इस सिद्धांत के अनुसार आदिम अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों का वर्णन तो जंगली और आपस में लड़ने झगड़ने वालों के रूप में किया गया है फिर उनमें अचानक समझौता करने की सूझ-बूझ कहां से आ गई? अतः जंगली अवस्था के निवासियों द्वारा समझौता करने की मान्यता भी एक गलत धारणा है जिसे कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती।

(iv) मानव शास्त्रियों ने मानव जीवन में असामाजिक अवस्था कभी नहीं मानी है, अपितु यह माना है कि मनुष्य सदा ही परिवार में रहते हुए सामाजिक नियमों से बंधा रहा है। अतः इस सिद्धांत के समर्थकों का कथन अनैतिहासिक है।

(v) इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति संविदा है अर्थात् प्रारम्भ में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र और समान थे और बाद में समझौते द्वारा समाज की स्थापना की गई। परन्तु हेनरी मेन के अनुसार संविदा के अनुसार समझौते से समाज का प्रारम्भ नहीं अन्त हो जाता है।

(vi) ब्लुंशली ने कहा है, "यह सत्य है कि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहां दो या दो से अधिक राज्यों ने परस्पर समझौता कर नये राज्य को जन्म दिया, ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं जहां राज्यों ने विशेष वर्गों के साथ समझौता कर नये विधानों को लागू किया, परन्तु ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जहां एक व्यापारिक संस्था की भांति समझौते द्वारा नागरिकों ने एक राज्य की स्थापना की हो।" ग्रीन ने इस सिद्धांत को कल्पना मात्र माना है। कुछ विद्वानों ने इसके समर्थन में 1620 ई. में मेफलावर समझौता (Mayflower Contract of 1620) 1936 ई. के समझौता (Providence Agreement of 1936), 1780 का

मैरी फ्लावर का संविधान आदि के उदाहरण दिये हैं। मैरी फ्लावर संविधान में स्पष्ट लिखा है कि हम लोग एक दूसरे के साथ समझौता कर रहे हैं। परंतु वास्तविकता तो यह है कि यह एक घोषणा मात्र थी, ऐतिहासिक तथ्य का लेश नहीं। मेफ्लावर समझौता जो यूरोप के 101 प्रवासियों द्वारा किया गया था, के अध्ययन से ज्ञात हो जायेगा कि वे लोग प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले नहीं थे जिन्होंने किसी नवीन राज्य की स्थापना की हो अपितु वे पहले से एक राज्य (यूरोपीय राज्य) के नागरिक थे और इस समझौते के द्वारा पहले से विद्यमान राज्य (अमेरिका) की नागरिकता स्वीकार की थी। इतना ही नहीं उसमें स्पष्ट लिखा है कि हम एक विद्यमान प्रभु की राजभक्त प्रजा हैं। अतः ये लोग किसी प्राकृतिक अवस्था में नहीं रहते थे जिसे छोड़ने के लिए समझौता किया गया हो।

(2) कानूनी दृष्टिकोण से—कानूनी दृष्टिकोण से भी इस सिद्धांत की निम्नलिखित आलोचनाएं की गई हैं:—

(i) प्रत्येक वैधानिक कार्य के पीछे उसे कार्यान्वित कराने के लिए कोई शक्ति होनी चाहिए परन्तु जब यह तथा कथित सामाजिक समझौता हुआ उस समय कोई ऐसी शक्ति स्थापित नहीं की गई जो इसका पालन करा सके। अतःयह सिद्धांत कानूनी दृष्टिकोण से उचित नहीं लगता है।

(ii) जब यह सिद्धांत मूलतः ही गलत प्रमाणित हो जाता है तो फिर उसके बाद के सभी समझौते ठीक कैसे कहे जा सकते हैं। साथ ही इन समझौतों से जिन अधिकारों का निर्माण हुआ है, वे भी अवैधानिक हैं।

(iii) लॉक ने कहा है कि राज्य में रहने के कारण भावी पीढ़ियां भी प्रारम्भिक समझौते को मानने के लिए बाध्य हैं। पर अधिकांश विद्वान इस तर्क से सहमत नहीं हैं क्योंकि कोई भी समझौता उसके करने वाले की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है। वस्तुतः हर नई पीढ़ी को नये राज्य के साथ नया समझौता करना चाहिए। पर ऐसा नहीं होने से यह सिद्धान्त उचित नहीं लगता है।

(3) दार्शनिक दृष्टिकोण से—दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह सिद्धांत उपयुक्त नहीं लगता है।

(i) इस सिद्धांत के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है अर्थात् राज्य की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से राज्य एक स्वाभाविक और अनिवार्य संस्था है। एडमन बर्क ने लिखा है, "राज्य को काली मिर्च और, कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार की हिस्से दारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया और जब दोनों पक्षों में से किसी ने,चाहा तो भंग कर दिया। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना होगा यह हिस्सेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है, यह हिस्सेदारी पूर्ण कलात्मक है, यह हर उपाय से और हर प्रकार से पूर्ण

का विरोध किया है और प्रजातंत्रीय शासन के विकास में योग दिया है।" इसने शासन का आधार मनुष्यों की स्वीकृति बतलाकर निरंकुश शासन की विचारधारा की जड़े ही हिला दी है।

(2) इस सिद्धान्त ने दैवी सिद्धान्त को निर्मूल सिद्ध करते हुए यह प्रस्तावित कर दिया कि राज्य ईश्वरीय इच्छा का फल न होकर निर्माण है। इस सिद्धान्त ने शासकों के मन से ईश्वर के प्रतिनिधि होने की भावना को समाप्त करके जनता की इच्छा में निहित कर दिया।

(3) इससे स्वतन्त्रता, समानता और मानवीय अधिकारों को प्रभावशाली बना दिया जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक ढाँचे में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1689 में इंगलैंड में राजा जेम्स द्वितीय को गद्दी से उतरना पड़ा। 1776 में अमेरिका स्वतंत्रता की घोषणा हुई। 1789 में फ्रांस की राज्य क्रान्ति हुई। इतना ही नहीं राजतंत्र और साम्राज्यवाद संसार के प्रायः सभी देशों में समाप्त हो रहा है जो इसी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

हाब्स, लॉक और रूसो के सामाजिक सिद्धान्त सम्बन्धी विचार
(The Social Contract Theory of Hobbes, Locke and Rousseau)

हाब्स, लॉक और रूसो सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। अतः इनकी विचारधारा का संक्षिप्त विवरण करना अनिवार्य हो जाता है जो इस प्रकार है:—

टामस हाब्स (Thomas Hobbes, 1588–1679)—हाब्स का जन्म ब्रिटेन के मेल्मेसबरी नामक नगर में हुआ था अतः तत्कालीन परिस्थितियों में संसद के विरुद्ध राजा की सत्ता का समर्थक था। वह चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक रह चुका था। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति महत्वकांक्षी है और वह शक्ति से अन्य मनुष्यों को अपने अधीन बनाने की चेष्टा किया करता है। परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का शत्रु होता है। यह अवस्था एक ऐसे संग्राम की अवस्था होती है कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से लड़ता है। इस दशा में मानव व पशु में विशेष अन्तर नहीं रहता। इसमें न तो उन्नति ही सम्भव होती है और न ज्ञान, शिक्षा या कला कौशल का विकास ही संभव होता है।

प्राकृतिक अवस्था—प्राकृतिक अवस्था में मानव शीघ्र ही ऊबता जाता है। उसे सदा यह भय लगा रहता है कि उसका जीवन व सम्पत्ति खतरे में है। स्वभाव से ही व्यक्ति अपने जीवन की रक्षा व सम्पत्ति के संचय व सुरक्षा से मोह करता है, इसलिए वह राज्य की स्थापना करके अपने आपको प्राकृतिक अवस्था के बर्बर जीवन से अलग करना चाहता है।

समझौता—समझौता प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति से करता है। सभी लोग एक व्यक्ति को अथवा व्यक्ति समूह को जिसे भी वह अपना शासक स्वीकार करते हैं, अपने सम्पूर्ण अधिकार दे देते हैं। इस प्रकार एक सर्व शक्तिमान राज्य का जन्म होता है। समझौता करते समय वे एक दूसरे से केवल यह शर्त करते हैं कि सभी व्यक्ति उस सम्राट

को अपने सम्पूर्ण अधिकार दे रहे हैं। हाब्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (लेवियथान) में अपने विचारों को पूर्णतया व्यक्त किया है। यह अपने मतानुसार सबसे उच्च केवल राजा को ही मानता था। उसके अनुसार राजसत्ता सम्राट में निहित है और उसके अधिकार प्रतिबन्ध रहित है। हाब्स ने इस सम्बन्ध में अपने निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं:—

(i) जनता ने स्वयं अपने सम्राट को चुना है और उसको चुनते समय किसी ने उसका विरोध नहीं किया।

(ii) जनता ने उसे अपने पूर्ण अधिकार दे दिए और अपने लिए कोई अधिकार बचाकर नहीं रखे हैं।

(iii) यदि जनता शासक सम्राट का विरोध करके उसे हटा देती है तो राज्य समाप्त हो जावेगा और मानव पुन: प्राकृतिक अवस्था की ओर प्रवेश करेगा। तब उसका जीवन जंगली असभ्य और बर्बरता पूर्ण होगा।

हाब्स के मत की आलोचना

(1) हाब्स का व्यक्ति जो स्वभाव से ही शक्ति से प्रेम करता है, लड़ाकू एवं खूंखार तथा लालची है वह कैसे शांति तथा सभ्य जीवन के विषय में सोच सकता है। अत: ऐसा सोचना कि हाब्स का व्यक्ति एक अच्छे राज्य की स्थापना करेगा यह तो उसके स्वभाव के ही सर्वथा विपरीत है।

(2) हाब्स राज्य व सरकार में अन्तर नहीं मानता। इसलिए उसका यह विचार है कि सम्राट को हटाने से राज्य भी समाप्त हो जावेगा। सच तो यह है कि राज्य स्थायी है तथा राजा या सरकार परिवर्तनशील है।

(3) हाब्स के हाथों में समझौता व समझौते के सिद्धान्त एक निरकुंश राज्य के संरक्षक है जिसमें प्रजातंत्रीय जनता के अधिकार और स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है।

अत: आज हाब्स के द्वारा प्रतिपादित समझौते का विशेष महत्व नहीं है।

जान लॉक (Locke 1632-1704)

जान लॉक एक दार्शनिक था, जिसने इंगलैंड में सीमित राजतंत्र का पक्ष लेने के लिए सामाजिक समझौते का प्रयोग किया है। हाब्स की भांति लॉक भी अपने मत को प्राकृतिक अवस्था से ही शुरु करता है। लॉक का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था लड़ाई, झगड़े, शत्रुता एवं अशान्ति की न होकर शान्तिमय एवं सहयोगी जीवन की अवस्था थी। प्राकृतिक जीवन में व्यक्ति को जीवन एवं सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त थे।

प्राकृतिक अवस्था—इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपने एवं दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का आदर करता था, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियम था कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें। इसके पश्चात् लॉक समझौते के कारणों का उल्लेख करता है। लॉक की प्रसिद्ध पुस्तक (Two treaties on Government) में इस विचार पर पूर्णत: प्रकाश डाला गया है। उसके मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में कोई लिखित कानून नहीं थे और ऐसी कोई भी व्यवस्था भी नहीं थी कि जिससे यह निश्चित किया जा सके कि अमुक नियम तोड़ा गया है। यदि यह निश्चित

हो भी जाये तो नियम तोड़ने वालों को दण्ड देने का कोई साधन नहीं था। इसलिए मनुष्यों ने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करने का निश्चय किया ताकि सामाजिक जीवन में व्यवस्था स्थापित की जा सके।

लॉक के समझौतों का स्वरूप

लॉक ने दो समझौते माने हैं:—

प्रथम समझौता—जनता में आपस में हुआ जिसके द्वारा उन्होंने संगठित समाज का रूप धारण किया और राज्य बनाने का निश्चय किया।

दूसरा समझौता—शासक एवं जनता के बीच हुआ जिसके द्वारा जनता ने एक कार्यकारिणी को इसलिए चुना कि वह उसके जीवन एवं सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और यदि वह अपने कर्त्तव्यपालन से विमुख हो जाये तो उसे पदच्युत किया जा सके।

लॉक के अनुसार भी राजसत्ता सम्राट में निहित थी परन्तु सरकार का स्वरूप निरंकुश राजतंत्र का नहीं था। जनता ने राजसत्ता अपने ही हाथों में रखी अतः उसे सरकार को हटाने का अधिकार था, अर्थात् लॉक सीमित राजतंत्र का पक्षपाती था। लॉक का विचार था कि सरकार के अधिकार जनता के जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों से प्रतिबन्धित हैं। यदि सरकार जनता के अधिकारों पर आघात करती है तो जनता को अधिकार है कि वह ऐसी सरकार को हटा दे।

लॉक के मत को आलोचना

(1) लॉक की आलोचना का मुख्य आधार यह है कि वह विचारधारा को भली-भाँति नहीं समझ पाया। यह बात सर्वमान्य है कि अधिकार प्राकृतिक अवस्था में नहीं हो सकते क्योंकि अधिकारों के अस्तित्व के लिये राज्य की सार्थकता अनिवार्य है।

(2) लॉक ने कानूनी रूप में जनता को विद्रोह का अधिकार प्रदान किया परन्तु यह बात भी सर्वथा अस्वाभाविक है क्योंकि कानूनी अधिकार वही है जिसे राज्य स्वीकार करले। राज्य कभी भी अपने विरोधी अधिकारों को स्वीकार नहीं करेगा। फिर भी लॉक की विचारधारा हाब्स की विचारधारा से अधिक प्रजातंत्रात्मक है।

रूसो (Rousseau 1712–87)

18 वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी पुस्तक सामाजिक अनुबन्ध (The Social Contract) में किया है। रूसो भी अपने मत को प्राकृतिक अवस्था से ही शुरू करता है। रूसो की विचारधारा हाब्स तथा लॉक के बीच की विचारधारा है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक जीवन की अवस्था न तो लड़ाकू जीवन की अवस्था है और न वह लॉक के सहयोगी जीवन की ही अवस्था है। इसमें तो मनुष्य शान्त, विवेक से युक्त पर किन्तु सम्पत्ति के प्रति विमुख एवं सीधा और सरल जीवन व्यतीत कर रहा था। रूसो का मत है कि जब से व्यक्ति में निजी सम्पत्ति रखने का भाव आया ... द्वारा राज्य की स्थापना का विचार आया।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)

रूसो के अनुसार मनुष्य सभ्य सामाजिक अवस्था की अपेक्षा प्राकृतिक अवस्था में अच्छा था। उस समय उसका जीवन एकांकी और जंगली था। सभी आवश्यकताओं की पूर्ति वह स्वयं कर लेता था। उस समय उसमें बुद्धि का विकास नहीं हुआ था केवल नैसर्गिक प्रवृत्तियां थीं। परस्पर मनुष्यों में न नैतिक सम्बन्ध था न उसको अधिकार और कर्त्तव्य का ज्ञान था। उसमें केवल आत्म रक्षा और दया की भावना ही कार्य करती थी। अतः वह स्वार्थी होते हुए भी दूसरों की सहायता के लिए सदा तत्पर रहता था। उसका उद्देश्य था, "अपना हित साधन करो, परन्तु दूसरों की कम से कम संभव हानि हो।"[1] प्रत्येक मनुष्य समान था और उनमे परस्पर छोटे बड़े का भेद न था। इस प्रकार उसका जीवन शांति पूर्ण था। उनमें किसी प्रकार का आपस में कलह नहीं था। अतः प्राकृतिक अवस्था में वह जंगली होने पर भी उत्कृष्ट जंगली (Noble Savage) था क्योंकि उसमे सभ्य मनुष्यों वाले दुर्गुण न थे। फलतः आदिम प्राकृतिक अवस्था आदर्श थी परन्तु वह अवस्था अधिक समय तक न रह सकी।

कालान्तर में- जनसंख्या में वृद्धि, ज्ञान का विकास, पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होने से मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि एव सम्पत्ति के भाव उदित हुए। इससे पारस्परिक समानता की भावना समाप्त हो गई। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की सुख शांति को नष्ट कर दिया। उसके 'स्वतंत्र, स्वस्थ, सत्यनिष्ठ तथा सुखी जीवन' का अंत हो गया। इसीलिए रूसो ने लिखा है कि "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है, परन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में आबद्ध है।"[2] उसके मतानुसार मनुष्य में सभ्यता के विकास के साथ-साथ अनेक दुर्गुणों का समावेश हो गया।

समझौता (Contract)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य का जीवन कष्टमय बनता गया। अतः इस बात की आवश्यकता हो गई कि एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जाये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा का पालन कर सके और साथ ही इस कष्टपूर्ण जीवन से छुटकारा मिल सके। रूसो ने इस समय की आवश्यकता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "क्या कोई इस प्रकार का समुदाय बनाना संभव है जो कि अपने सदस्यों के धन-जन एवं समाज की सम्पूर्ण शक्ति के साथ रक्षा करे और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ गुंथित रहते हुए केवल अपनी आत्मा के आदेशानुसार आचरण कर सके और पूर्व की भांति ही स्वतन्त्र रह सके।" रूसो ने इस समस्या का समाधान सामाजिक समझौते में पाया। उसके अनुसार सभी व्यक्तियों ने एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने समस्त अधिकारों को समर्पित कर दिया। यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं था अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए था। समर्पण के फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज की सामान्य इच्छा (General Will) उत्पन्न हुई जिस

1. "Do good to yourself with as little evil as possible to others"
2. "Man is born free but every where he is in chain."

अंतर्गत रहते हुए मनुष्य अपना कार्य करता है। रूसो के शब्दों में, "प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हम में से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।" कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति ने समझौते के अनुसार अपनी शक्तियों को सामूहिक ढेर में मिला दिया और स्वयं उसका अविभाज्य अंग बन गया। इस मिश्रण का नाम ही राजनैतिक समाज है।

रूसो के सामाजिक समझौते की विशेषताएँ

रूसो के सामाजिक समझौते की निम्न लिखित विशेषताएं हैं।

1. रूसो के सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं—एक व्यक्तिगत और दूसरा समूहगत। समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण कर देता है परन्तु इन अधिकारों का समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के प्रति किया जाता है। व्यक्ति भी इस सम्पूर्ण समाज का एक सदस्य होता है अतः समाज का सदस्य होने के नाते समूहगत व्यक्तित्व के आधार पर अपने ये अधिकार फिर से प्राप्त कर लेता है।

2. राज्य को सामाजिक समझौते के अनुसार असीमित अधिकार प्रदान किये गये हैं परन्तु इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त नहीं होता है बल्कि जनहित में कार्य करना ही स्वतंत्रता है।

3. समझौते से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है, जो वह सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च है।

4. सामाजिक समझौते से जो सामान्य इच्छा का निर्माण होता है वह सदा ही न्याय युक्त होती है।

रूसो केवल सामाजिक समझौते को ही स्वीकार करता है राजनैतिक समझौते को नहीं। इस समझौते के आधार पर किसी सरकार की नहीं अपितु सामान्य इच्छा पर आधारित प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है रूसो के समाज या राज्य की सर्वोच्च शक्ति सामान्य इच्छा है जो असीमित, अविभाज्य, विधि का स्रोत और आदर्श होती है।

इस प्रकार समझौते के अनुसार लोकतंत्री समाज की स्थापना होती है, जिसके अन्तर्गत प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित है और शासन का कार्य सामान्य इच्छा पर किया जाता है।

सामान्य इच्छा (General will)—रूसो के विचारों में सामान्य इच्छा का परिचय मिलता है। राजनीति में रूसो की यह सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक देन है। यह सम्प्रभुता है जो पूरे समाज में निहित है। परन्तु सामान्य इच्छा के सम्बन्ध में रूसो की स्पष्ट धारणा नहीं है। कभी तो वह समाज के व्यापक कल्याण को सामान्य इच्छा मानता है तो कभी वह बहुमत की इच्छा को सामान्य इच्छा मानता है। वस्तुतः सामान्य इच्छा वह इच्छा है जो रहित हो। अनेक विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है।

(1) वेपर—"सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सर्व साधारण की भलाई है व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सभी का भलाई के निमित्त सभी की आवाज है।"[1]

(2) डा. आशीर्वादम्—"यह समाज के सभी सदस्यों की शुद्ध इच्छा का योग या संगठन अथवा समन्वय है।"

(3) ग्रीन—"सामान्य इच्छा सामान्य हित की सामान्य चेतना है।"

(4) बोसांक्वे—"यह सम्पूर्ण समाज या समस्त व्यक्तियों की इच्छा है जहाँ तक उसका लक्ष्य सामान्य हित है।"

इससे स्पष्ट है कि यथार्थ इच्छा (Actual will) और आदर्श इच्छा (Real will) को रूसो ने इनका एक ही अर्थ में प्रयोग न करके विशेष अर्थों में प्रयोग किया है। यथार्थ इच्छा स्वार्थपरक होती है। इसमें सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना अधिक रहती है। डा. आशीर्वादम ने लिखा है कि "यह व्यक्ति की व्यक्तिगत हित पर आधारित, समाज विरोधी, क्षणिक एवं तुच्छ है। यह संकुचित है तथा आत्म विरोधी है।" इसका उद्देश्य वैयक्तिक हित होता है। इसके विपरीत आदर्श इच्छा मानव की वह इच्छा है जिसका उद्देश्य समाज का कल्याण है। इसका आधार तर्क बुद्धि, समाज हित तथा विवेक पूर्ण चिन्तन है। डा. आशीर्वादम् ने लिखा है कि "यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेक पूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है। यह सर्व साधारण की प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा है।"

सामान्य इच्छा की विशेषताएं

सामान्य इच्छा की विशेषताएं निम्नानुसार हैं :—

(1) अखंडता—सामान्य इच्छा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अखंडता या एकता है। वह विवेक पर आधारित होने के कारण उसमें आत्म विरोध नहीं होता है। रूसो ने लिखा है, "सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र की एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है तथा उन सामान्य गुणों में प्रकाशित होती है जिनको किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है।"

(3) अदेयता—रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा अदेय होती है क्योंकि वह किसी को दी अथवा हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि वह प्रतिनिधियों द्वारा भी अभिव्यक्त नहीं की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का पक्षपाती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। रूसो

1. "The general will is thus the will of the citizens when they are willing not their own private interest but the general good, it is the voice of all for the good of all" —Wayper.
2. "Genaral will be may be defined as the sum total or better still an organisation or synthesis of the real will of the individuals comprising society." —Dr. Asirvatham.
3. "General will be the common consciousness of the common end." —Green.
4. "General will is the will of the whole society as such or the wills of all individuals in so far as they aim at the common end" —Bosanquet.

के अनुसार दूसरे व्यक्तियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा इसे प्रकट करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतंत्र की हत्या है।

(3) सर्वोच्चता—सामान्य सर्वोपरि, सर्व शक्तिमान, असीमित, अनन्य तथा अविभाज्य होती है। इस पर दैवीय, प्राकृतिक या परम्परागत नियमों का कोई प्रतिबंध नहीं होता है। इसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता है। रूसो लिखता है, "जो कोई भी सामान्य इच्छा की आज्ञाओं का पालन नहीं करता, उसे पूरा समाज आज्ञा पालन के लिए मजबूर करेगा।"

(4) स्थायित्व—सामान्य इच्छा किसी प्रकार के भावनात्मक आवेश, आवेग या उत्तेजना का परिणाम नहीं है अपितु यह स्थायी होती है। रूसो ने लिखा है, "सामान्य इच्छा स्थायी, अपरिवर्तन शील तथा शुद्ध होती है।"

(5) लोक कल्याण पर आधारित—सामान्य इच्छा की सबसे प्रमुख विशेषता लोक कल्याण है। यह आदर्श इच्छाओं का योगदान है जिनका लक्ष्य लोक कल्याण होता है। रूसो ने लिखा है, 'सामान्य इच्छा सदैव ठीक ही होती है, परन्तु वह निर्णय जो इसका पथ प्रदर्शक होता है, सदैव समझदारी पूर्ण हो ही, आवश्यक नहीं है।

(6) तर्क संगत—सामान्य इच्छा उत्तेजना एवं भावना विशेष पर आधारित होकर तर्क एवं विवेक पर आधारित होती है। रूसो ने लिखा है, "सामान्य इच्छा सर्व ही विवेक पूर्ण एवं न्याय संगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में ईश्वर की वाणी होती है।"

सामान्य इच्छा की आलोचना—

सामान्य इच्छा में जहाँ गुण है वहीं दोष भी है जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं।

(1) अस्पष्ट एवं अव्यवहारिक—रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार नितान्त अस्पष्ट और अव्यवहारिक है। स्वयं रूसो के विचार इस सम्बन्ध में निश्चित नहीं प्रतीत होते हैं। उसने स्वयं ने इस सम्बन्ध में विभिन्न स्थानों पर परस्पर विरोधी बात कही है। वेपर (Wayper) ने लिखा है, "जब रूसो सामान्य इच्छा का पता हमें दे नहीं सकते तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अंधकार में छोड़ दिया है, जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"

(2) यथार्थ तथा आदर्श इच्छा का भेद काल्पनिक—रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा व्यक्ति की यथार्थ और आदर्श इच्छा पर आधारित है। परन्तु यह भेद काल्पनिक लगता है। हॉब्स ने लिखा है, "यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का अन्तर व्यावहारिक रूप से सही नहीं है। मानव के स्वार्थपरक हित की प्रवृत्ति और लोक हित की प्रवृत्ति में स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता है।

(3) निरंकुश तथा अत्याचारी राज्य का पोषक—यद्यपि सामान्य इच्छा का प्रतिपादन जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए किया गया है परन्तु यह निरंकुश एवं अत्याचारी राज्य का पोषक भी बन सकता है। जनता ने अपने समस्त अधिकारों का समर्पण कर दिया तो कोई भी शासक वर्ग उनका दुरुपयोग कर सकता है। वोल्फ ने लिखा

है, "रूसो के सामान्य इच्छा विषय सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसको जनतंत्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।"

(4) प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में संभव नहीं—वर्तमान काल में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतंत्र का व्यवहारिक स्वरूप है, अतः रूसो के सिद्धान्त की प्रभुसत्ता के अधिकार के प्रयोग में प्रत्येक नागरिक को सक्रिय भाग लेना चाहिए, व्यवहार में संभव नहीं है।

(5) सामान्य हित की व्याख्या संभव नहीं—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त सामान्य हित पर अवलम्बित है पर सामान्य हित को परिभाषा में बांधना इतना सरल नहीं है जितना दिखता है।

सामान्य इच्छा का महत्व

सामान्य इच्छा में अनेक दोष होते हुए भी इसका महत्व है, "सामान्य इच्छा की कल्पना रूसो के सिद्धान्त का एक अत्यन्त केन्द्रीय विचार ही नहीं है, वरन् सैद्धान्तिक राजनीतिक शास्त्र के लिए यह उसकी एक नैतिक रुचिकर तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व पूर्ण देन है।"[1] सामान्य इच्छा का महत्व संक्षेप मे निम्नानुसार है :—

(1) सामान्य इच्छा सिद्धान्त राजनीतिक जीवन में एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

(2) इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन को श्रेयकर बतलाया है।

(3) यह सिद्धान्त समाज का आंगिक रूप प्रस्तुत करता है।

(4) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति।

(5) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं है अपुति प्राकृतिक संस्था है। कोल (G. D. H. Cole) ने लिखा है, "यह हमें सिखाता है कि राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर ही आश्रित है, क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का ही प्राकृतिक विस्तृत रूप है।"

रूसो के सिद्धान्तों की आलोचना—रूसो के सिद्धांत की आलोचनाएं निम्नलिखित हैं :—

1. प्राकृतिक अवस्था को रूसो ने स्वर्गिक आनन्द की अवस्था माना है जो अवास्तविक है।

1. "The nation of General will is not only the most central concept of Rousseaus theory, it is the most original, the most interesting and historically the most important contribution which he made to political theory." —W. T. Jones.

2. रूसो का सिद्धांत तर्क संगत नहीं है। एक ओर समझौता व्यक्ति और समाज में दूसरा मानता है। दूसरी ओर समाज ही समझौते का परिणाम है जो परस्पर विरोधी हैं।

3. सामान्य इच्छा का सिद्धांत अस्पष्ट है। वेपर ने लिखा है कि "कोई भी यह निश्चित नहीं कर सकता है कि किसी निश्चित समय में सामान्य इच्छा क्या है।"[1]

4. सामान्य इच्छा अनैतिहासिक और काल्पनिक है।

5. रूसो की सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहित करती है। इसके अनुसार शासक वर्ग अपनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार कर सकते हैं।

6. रूसो ने व्यक्ति की इच्छा को दो भागों में विभाजित किया है जो एक यथार्थ इच्छा और दूसरी आदर्श इच्छा जो कृत्रिम लगता है।

रूसो के विचारों महत्व

रूसो के सिद्धांत की आलोचना होने पर भी उसने मूल्यवान विचार प्रदान किये हैं।

1. रूसो के विचारों में राज्य और सरकार मे स्पष्ट भेद मिलता है।

2. उसने लौकिक सम्प्रभुता का समर्थन करके राजतंत्र की निरंकुशता को आघात पहुँचाया है।

3. उसके विचारों ने प्रजातंत्र के विकास में योगदान दिया है।

4. उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता को कानून द्वारा सीमित किया है।

5. राजनीतिक विचार धारा को रूसो ने अत्यधिक प्रभावित किया है। कोहन ने लिखा है, "दो शताब्दियों तक यूरोपीय विचारधारा पर रूसो का जितना प्रभाव पड़ा, उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं।"[2]

यह बात उल्लेखनीय है कि रूसो की उसके समकालीन विचारकों ने निंदा अधिक की है और प्रशंसा कम। वाल्टेयर और जूलम्स ने रूसो के विचारों की कटु आलोचना की है तो बर्क तथा मार्ले ने रूसो के सिद्धांतों को भावुकतापूर्ण कह कर उपेक्षा की है। परन्तु ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों त्यों उसका महत्व समझ में आने लगा। प्रो. डनिंग ने संयत रूप में रूसो की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उसकी विचारधारा निश्चयमूलक इतनी नहीं है जितनी व्यंजनात्मक और उसकी कल्पना, मिथ्या उक्ति तथा वाग्विदता ने जनता को

1. "So much vagueness about some thing as imporatant as the finding of the general will is to be regretted Rousseau who has told us so much about the general will has still not told us enough; indeed he has left us in such a position that nobody can be sure what the general will is on particular point" —Wayper.

2. "No one had as much influence as he on Europe for two centuries." —J. M. Cohen.

माण्टेस्क्यू के संतुलित तर्क तथा गम्भीर पर्यवेक्षण की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है । प्रो. कोल ने रूसो की प्रशंसा करते हुए यहां तक कहा है कि 'सोशल कान्ट्रेक्ट' राजनीति दर्शन का एक महानतम ग्रंथ है और वह सत्य से भरी हुई स्थायी मूल्य की कृति है । बर्गसन ने लिखा है कि दकार्ता के बाद मानव मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का पड़ा है । राजनीतिक विचारधारा को रूसो ने अनेक महत्वपूर्ण देन दी है ।

1. सामान्य इच्छा का सिद्धांत चाहे जितना अस्पष्ट हो परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि जो चीज समाज को बनाती है वह सामान्य इच्छा ही है । इस प्रकार उसका यह सिद्धांत राजनीति को महत्वपूर्ण देन है ।

2. लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा भी एक महत्वपूर्ण देन है । यद्यपि सम्प्रभुता की धारणा अन्य लेखकों ने भी व्यक्त की है, रूसो ने इसका जनता में प्रतिष्ठान करके व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित किया है ।

3. उसने अपने सिद्धांत की प्रतिस्थापना द्वारा दैवी सिद्धांत और शक्ति सिद्धांत की जड़ें खोखली कर दीं ।

4. उसने जितना राज्य और सरकार का स्पष्ट भेद किया है उतना अन्य विचारकों में नहीं मिलता है ।

5. राष्ट्रीयता की भावना को रूसो से अत्यधिक प्रेरणा मिली है । सेबाइन ने लिखा है, "स्वयं एक राष्ट्रवादी न होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा स्वरूप प्रदान करने में सहायता प्रदान की है जिससे कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सकी ।"

वह क्रांति के मूलमंत्र 'स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व' की दीक्षा देने वाला गुरु था । रूसो की देन को स्पष्ट करते हुए हर्नशा ने लिखा है, "जनता को वह राजनैतिक शक्ति का अन्तिम स्रोत समझता है, सामान्य हित को वह सरकार का समुचित लक्ष्य घोषित करता है, वह इस बात पर जोर देता है कि राज्य एक सामाजिक सावयव है, वह इस विचार को विकसित करता है कि सावयव होने के कारण उसका एक अन्तःकरण एवं एक सामान्य इच्छा होती है, वह इस सिद्धांत का प्रतिपादन करता है कि राजनैतिक कर्तव्य का सच्चा आधार सहमति है । वह यह प्रतिघोषणा करता है कि स्वतंत्रता तथा अधिकार में अन्तिम रूप से सामंजस्य होना संभव है—अतः राजनैतिक आदर्शवादियों में से उसे एक ऊंचा स्थान प्राप्त है ।"[1]

1. Hearnshaw : Social and Political Idea of the French Thinkers of the Age of Reason.

हाब्स, लॉक तथा रूसो के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

विषय	हाब्स	लॉक	रूसो
1. मानव स्वभाव (Nature of man)	मनुष्य स्वार्थी तथा झगड़ालू है।	मनुष्य विवेकी है तथा उसका विश्वास तर्क, बुद्धि व शांति में है।	मनुष्य सरल एवं सभ्य होता है और उसमें मूलतः छल, कपट और स्वार्थ नहीं होता है।
2. प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)	प्राकृतिक अवस्था में जीवन झगड़ालू और कलह पूर्ण था। मानव जीवन एकाकी, पाशविक और पतित था तथा जीवन असुरक्षित था।	प्राकृतिक अवस्था में जीवन शांतिपूर्ण था तथा मनुष्य स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों का उपयोग करता था। पर वह पूर्ण सन्तोषजनक नहीं थी क्योंकि इसमें इन अधिकारों की रक्षा के लिए सरकार आदि की व्यवस्था न थी।	प्राकृतिक अवस्था आदर्शपूर्ण थी। इसमें मनुष्य स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करता था।
3. प्राकृतिक कानून (Law of Nature)	प्राकृतिक अवस्था में कोई कानून न था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती थी।	प्राकृतिक कानूनों के द्वारा मनुष्य के अधिकारों की रक्षा होती थी। परन्तु इन कानूनों के पीछे कोई शक्ति नहीं थी।	प्राकृतिक अवस्था में कोई कानून न था। मनुष्य अपने हृदय से प्रेरित होता था।
4. प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)	प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।	प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतंत्रता के अधिकार प्राप्त थे।	प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य स्वतंत्र तथा समान थे तथा वे इन अधिकारों का सम्मान हृदय की प्रेरणा से करते थे।

5. प्राकृतिक अवस्था की समाप्ति के कारण	प्राकृतिक अवस्था में सदा लड़ाई झगड़े होते रहते थे जिससे जीवन को खतरा होने के कारण इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए इसका अन्त किया गया।	प्राकृतिक अवस्था में सरकारी व्यवस्था के अभाव में अधिकार व कानून की व्याख्या व रक्षा की कमी के कारण इसका अन्त करना पड़ा।	प्राकृतिक अवस्था में जनसंख्या में वृद्धि, कृषि व निजी सम्पत्ति के रिवाज से झगड़े प्रारम्भ होने से इस अवस्था का अन्त करना पड़ा।
6. समझौते का स्वरूप (Nature of the Contract)	एक सामाजिक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक अवस्था का अन्त व सरकार की स्थापना हुई।	दो समझौते हुए। प्रथम समझौते से समाज व दूसरे से सरकार की स्थापना हुई।	समझौते से प्राकृतिक अवस्था का अन्त व समाज की स्थापना हुई।
7. समझौता करने वाले पक्ष (Parties to the Contract)	समझौता परस्पर मनुष्य में हुआ शासक और शासितों में नहीं बल्कि वे तो समझौते के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए।	प्रथम समझौता परस्पर लोगों में हुआ परन्तु दूसरा समझौता शासक और समुदाय में हुआ। अतः शासक भी समझौते की शर्तों से समुदाय की तरह ही बंधा हुआ है।	समझौता परस्पर व्यक्तियों में हुआ। सरकार तो सामान्य इच्छा को क्रियान्वित करने वाली एजेंट है।
8. अधिकारों का सौंपना (Surrender of Rights)	प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करते समय मनुष्य ने अपने समस्त अधिकार राजा को सौंप दिये।	दूसरे समझौते में मनुष्य ने केवल जीवन, सम्पत्ति और स्व-तन्त्रता की रक्षा के सीमित अधि-कार ही सरकार को सौंपे थे।	प्राकृतिक अवस्था की समाप्ति पर मनुष्य ने अपने समस्त अधिकार राजसत्ताधारी को सौंप दिये थे।
9. सरकार और राज्य में अन्तर	सरकार और राज्य में कोई भेद नहीं किया।	सरकार और राज्य में भेद किया है।	सरकार और राज्य में भेद किया है।

10. सम्प्रभुता का स्वरूप (Nature of Sovereignty)	सम्प्रभुता राजा है। वह निरंकुश है। वह एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह हो सकता है।	सीमित राजतंत्र का समर्थन किया। राजा को थोड़े से अधिकार दिये हैं। यदि वह इसका पालन न करे तो लोग उसे गद्दी से उतार सकते हैं।	सामान्य इच्छा सम्प्रभु है सरकार सम्प्रभु की एजेंट है।
11. व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकार (Individual rights and Liberty)	कानून के अन्तर्गत ही सभी व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।	व्यक्ति को वे सभी अधिकार प्राप्त है जो उसने राजा को नहीं दिये।	व्यक्ति सामान्य इच्छा का अंग है। अतः सामान्य इच्छा व्यक्ति को उतनी स्वतंत्रता देती है जितनी उसे चाहिए।
12. उद्देश्य (Motives)	राजतंत्र की स्थापना करना था।	रक्त-हीन क्रांति उचित ठहराना था अतः उसने सीमित राजतंत्र का समर्थन किया है।	लोकतंत्र का समर्थक था। और निरंकुश राजतंत्र का अन्त चाहता था।

(2) अर्द्ध काल्पनिक सिद्धान्त

प्रो. हेकिंग्स ने लिखा है, "राज्य की जन्म की बात मुख्यतः कल्पना पर ही आधारित है। फिर भी इतना तो अवश्य है कि राज्य इतिहास की बात है और चूंकि परिवार मानवीय समुदायों में सबसे प्राचीन है, इसलिए राज्य के मूल जन्म के पीछे परिवार का मुख्य हाथ रहा है।" समाज शास्त्री भी आदिम काल में समाज की इकाई व्यक्ति समूह को मानते है न कि व्यक्ति को। परिवार व्यक्तियों के समूह में सबसे प्रारम्भिक समूह है। परिवार मे राज्य के मूलभूत लक्षण पाये जाते हैं। मेकाइवर ने भी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि परिवार ही प्रथम सामाजिक इकाई था और उसी मे हमको प्रथम सरकार के कीटाणु दृष्टिगोचर होते हैं। इस सिद्धान्त के निम्नलिखित स्वरूप हैं।

(i) पैतृक सिद्धान्त (Patriarchal Theory)

इस सिद्धान्त में पिता परिवार का प्रधान माना गया है। सर्व प्रथम प्रतिपादन अरस्तू ने किया था। उसके अनुसार परिवार सबसे प्राचीन है। परिवार के संयुक्त होने से ग्राम और ग्रामो के मिलने से राज्य उत्पन्न हुआ। उसी के शब्दों मे, 'सबसे पहले कुल का प्रादुर्भाव होता है। जब अनेक कुल आपस में संयुक्त हो जाते हैं और उनके सगठन का प्रयोजन अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो जाता है तो ग्राम की उत्पत्ति होती है। जब अनेक ग्राम मिलकर अपना सगठन बनाते हैं और यह संगठन इतना पूर्ण और विशाल बन जाता है कि आत्म निर्भर हो जाता है तो राज्य का प्रादुर्भाव होता है।" सर हेनरीमेन ने लिखा है कि "समाज आरम्भ में मानव समुदाय होता है जिसके व्यक्ति सबसे बड़े पूर्वज की समान रूप से अधीनता स्वीकार करने के कारण परस्पर मिले रहते हैं। परिवारों से जुड़ कर कुल या गोत्र बनता है। कुलों के आपस में मिलने से कबीला बनता है और जब अनेक कबीले मिल जाते हैं तब राज्य बनता है।"[1] लीकॉक ने भी लिखा है, "पहले एक गृहस्थी उसके बाद एक पितृ-प्रधान परिवार उसके बाद एक वंश के लोगो का कबीला और अन्ततः एक राष्ट्र। इस प्रकार इस आधार पर सामाजिक क्रमों की उत्पत्ति होती है।"[2]

संक्षेप मे इस सिद्धान्त के निम्नलिखित मूल तत्व है।

"1. परिवार का आधार स्थायी विवाह और रक्त सम्बन्ध था।

2. यह राज्य का विकास क्रम निर्धारित करता है—परिवार प्रारम्भिक संगठन था; परिवार से वंशो को, वंशों से कबीले को, कबीलो से राज्य की उत्पत्ति हुई।

1 "The elementary group is the family connected by common subjection to the biggest male ascendent. The aggregation of families forms the Gens or House The aggregation of Houses Marks the Tribe The aggregation of Tribe Constitutes the Commonwealth." —Sir Henry Maine.

2. "First a household, then a patriachal family then a tribe of persons of kindred descent and finally nation- so emerges the social series erected on this basis." —Leacocke.

3. परिवार के समान ही राज्य की शासन पद्धति का विकास हुआ। परिवार में पिता परिवार का शासक, रक्षक और न्यायाधीश होता है उसी प्रकार राज्य में राजा शासक, रक्षक और न्यायाधीश हुआ।

पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त की आलोचनाएं

1. आधुनिक खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि पितृ सत्तात्मक परिवार की प्रणाली सार्वभौम नहीं थी। ऐसा भी माना जाता है कि कहीं कहीं पर मातृ सत्तात्मक प्रणाली पहले से प्रचलित थी। जेंक्स ने आस्ट्रेलिया, मलाया आदि की प्राचीन जातियों के उदाहरण से मातृ-सत्तात्मक परिवार की प्राचीनता का समर्थन किया है। मेकलेलन कहते हैं कि बहु-पतित्व और मातृ सत्तात्मक परिवार सामाजिक जीवन के शुरू के तथ्य हैं और आगे ये ही मातृ सत्तात्मक परिवार पितृ सत्तात्मक में बदल गये।

2. इस सिद्धांत के समर्थक पैतृक परिवार को स्थायी मानते थे। परन्तु प्राचीन काल में बहु विवाह और अस्थायी विवाह के कारण यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता है।

3. इससे राज्य की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण नहीं होता है अपितु इससे कुटुम्ब और वंश का प्रारम्भिक विकास ही ज्ञात होता है।

4. जेंक्स ने लिखा है कि जाति और कबीला प्रारम्भिक हैं वंश और परिवार बाद में आते हैं।

5. जेम्स फ्रेजर के अनुसार सामाजिक संगठन का आदि रूप अत्यन्त जटिल था। और ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि समुदाय का मुखिया पुरुष ही था।

6. परिवार को राज्य का आधार मानना एक अतिशयोक्ति पूर्ण कथन मात्र है।

(ii) मातृक सिद्धांत (Matriarchal Theory)

जहाँ कुछ लोग यह मानते हैं कि मानव समुदाय पहले पितृ सत्तात्मक थे वहाँ कुछ यह भी मानते हैं कि परिवार मातृसत्तात्मक भी थे। इस सिद्धांत के अनुसार परिवार में पिता की नहीं अपितु माता को प्रधानता थी। सन्तान का नाम माता द्वारा ही चलता था। इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक मैकलीनान, जेंक्स तथा मार्गन है। उन्होंने सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में एक पतिव्रत की प्रथा न थी, बल्कि स्त्री के कई पति होते थे। भारतीय साहित्य में गन्धर्व विवाह का वर्णन है। कहीं कहीं दो टोलियों में सामूहिक विवाह का प्रचलन था। आस्ट्रेलिया और मलाया के आदिवासियों के जीवन पर्यवेक्षण से पता चलता है कि प्रथम सामाजिक समूह या गठन का रूप पारिवारिक नहीं था। विवाह प्रारम्भ होने से पूर्व सब एक साथ टोली बनाकर रहा करते थे। इस प्रकार टोली में पैदा हुई सन्तान का कोई पिता नहीं होता था वह अपनी माता के पास ही रहती थी और वही उसकी देखरेख करती थी। आपसी मनोरंजन व मेलजोल में एक दूसरी टोली में समागम होता था और उनसे उत्पन्न सन्तान माता के पास ही रहती थी। इस तरह स्त्री पर मातृत्व का भार पड़ने पर ही परिवार मातृ सत्तात्मक होते थे। बेकोफन ने लिखा है, "प्रारम्भिक समाज में वंश-परम्परा केवल माता से होती थी, और सम्पत्ति का अधिकार स्त्री को हो जाता था, प्रायुद

औरतों का समाज में प्रभावशाली आदर भी था। उस समय के पारिवारिक जीवन का आधार माता थी और वंश माता के नाम से चलते थे।" द्राविड़ जातियों, आस्ट्रेलिया और मलाया के मूल निवासियों में मातृक परिवार आज भी विद्यमान हैं।

मातृक परिवार की निम्न लिखित विशेषताएं हैं।

1 विवाह सम्बन्ध स्थायी नहीं होते हैं।

2. परिवार का नाम स्त्रियों के नाम पर चलता है।

3. स्त्री परिवार की प्रधान होती हैं।

4. सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री में निहित होता है।

मातृ सत्तात्मक सिद्धांत की आलोचना

1. इतिहास में हमें बहुपति प्रथा तो मिलती है परन्तु यह नहीं मिलता कि यह प्रथा सार्वभौम थी या कि यह प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यक थी।

2. स्त्रियां कोमल और मृदुल होने के कारण उन्हें परिवार की मुखिया स्वीकार किया जाना कैसे संभव हो सकता है।

3. ये दोनों सिद्धांत राजनैतिक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक है। देखा जाए तो यह सिद्धांत राज्य का विवेचना न करके परिवार की उत्पत्ति का विवेचन करता है।

मातृक एवं पैतृक सिद्धांतों में कौन पूर्वगामी है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है परन्तु साथ ही यह बात भी निश्चित है कि मनुष्य की पारिवारिक तथा सामुदायिक प्रवृत्ति ही राज्य-संस्था के प्रादुर्भाव का कारण बनी है।

(3) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Historial or Evolutionery Theory)—राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ लोगों का मत है कि राज्य ईश्वर की कृति है जबकि अन्य सामाजिक समझौते से राज्य की उत्पत्ति मानते हैं। बहुत से विद्वानों का विश्वास है कि राज्य शक्ति का परिणाम है और शेष का विश्वास है कि राज्य परिवार से विकसित हुआ है, परन्तु उपर्युक्त सिद्धांतों में से कोई भी सिद्धान्त सन्तोषप्रद नहीं है तथापि इनमें से प्रत्येक तत्व का राज्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वास्तव में, राज्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह किसी एक समय में उत्पन्न हुआ है। सरकार की तरह वह कृत्रिम अथवा यांत्रिक यंत्र नहीं है। वास्तव में वह एक क्रमिक विकास का परिणाम है जो इतिहास में बहुत लम्बे काल तक रहा है और इनमें निम्न पांच तत्वों का प्रमुख योगदान रहा है :—

(1) रक्त सम्बन्ध (Kinship)—सामाजिक संगठन का सबसे पहला स्वरूप रक्त सम्बन्ध पर आधारित था और यही सबसे पहला और शक्तिशाली बंधन था। सर हेनरी मेन ने लिखा है, "सबसे पुराना सूत्र, जो आदिम अवस्था में सबको एक समुदाय में संगठित करने में समर्थ रहा, सामान्य उत्पत्ति की भावना या रक्त सम्बन्ध ही था।"[1] डा. आशी-

1. "The most recent researches into the primitive history of society point to the conclusion that the earlist tie which Knitted men together was consanguinity or kinship."

—Sir Henry Maine.

वर्टाम ने भी कहा है कि "इसमें तो सन्देह की कम गुंजाइश है कि सामाजिक संगठन का उद्भव वंश सम्बन्ध से हुआ। रक्त का सम्बन्ध चाहे वह वास्तविक रहा हो और चाहे काल्पनिक या गृहीत (real or assumed) एकता का सबसे दृढ़ सूत्र रहा है। उपजातियाँ या जातियाँ इसी के द्वारा एक सूत्र में बंधी और उन्हें एकता और सहिति (cohesion) प्राप्त हुई।" तात्पर्य यह है मनुष्य रक्त सम्बन्ध के आधार पर ही सबसे पहले संगठित हुआ है। रक्त सम्बन्ध का सबसे पहला संगठन परिवार है। परिवार के प्रसार के साथ नये परिवार बने और पूर्वजों के प्रति आदर की भावना ने विभिन्न कुटुम्बों को एक बन्धन में बांध दिया। परिवारों की संख्या में वृद्धि होने से ही वंश (clan) और कबीला (Tribe) बने।

यह विवादग्रस्त विषय है कि पहले कबीला बना या समूह या परिवार। लेकिन इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरकार का प्रारम्भ कुटुम्ब के सुनिश्चित अनुशासन से हुआ है। वह पितृमूलक परिवार है जिसने सत्ता की आज्ञाकारिता के प्रति भावना उत्पन्न की। एक पितृ मूलक परिवार में परिवार के प्रधान की सत्ता सर्वथा पूर्ण होती थी। परिवार के प्रधान में जो बाद में कबीले का प्रधान बना प्रशासकीय, धार्मिक, सैनिक और न्यायिक सभी शक्तियां केन्द्रित थीं। ये प्रारम्भिक राज्य के चिन्ह हैं जैसा कि इतिहास प्रमाणित करता है कि प्रारम्भिक काल में राजाओं में ये सभी शक्तियां हुआ करती थीं। प्रो. गैटेल ने लिखा है, "रक्त सम्बन्ध के बन्धन से परस्पर अधीनता एवं एकता के भाव उत्पन्न हुए जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य हैं।"[1] रक्त सम्बन्ध ने मनुष्यों को संगठित एवं एकत्रित होने में माध्यम का काम किया। इसी से परिवार की नींव पड़ी और समाज तथा राज्य का विकास हुआ। मैकाइवर ने लिखा है, "नामों के जादू ने, ज्यों-ज्यों पीढ़ियों के क्रम द्वारा समूह की वृद्धि हुई, रक्त सम्बन्ध की भावना को और अधिक बल प्रदान किया। रक्त सम्बन्ध का बन्धन अप्रत्यक्ष रूप विस्तृत भाई चारे के सामाजिक बन्धन में परिवर्तित हुआ। पिता का अधिकार मुखिया की शक्ति को मिला। एक बार और रक्त सम्बन्ध की रक्षा के अधीन नये रूप का आविष्कार होता जो उससे श्रेष्ठ है। रक्त सम्बन्ध समाज की रचना करता है और समाज अन्ततः राज्य की रचना करता है।"[2]

धर्म (Religion)

रक्त सम्बन्ध की भाँति धर्म का भी राज्य के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन समाज में धर्म एक ऐसा तत्व था जो परिवारों व कबीलों को मिलाये रखता था। गैटेल ने कहा है कि रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं। दोनों साथ ही

---

1. "The tie of kinship strengthened the feeling of unity and solidarity which is essential to political life." —Gettell.
2. "The magic of names reinforced the sense of kinship, as the course of generations enlarged the group. The blood-bond of kinship changed imperceptibly into the social bond of the wider brotherhood. The authority of the father passes into the power of the chief. Once more under the aegis of kinship new forms arise which transcend it. Kinship creates society, and society at length creates the state." —MacIver.

एक न रहे हों पर दोनों का घनिष्ठ सम्बंध रहा है। एक कुटुम्ब के लोग एक ही देवता की पूजा करते थे जो प्रायः उन्हीं का पूर्वज होता था। गिल क्राइस्ट ने प्राचीन परिवार को उतना ही धार्मिक संघ माना है जितना स्वाभाविक संघ। परिवारों ने गोत्र का रूप लिया। गोत्र में भी पूर्वजों की पूजा तथा धर्म का प्रधानता बनी रही। सामान्य आराधना ने एकता की भावना और सत्ता के प्रति आदर उत्पन्न किया। विलसन ने लिखा है, "धर्म सर्वमान्य रक्त का चिन्ह और मुहर था तथा उसकी एकता, पवित्रता एवं दायित्व की अभिव्यक्ति था।"[2] आराधना या तो पैतृक आराधना थी या प्रकृति की। पूर्वजों की आराधना ने कबीले के संगठन में सहयोग दिया और उसी ने रक्त सम्बन्ध के बंधनों को भी कड़ा बना दिया।

प्रकृति की आराधना का अर्थ प्रेतों के अस्तित्व में विश्वास था। समय की गति के साथ कोई भी व्यक्ति जो प्रेतों पर अधिकार कर सकता था, अद्वितीय प्रभाव जमा लेता था। वह स्वयं भी एक रहस्य के समान आदरणीय होता था। वह आदर भय पर आधारित था क्योंकि तत्कालीन समाज जंगली अवस्था में था। अतः जिस वस्तु को मनुष्य समझ नहीं पाते थे उसी को पूजने लगते थे। इस प्रकार जादूगर राजाओं का उदय राज्य के विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जादूगर राजाओं के बाद पुरोहित राजा हुए। जेम्स फ्रेजर ने लिखा है कि यह कहना गलत है कि गोत्र का प्रधान वयो वृद्ध पुरुष होता था, बल्कि गोत्र पर उस व्यक्ति की प्रभुता थी जिसे धार्मिक ज्ञान का एकाधिकार प्राप्त था। वह व्यक्ति जादूगर होता था जो अपनी जादू की शक्ति के द्वारा लोगों पर नियंत्रण रखता था। कुछ काल बाद यह जादूगर ही उस गोत्र का पुरोहित राजा हो गया।

इस प्रकार धर्म ने राज्य की स्थापना में सहयोग ही नहीं दिया है अपितु उसकी नींव भी पक्की की है। गेटेल ने लिखा है, "राजनीतिक विकास के प्रारम्भिक एवं अत्यन्त कठिन काल में धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता का दमन कर सका और मनुष्यों को आदर भाव तथा आज्ञापालन सिखा सका एवं अरण्य-अराजकता का विनाश कर सका। उसे अनुशासन तथा सत्ता के प्रति आदर भाव उत्पन्न करने में जो शासन के आधार हैं, सहस्त्रों वर्ष लगे।"[2] धर्म का महत्व यहीं तक सीमित नहीं रहा अपितु धार्मिक भावना ने लोगों को एकता के सूत्र में बांध रखा तथा बड़े बड़े साम्राज्यों के निर्माण करने में योगदान किया। आज भी धर्म का प्रभाव कई राज्यों पर अक्षुण बना हुआ है। इस प्रकार राज्य का उत्पत्ति व विकास में अत्यधिक प्रभाव रहा है भले ही वह एक मात्र तत्व न रहा हो।

1. "Religion was the sign and seal of common blood, the expression of its oneness, its sanctity, its obligation." —Wilson.
2. "In the earlist and most difficult periods of political development religion alone could subordinate barbaric anarchy and teach reverence and obedience. Thousands of years were needed to create that discipline and submission to authority on which all successful government must rest and the chief means in the early part of the process were theocracies & despotism based mainly on the supernatural sanctions of religion." —Gettel.

(3) शक्ति (Force)

कुछ विद्वान राज्य की उत्पत्ति व विकास में शक्ति को भी प्रमुख तत्त्व मानते हैं। जेंक्स ने लिखा है, "जन समाज का राजनैतिक समाज में परिवर्तन शांति पूर्ण उपायों से नहीं हुआ अपितु यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ।"[1]

दूसरे मनुष्यों पर आधिपत्य जमाने की मनुष्य की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मानव विकास काल में ये प्रवृत्तियां अधिक क्रियाशील थीं। कृषि कार्य के साथ सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। अतः भूमि पर आधिपत्य जमाने अथवा उसकी रक्षार्थ युद्ध होने लगे जिसके फलस्वरूप प्रत्येक कबीले को एक नेता की आवश्यकता पड़ी। एक कबीले का नेता दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने लगा और जब वह दूसरे कबीले पर अधिकार जमा लेता था तो उसमें रहने वाले सभी व्यक्ति उसके अधीन हो जाते थे। यही सैनिक नेता राजा बन बैठा। जेंक्स ने लिखा है, "युद्ध कला में उन्नति राज्य की उत्पत्ति का कारण रहा।"[2]

परंतु युद्ध या शक्ति को युद्ध का एक मात्र कारण नहीं मान सकते हैं। यह हो सकता है कि इसका राज्य की उत्पत्ति में प्रमुख हाथ रहा है। जैसा कि मैकाइवर ने लिखा है कि "राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण शक्ति या बल नहीं है, फिर भी राज्य के विकास में शक्ति का पर्याप्त हाथ रहा है।"[3]

(4) राजनैतिक चेतना (Political Conciousness)

राजनैतिक चेतना का भी राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में महत्वपूर्ण योग रहा है। गिलक्राइस्ट ने इसे सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। अरस्तू ने तो बहुत पहले ही कह दिया था कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए उसकी परम आवश्यकता है कि उसमें शांति और व्यवस्था बनी रहे जिसके लिए ही राज्य रूपी विशेष संगठन की आवश्यकता है। मनुष्यों का कोई भी समूह बिना ऐसे संगठन के चिरकाल तक नहीं रह सकता। मनुष्य के दिमाग में संगठन की आवश्यकता का यह विचार राजनैतिक चेतना का उदय है। राजनैतिक चेतना का अर्थ है कुछ उद्देश्यों की अभिप्राप्ति। विकास के प्रारम्भिक दिनों में यह उद्देश्य स्पष्ट नहीं होते। लेकिन जनसंख्या मे वृद्धि तथा सम्पत्ति के साथ यह उद्देश्य स्पष्ट हो गये। ब्लुंशली ने लिखा है, "आरम्भ में मनुष्य में यह प्रवृत्ति अवचेतन रूप से कार्य करती है। यद्यपि मनुष्य किसी कारणवश संगठित होता है, लेकिन अज्ञान रूप से चेतन शक्ति काम करती है। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की अपनी एक चेतना तथा इच्छा है।"[4] विलोबी ने कहा है कि जिस

---

1. "In the formation of the modern state, the conspicuous immediate causes are closely if related facts of migration and conquest." —Jenks
2. "It is..........to improvements in the art of warfare that we must work for the emergence of the state." —Jenks.
3. "The emergence of state is not the force although in the process of exapnsion, force undoubtedly played a part." —Mac Iver.
4. "This social tendency works at first instinctively and unconsciously......... gradually, however, with advancing civilization and experience, the hidden impulse reveals itself, and there is formed a conciousness and a will of the state" —Bluntschli.

प्रकार राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता एक भाव या भावना के परिणाम हैं, उसी प्रकार राज्य का आधार भी एक भावना है। यह भावना सामाजिक जीवन की भावना है। जेलिनेक ने लिखा है, "राज्य की उत्पत्ति का आन्तरिक कारण व्यक्तियों के समूह में चेतना शील एवम् भावना है। इस भावना को वे एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में संगठित होकर अभिव्यक्ति करते हैं और स्वयं इसके कार्यशील सदस्य बन जाते हैं।"[1] अर्थात् शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने तथा झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक संगठन की आवश्यकता अनुभव की गई। सुरक्षा की आवश्यकता ने इसे और भी बढ़ा दिया। वह राज्य जो अभी अदृश्य रूप में था अब एक दृश्य राजनैतिक संस्था का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ में यह संगठन निम्न कोटि का था परन्तु सभ्यता की प्रगति के साथ यह स्वरूप में अधिक जटिल हो गया और समय के साथ अपने कार्य क्षेत्र में अधिकाधिक व्यापक और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति में अनिवार्य होता जा रहा है। गेटिल ने लिखा है कि रक्त सम्बन्ध, धर्म, सुरक्षा एवं व्यवस्था की आवश्यकता आदि तत्वों ने एक ऐसे संगठन की स्थापना में योग दिया, जिसमें राज्य का विकास हुआ।

(5) आर्थिक आवश्यकतायें (Economic Activities)

आर्थिक आवश्यकताओं ने भी राज्य के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है। प्रारम्भ में जब मनुष्य जंगली अवस्था में रहता था वह अपनी आवश्यकताएं स्वतः ही पूर्ण कर लेता था। परन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ मनुष्य को दूसरे मनुष्य के सहयोग की आवश्यकता हुई और इसी प्रकार समाज की आवश्यकता का अनुभव हुआ। गेटेल ने लिखा है, "मनुष्य की आर्थिक चेष्टाएं जिनके द्वारा मनुष्य ने भौतिक अपेक्षाओं की संतुष्टि की और बाद में सम्पत्ति तथा धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में सहायक तत्व रहे हैं।"[2] आदम स्मिथ ने तो इस तत्व पर जोर देते हुए यहां तक कहा है "जहां सम्पत्ति नहीं है, वहां सरकार की आवश्यकता भी नहीं है।" इन विद्वानों के अतिरिक्त प्लेटो, मैकयावली, हाब्स, लॉक, अरस्तू आदि ने भी इस तत्व की महत्ता स्वीकार की है। कार्ल मार्क्स ने इसे ऐतिहासिक महत्व प्रदान करते हुए कहा है कि राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।

प्रारम्भिक काल से मनुष्य चार आर्थिक अवस्थाओं से गुजरा है और उसी के अनुसार उसके सामाजिक व राजनीतिक संगठन रहे हैं। प्रथम, असंगठित जीवन के प्रारम्भ में आखेट युग में मनुष्य के जीवन निर्वाह का एक मात्र साधन शिकार था जिसके कारण उसका जीवन अस्थिर, असंगठित और अव्यवस्थित था। द्वितीय, सामूहिक जीवन की अवस्था में मनुष्य पशु पालन पर निर्भर था जिससे उसके जीवन में सामाजिक संगठित जीवन का उदय

---

1 "The inner ground of the origin of the state in facts is that an aggregate of persons has a conscious feeling of its unity, and gives expression to this unity by organizing itself as a collective personality, and becoming its active subjects."

—Jellinek

2 "The economic activities by which men secured food and shelter, and later accumulated property and wealth were important factors in state building."

—Gettle

था। तीसरी अवस्था के संगठित जीवन में जीवन का आधार कृषि था जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रादुर्भाव से वर्ग संघर्ष बढ़े जिनके कारण कानून और न्यायालयों की स्थापना हुई। जटिल संगठित जीवन की आधुनिक औद्योगिक अवस्था है। जिसमें आर्थिक जीवन की जटिलता अनुसार राजनैतिक संगठन में भी जटिलता आ गई है। अतः राज्य की उत्पत्ति के तत्वों में आर्थिक आवश्यकताओं का तत्व भी सम्मिलित करना अनिवार्य हो जाता है।

(6) प्राकृतिक सामाजिक प्रेरणा (Natural Social Instinct)

मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। इतना होने पर भी इसमें वैमनस्यता की भावना होती है। जिसमें शांति व सुव्यवस्था को खतरा बना रहता है। अतः इसे सुव्यवस्थित व नियंत्रित करने के लिए एक विशिष्ट संगठन की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने लिखा है, "राज्य केवल जीवन के अस्तित्व के लिए विकसित हुआ है और यह अच्छे जीवन को संभव बनाने के लिए अब विद्यमान है।"[1] विल्सन ने लिखा है, "यद्यपि विधि विधान या सामाजिक अवस्था को किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया है फिर भी सरकार अपने आप नहीं बन पाई। इसके विकास में मनुष्य की सूझ बूझ या चयन का प्रभाव रहा है।" इससे स्पष्ट है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है जो मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का फल है।

निष्कर्ष—इससे स्पष्ट है कि राज्य कोई बनावटी (Manufacture) नहीं है अपितु प्राकृतिक विकास का परिणाम है। यह मानव स्वभाव की देन है। इसके लिए कोई एक तत्व उत्तरदायी नहीं है अपितु इसकी उत्पत्ति व विकास में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। पर इस सिद्धांत में भी त्रुटियां है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य का विकास स्वयं स्फूर्त ढंग से माना है परंतु राज्य की उत्पत्ति व विकास में चेतन क्रियाओं व कृत्रिम तत्वों का भी योग रहा है। दूसरा इस सिद्धांत के अनुसार राजनैतिक विकास की प्रक्रिया निरंतर जारी है परंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी कभी यह धारा अवरुद्ध भी हुई और क्रांतियों ने इसे नई दिशा प्रदान की। फ्रांस की क्रांति (1789) व रूस की क्रांति (1917) ने देश के सामाजिक व राजनैतिक जीवन में आमूल चूल परिवर्तन प्रस्तुत कर दिये। यह सब कुछ होते हुए भी राज्य की उत्पत्ति के संबंध में यही सिद्धांत सर्वाधिक मान्यता प्राप्त सिद्धांत है।

---

1 "State came into existence for the sake of mere life but it continues to exist for the sake of good life." —Aristotle

राज्य के कार्य

(Functions of State)

राज्य के कार्य क्षेत्र का निर्णय राज्य विज्ञान की सबसे मुख्य और आधारभूत समस्या है जिसका सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार का महत्त्व है। इस समस्या की ओर सभी कालों में राजनीतिक विचारकों का ध्यान गया है तथा वर्तमान काल में तो इसका महत्त्व विशेष हो गया है। आज प्रजातांत्रिक देशों में राज्य द्वारा उद्योग धंधों, बैंकों आदि की व्यवस्था को अपने अधिकार में लेना विवाद का विषय बना हुआ है जबकि दूसरी साम्यवादी राज्यों में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन ही राज्य के अधीन एवं नियंत्रण में आ गया है। अतः इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक हो जाता है कि राज्य के नियंत्रण की क्या सीमा होनी चाहिये अर्थात् राज्य को कौन से कार्य करने चाहिये और कौन से कार्य राज्य के नियंत्रण से मुक्त होने चाहिये।

विभिन्न सिद्धान्त (Various Theories)

इस महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान मुख्यतया तीन प्रकार से किया जाता है। राजदर्शन में एक ओर अराजकतावादी (Anarchism) सिद्धान्त है जो शासन की आवश्यकता को ही स्वीकार नहीं करता है। उसकी तो यहाँ तक मान्यता है कि आदर्श समाज में राज्य नाम के संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है। आदर्शवादी राज्य-विहिन समाज की कल्पना करते हैं क्योंकि उनके अनुसार राज्य एक दमनकारी शक्ति है जिसका अंत सामाजिक हित की दृष्टि आवश्यक है। दूसरी ओर समाजवादी (Socialism) सिद्धांत है जिसकी यह मान्यता है कि सामाजिक कल्याण का सर्वोत्तम माध्यम राज्य ही है और इस कारण राज्य के कार्य क्षेत्र का अधिक से अधिक विस्तार होना चाहिये। इन दोनों विचारधाराओं के बीच व्यक्तिवादी सिद्धांत (Individualism) सिद्धांत है जो शासन को एक आवश्यक बुराई मानता है और इस कारण वह राज्य के कार्यों को एक संकुचित क्षेत्र में सीमित रखना चाहता है। इन तीन मुख्य सिद्धातो के अतिरिक्त राज्य के कार्य क्षेत्र के संबंध मे आदर्शवाद, गांधीवाद, उपयोगितावाद तथ लोकहित कारी-राज्य का सिद्धांत भी राजदर्शन में है जिन पर हमे विचार करना है। अतः आगे हम राज्य के कार्य क्षेत्र के संबंध मे प्रत्येक सिद्धांत पर संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त समझते हैं।

1. समाजवादी सिद्धांत (Socialim)—हम ऊपर लिख चुके हैं कि समाजवाद की मान्यतानुसार राज्य के कार्य क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए। अतः समाजवाद के अनुसार राज्य के कार्य क्षेत्र में उद्योग, धंधे, व्यापार-वाणिज्य आदि सभी आ जाते हैं

अर्थात् इन सब का संचालन राज्य के अधिकार में होना चाहिये न कि व्यक्तियों के। समाजवाद की स्पष्ट मान्यता है कि उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होना चाहिये अपितु महत्वपूर्ण उद्योग और सेवायें सार्वजनिक स्वामित्व और नियंत्रण के अन्तर्गत होनी चाहिये ताकि उनका संचालन सम्पूर्ण समाज के हितों के लिए किया जाय न कि कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए। अराजकतावाद और व्यक्तिवाद के विपरीत समाजवाद राज्य को एक अच्छाई के रूप में स्वीकार करता है। उसकी यह मान्यता है कि राज्य सभ्य और सुखी जीवन की एक महान् आवश्यकता है। अतः वह राज्य को एक कल्याणकारी संस्था (Welfare Institution) स्वीकार करता है जिसका उद्देश्य मनुष्य की सेवा करना है। यही कारण है कि समाजवादी विशेष रूप से समाज के निम्न वर्ग (निर्धन, कृषक एवं श्रमिक) के हितों के लिए राज्य के कार्यों का विस्तार करना चाहते हैं।

2. व्यक्तिवादी सिद्धांत (Individualism)—यह सिद्धांत व्यक्ति को सामाजिक और राजनैतिक विचारधारा का केंद्र बिन्दु मानता है। इसके मतानुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है अतः उसका कार्य-क्षेत्र जितना ही सीमित हो, उतना ही व्यक्ति के हित में है। व्यक्तिवादियों की दृष्टि में राज्य के कार्य कम से कम होने चाहिये। फ्रीमैन के शब्दों में, "वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है" (That Government is best which governs the least) व्यक्तिवाद की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य का नियंत्रण व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित करता है, तथा उसकी स्वतंत्रता को मर्यादित करता है। अतः नागरिकों के स्वतंत्रता के हित में राज्य के कार्य को नियंत्रित किया जाना अनिवार्य है। व्यक्तिवाद की दृष्टि से राज्य के आवश्यक कार्य केवल तीन होने चाहिये—(i) समाज में शांति और व्यवस्था कायम रखना (ii) विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना और (iii) वैध समझौतों को लागू करना। संक्षेप में, व्यक्तिवाद का आदर्श एक 'पुलिस राज्य' (Police State) का है जो राज्य को केवल निषेधात्मक (Negative) कार्य ही देना चाहता, न कि रचनात्मक (Positive) कार्य क्योंकि उसके अनुसार "राज्य का कार्य बुराइयों को दूर करना है, मनुष्यों को सुखी बनाना नहीं, वह रक्षा एवं नियंत्रण के लिए है, अभिवृद्धि या पोषण के लिए नहीं।"

व्यक्तिवादियों द्वारा अपने पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि समाज की आर्थिक उन्नति स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव होती है। देश में व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धंधों की स्वतंत्रता होने पर ही पूंजीपति अपनी पूंजी ऐसे उद्योगों में लगायेगा जिनसे उसे अधिक लाभ होगा। स्वतंत्र प्रतियोगिता से मांग और पूर्ति की शक्तियाँ पूरी तरह से उद्योग में काम करेंगी और वस्तुओं के मूल्य भी सस्ते होंगे।

(3) आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealism)—राज्य के कार्य क्षेत्र के बारे में आदर्शवादी विचारकों की मान्यता है कि राज्य का उच्चतम उद्देश्य नागरिकों के जीवन को सुन्दर बना कर उसे परिपूर्ण बनाना है। ग्रीन के शब्दों में, "राज्य का कार्य परिपूर्ण जीवन की बाधाओं को दूर करना है।" (The sphere of state action is to hinder the hindrances

to Perfect life) अर्थात् राज्य का कार्य केवल यही है कि वह अच्छे जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करे। उदाहरणार्थ, मनुष्य के नैतिक जीवन व्यतीत करने के मार्ग में निर्धनता, अज्ञान, शराब खोरी इत्यादि बुराइयाँ बाधक सिद्ध हुई हैं अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे जिससे कि मानव का जीवन सुखी और सुन्दर बन सके। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आदर्शवादी राज्य को केवल बाधाओं को हटाने का अधिकार देना चाहते हैं। वे राज्य को आर्थिक नियंत्रण आदि का अधिकार देने को तैयार नहीं हैं और इस क्षेत्र में वे व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं।

(4) उपयोगितावादी सिद्धान्त (Utilitarianism)—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को केवल वे ही कार्य करने चाहिये जिनमें अधिकतम व्यक्तियों के अधिक से अधिक हित साधन (Greatest good of the greatest number) हो सके अर्थात् वे राज्य के कार्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करके केवल उसके कार्यक्षेत्र का निर्णय करने के लिये 'उपयोगिता' (Utility) का मापदण्ड ही निर्धारित करते हैं।

(5) गांधीवादी सिद्धान्त (Gandhism)—राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में भारत में 20 वीं शताब्दी में ही एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जिसके जन्मदाता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को माना जाता है और उसके प्रमुख विचारक आचार्य विनोबा भावे, श्री जय प्रकाश नारायण, आचार्य कृपलानी आदि हैं। गांधीवाद के मतानुसार आधुनिक औद्योगिक अर्थ व्यवस्था एक केन्द्रित (Centralised) व्यवस्था है जिसमें पूँजी का केन्द्रीकरण बढ़ता जाता है जिसके परिणाम स्वरूप पूँजीपति पनपते जाते है और श्रमिकों का शोषण बढ़ता जाता है। गांधीवाद का स्पष्ट मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक होड़ समस्त देश को खोखला और कंगाल बना देती है ऐसी स्थिति से बचने के लिये गांधीवाद ने विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था (Decentralised economy) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा साथ ही कुटीर व्यवस्था को पुनर्जीवित करने पर अधिक बल दिया। गांधीवाद उद्योग धंधों में सहकारिता को भी लागू करने के पक्ष में है ताकि किसी भी श्रमिक का शोषण नहीं किया जा सके।

इस दृष्टि से गांधीवादी के जनक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचार साम्यवाद के पिता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) से मिलते हैं क्योंकि मार्क्स की तरह ही वे भी पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने की बात करते हैं परन्तु महात्मा गांधी अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिये मार्क्स द्वारा बताये हुए क्रांति या हिंसात्मक तरीकों के विरोधी थे क्योंकि उनका यह अटल विश्वास था कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भी उतना ही पवित्र होना चाहिये जितना कि वह लक्ष्य स्वयं अर्थात् वे साधन और साध्य दोनों की पवित्रता चाहते थे। अतः अपने सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिये वे हृदय परिवर्तन (change of heart) के साधन के अधिक पक्षपाती थे।

(6) लोकहितकारी राज्य का सिद्धान्त (Welfare State Theory)—यह सिद्धान्त आधुनिक राजनीति तत्व-दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आधुनिक काल में

यह सिद्धान्त इतना अधिक लोकप्रिय बन गया है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ इसकी दुहाई देता है और प्रत्येक राज्य इसे लागू करने का दावा करता है। आधुनिक युग में एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन आदि पूंजीवादी राष्ट्र इस बात की घोषणा करते हैं कि उनके राज्य लोक हितकारी हैं और दूसरी ओर सोवियत रूस, जनवादी चीन आदि साम्यवादी राज्य भी इसी प्रकार का दावा करते हैं। अतः हमारे सम्मुख यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि लोक हितकारी राज्य का वास्तविक अभिप्राय क्या है?

वैसे देखा जाय तो लोक हितकारी राज्य का अभिप्राय तो इसके नाम से ही स्पष्ट है कि राज्य का कर्त्तव्य अपने नागरिकों का अधिक से अधिक हित करना होना चाहिये। लोक हितकारी राज्य की परिभाषा देते हुए एक विद्वान ने लिखा कि "लोक हितकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिये विस्तृत समाज-सेवाओं (social services) की व्यवस्था करता है जिनका संबंध शिक्षा, स्वास्थ्य, बेकारी व वृद्धावस्था में सहायता की व्यवस्था से है। डा० आशीर्वादम् के शब्दों में, "लोक हितकारी राज्य वह राज्य है जो साधारण कार्यों के अतिरिक्त लोक कल्याण के भी कार्य करता है जैसे सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमा योजनाएँ, बेकारी दूर करना, बुढ़ापे की पेंशन और सुरक्षा तथा अन्य सहायता कार्य।" वे आगे लिखते हैं, "दूसरे शब्दों में, लोक हितकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार ताकि अधिक से अधिक जनता का कल्याण हो सके। राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार का अर्थ प्रायः यह होता है कि राज्य व्यक्ति के निजी कार्य-क्षेत्र पर अत्यधिक बन्धन लगा सकता है। परन्तु लोकहितकारी राज्य का लक्ष्य राज्य के कार्य-क्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे।" पं० नेहरू के मतानुसार लोकहितकारी राज्य के मूल आधार समान अवसर की व्यवस्था, गरीब और अमीर के भेद को दूर करना तथा जीवन-स्तर को उठाना आदि मुख्य हैं।

संक्षेप में, लोकहितकारी राज्य का वास्तविक लक्ष्य नागरिकों के लिए यथार्थ स्वतंत्रता का उपभोग संभव बनाना है। यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी, समाजवादी, उपयोगितावादी, आदर्शवादी और गांधीवादी सभी विचारधाराओं के निचोड़ का परिणाम है। यह इन सभी विचारधाराओं की अच्छी बातों को स्वीकार कर राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में एक सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार राज्य के लिए उन्हीं कार्यों को करना उचित है जिनसे व्यक्तियों का अधिकतम हित साधन हो सके। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के प्रधान कार्य निम्न प्रकार के होने चाहिये।

(1) सबके लिए जीविकोपार्जन के समुचित साधन जुटाना, (2) सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य चिकित्सा की व्यवस्था करना, (3) बीमारी, बुढ़ापे और बेकारी में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना, (4) प्रत्येक व्यक्ति को उचित न्यूनतम जीवन-स्तर की दशायें उपलब्ध करना आदि आदि।

ऊपर हमने संक्षिप्तः रूप से ही इस सिद्धान्त की विवेचना की है परन्तु यह सिद्धांत

आधुनिक युग का एक महत्वपूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त होने के कारण हम अगले अध्याय इस पर कुछ अधिक विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

राज्य के वास्तविक कार्य
(Actual Function of the State)

ऊपर हमने राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सिद्धांतों की व्याख्या की है। इन सिद्धांतों में से कुछ तो केवल बुद्धि विलास मात्र हैं और उनका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है। आधुनिक काल का सर्वमान्य सिद्धांत तो यही है कि राज्य को अपने नागरिकों की भलाई का अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए। सी.डी. बर्न्स का यह कथन उचित है कि "राज्य को राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाने और राष्ट्र के स्वास्थ्य, कल्याण, नैतिकता और बुद्धि को उन्नत करने में पूरा योग देना चाहिये" (The state must make the fullest contribution to the perfection of national life, to the development of the nation's health and well-being, its morality and its intelligence)।

आधुनिक काल में राज्य के वास्तविक कार्यों को विद्वानों ने दो भागों में बांटा है—

(1) आवश्यक या अनिवार्य कार्य (Essential or Compulsory function) और

(2) ऐच्छिक या वैकल्पिक कार्य (Optional Functions)। आगे हम दोनों का विस्तृत वर्णन देते हैं।

(1) आवश्यक या अनिवार्य कार्य (Essential or Compulsory functions)

राज्य के आवश्यक कार्यों में हम उन कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। प्रत्येक राज्य के लिए इन कार्यों को करना जरूरी है। इनके बिना राज्य में शांति और व्यवस्था समाप्त होने का भय रहता है जिसके कारण नागरिकों का जीवन खतरे में पड़ सकता है। अतः इन कार्यों को प्राथमिकता देना प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है। राज्य के आवश्यक कार्य क्या होने चाहिये इसके विषय में भी राजनीति शास्त्र के विद्वानों में एक मत नहीं है परन्तु अधिकांश विद्वान् केवल निम्नलिखित तीन कार्यों को ही राज्य के आवश्यक कार्यों के रूप में स्वीकार करते हैं।—

(i) बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना—राज्य का सर्वप्रथम कार्य बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना है। इसके लिए राज्य अपने यहाँ सेना की व्यवस्था रखता है राज्य की सैन्य शक्ति में आजकल स्थल, जल और नभ सेना सम्मिलित है। प्रत्येक राज्य के पास आवश्यकतानुसार इतनी सेना अवश्य होनी चाहिए कि वह बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने में सक्षम हो सके।

आजकल विदेशी राज्यों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राज्य को अपने यहाँ कूटनीतिक विभाग भी आवश्यक रूप से रखना पड़ता है।

(2) देश में आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना—राज्य का दूसरा आवश्यक कार्य शान्ति और व्यवस्था कायम रखना है। राज्य के लिए यह आवश्यक है कि

वह अपने नागरिकों के जीवन और धन की रक्षा करे तथा किसी प्रकार के आंतरिक उपद्रवों से उनके धन, जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को अपने यहाँ पुलिस का मजबूत संगठन कायम रखना पड़ता है तथा जेलों की व्यवस्था भी करनी पड़ती है।

(iii) न्याय व्यवस्था का प्रबंध—राज्य का तीसरा आवश्यक कार्य न्याय-व्यवस्था कायम रखना है। किसी सरकार की योग्यता उस राज्य की न्याय-पद्धति से ही मांपी जा सकती है। राज्य कानूनों द्वारा शांति और व्यवस्था कायम रखता है। इन्हीं कानूनों का पालन करवाने के लिए न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता रहती है। प्रत्येक राज्य में अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालयों की स्थापना की जाती है। एक अच्छे राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की जनता को निष्पक्ष न्याय शीघ्र और सस्ता उपलब्ध होता रहे।

कुछ विद्वान् राज्य के आवश्यक कार्यों में उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त कर लगाना, सिक्के चलाना, भूमि, जंगल आदि की रक्षा करना, रेल-तार आदि कायम करना, पति-पत्नि एवं माता-पिता और बच्चों के कानूनी सम्बन्ध निश्चित करना आदि कार्यों को भी सम्मिलित करते हैं।

विद्वान् लेखक गैटिल (Gettell) ने राज्य के आवश्यक कार्यों में कई आर्थिक कार्यों को भी जोड़ दिया है जो इस प्रकार हैं:—कर निर्धारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, मुद्रा तथा मुद्रांकन का नियन्त्रण, भूमि, जंगल आदि सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करना, रेल, डाक, तार आदि की व्यवस्था करना आदि आदि।

(2) वैकल्पिक या ऐच्छिक कार्य (Optional Function)

राज्य के ऐच्छिक कार्यों में हम उन कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए सर्वथा आवश्यक तो नहीं है परन्तु ये कार्य राज्य की उन्नति हेतु उपयोगी है। इन कार्यों का उद्देश्य जनता की नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति करना होता है। ये कार्य जनता की भलाई, उसके बौद्धिक विकास और जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने में सहायक होते हैं। विद्वान् लेखक गैटल ने राज्य के ऐच्छिक कार्यों को दो भागों में विभाजित किया है—(अ) समाजवादी कार्य (Socialistic Functions) और (ब) गैर-समाजवादी कार्य (Non-Socialistic Functions)।

समाजवादी कार्यों में वे सभी कार्य शामिल हैं जो व्यक्तिगत उद्योगों से भी सम्पादित किये जा सकते हैं परन्तु अधिकतम सामाजिक हित के लिए आधुनिक राज्य उन्हें अपने अधिकार में ले लेता है जैसे रेल, डाक, तार, टेलीफोन, गैस, बिजली, पानी आदि की व्यवस्था। दूसरी ओर गैरसमाजवादी कार्यों में ऐसे ही कार्य शामिल हैं जिन्हें केवल राज्य ही पूरा कर सकता है। राज्य के द्वारा उपेक्षित होने पर या तो ये सम्पादित ही नहीं होंगे या व्यक्तिगत उद्योगों द्वारा वे कम क्षमता के साथ सम्पादित हो सकेंगे। इन कार्यों में मुख्यतया निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है—निर्धन और असमर्थ व्यक्तियों की

रक्षा, सार्वजनिक बगीचों, पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की व्यवस्था करना, सार्वजनिक सफाई और स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना, प्रारम्भिक शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान, सड़कें, पुल, नहरों आदि का निर्माण करना इत्यादि इत्यादि।

आगे हम राज्य के मुख्य ऐच्छिक कार्यों का विवरण देते हैं जो निम्नलिखित हैं:—

(i) सार्वजनिक शिक्षा क प्रबन्ध—राज्य का प्रथम मुख्य ऐच्छिक कार्य सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना है। शिक्षा के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास कभी संभव नहीं है। शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है प्रजातन्त्र की सफलता के लिए तो शिक्षा प्रचार अनिवार्य है। इसीलिए आधुनिक राज्यों द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध सभी नागरिकों के लिए प्रायः निशुल्क और अनिवार्य रूप से किया जाता है। इसके लिये राज्य द्वारा स्कूलों, कॉलेजों, वाचनालयों, पुस्तकालयों, अजायबघरों आदि की स्थापना की जाती है।

(ii) सार्वजनिक सफाई और स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध—राज्य दूसरा मुख्य ऐच्छिक कार्य सार्वजनिक सफाई और स्वास्थ्य रक्षा है। बीमारियों की रोकथाम, उनका उपचार, शुद्ध जल का प्रबन्ध, सार्वजनिक स्थानों की सफाई का समुचित प्रबन्ध आदि कार्य करना राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है। इन कार्यों के लिए राज्य द्वारा सार्वजनिक औषधालयों की व्यवस्था की जाती है। राज्य द्वारा इन्हीं कार्यों के लिए कई प्रकार के कानून बनाये जाते हैं और अनेक कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता है। आधुनिक राज्यों में इस प्रकार के अधिकांश कार्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं द्वारा ही किये जाते हैं।

(iii) यातायात और संदेश वाहन के साधनों की व्यवस्था—आधुनिक काल में राज्य सड़कों, रेलों, मोटरों, वायुयानों, जलयानों आदि का भी प्रबन्ध करते हैं जिससे कि जनता इधर-उधर आसानी से आ जा सके और अपने माल को भी एक स्थान से दूसरे स्थान को सुविधापूर्वक ले जा सके। इसके अतिरिक्त समाचार भेजने के लिए राज्य द्वारा डाक, तार, टेलीफोन आदि की भी व्यवस्था की जाती है। यातायात और संदेशवाहन के साधन जनता की सुविधा और देश के आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है।

(iv) कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों की सहायता—आधुनिक काल में राज्य द्वारा कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धों आदि की उन्नति में भी सहायता प्रदान की जाती है क्योंकि इनके द्वारा ही नागरिकों की अधिक उन्नति संभव होती है। कृषि की उन्नति के लिए राज्य आधुनिक काल में अच्छे बीज, अच्छी खाद आदि का प्रबन्ध करता है सिंचाई के साधनों की भी समुचित व्यवस्था करता है। व्यापार-धन्धों की उन्नति हेतु भी राज्य द्वारा कई प्रकार के कार्य किये जाते हैं। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए राज्य आयात-निर्यात करों का उचित नियन्त्रण करता है, औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करता है, प्रदर्शनियों आदि का आयोजन करता है, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना करता है आदि आदि।

आधुनिक काल में साम्यवादी राष्ट्रों में तो ये समस्त कार्य राज्य अपने एकाधिकार के आधार पर ही करता है अर्थात् वहाँ समस्त कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धे मुख्यतया

राज्य के ही स्वामित्व में है अथवा राज्य के नियंत्रण में सहकारी संस्थायें उनकी व्यवस्था करती हैं जबकि दूसरी ओर स्वतन्त्र देशों में राज्य द्वारा उनकी आवश्यक सहायता मात्र की जाती है। भारत में सरकार द्वारा समाजवादी आधार पर व्यवस्था (Socialistic Pattern of Society) का लक्ष्य स्वीकार करने के बाद यहाँ भी अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है तथा कई राजकीय कृषि फार्मों आदि की स्थापना की गई है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहकारी कृषि को भी अपनाया जा रहा है। ऐसे अनेक कार्य ही भारत को कुछ दृष्टि से समाजवाद की ओर ले जा रहे हैं।

(v) मजदूरों की भलाई—आधुनिक औद्योगिक युग में पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का अन्त करने के लिए राज्य द्वारा अनेक प्रकार के कानून बनाये जाते हैं। मजदूरों के काम के घंटों सम्बन्धी कानून, उनके न्यूनतम वेतन व अन्य सुविधा सम्बन्धी कानून, मालिक-मजदूरों के झगड़े के पंचाट संबंधी अनेक प्रकार के कानून आधुनिक राज्यों द्वारा मजदूरों के हितों के लिए बनाये जाते हैं। बेकार व्यक्तियों को काम दिलाने में सहायता देने के लिये काम दिलाऊ दफ्तर (Employment Exchange) आदि भी राज्य द्वारा खोले जाते हैं।

(vi) मुद्रा व बैंकों का प्रबंध करना—सभी राज्यों द्वारा अपने देश के लिये मुद्रा की व्यवस्था की जाती है और विदेश के साथ उसके विनिमय दर (Exchange Rate) का निश्चित किया जाता है। मुद्रा को निकालने के लिए प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापित की जाती है जो अन्य बैंकों पर नियंत्रण का कार्य भी करती है। भारत में रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) इसी प्रकार की बैंक है।

(vii) सार्वजनिक मनोरंजन की व्यवस्था—आधुनिक काल में राज्य जनता के मनोरंजन के लिए सार्वजनिक बगीचे (Public parks), खेल के स्थान (Stadiam), सार्वजनिक स्नानघर, (Swimmig pools) रेडियो, सिनेमा, नाटकघर आदि का प्रबंध करते हैं।

(viii) निर्धनों और अपाहिजों की रक्षा का प्रबंध—आधुनिक राज्यों द्वारा निर्धनों और अपाहिजों की रक्षा के लिए निर्धन गृहों (Poor Houses) आदि की स्थापना की जाती है। अन्धे व्यक्तियों के लिए अन्धे गृह (Blind Houses), पागल व्यक्तियों के लिए पागलखाने (Lunatic Asylums), कोढ़ी व्यक्तियों के लिए कोढ़ी केन्द्र (Leprosy centers) आदि भी खोले जाते हैं। विश्व के कई उन्नतिशील राज्यों में आजकल बीमारी, बेकारी, बुढ़ापे आदि के लिए समुचित बीमे की व्यवस्था की जाती है। कई देशों में बेकारों और बूढ़ों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। समाजवादी राज्य इस क्षेत्र में अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(ix) सामाजिक सुधार कार्य—आधुनिक युग में सामाजिक सुधार के लिए कार्य करना भी राज्य का कर्त्तव्य माना जाता है। प्रत्येक देश किसी-न-किसी प्रकार की सामा-

जिक बुराइयाँ पैदा होती रहती हैं। हमारे देश में हिन्दू समाज में पर्दा-प्रथा, छुआछूत का भेद, बहु-विवाह, बाल-विवाह आदि अनेक प्रकार की सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए राज्य द्वारा कानून बनाये गये हैं।

ऊपर हमने राज्य के मुख्य ऐच्छिक कार्यों का वर्णन किया है। वास्तव में राज्य के ऐच्छिक कार्यों की निश्चित सूची बनाना संभव नहीं है। विश्व में अलग अलग राज्यों द्वारा अपने सिद्धांत और आवश्यकता के अनुसार ये ऐच्छिक कार्य किये जाते हैं। इतना ही नहीं वर्तमान काल में राज्य के ऐच्छिक कार्यों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है।

अन्त में, हमारे लिये एक बात यह भी समझना आवश्यक है कि राज्य के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों में जो भेद है वह केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं। जो कार्य अभी तक राज्य द्वारा ऐच्छिक समझे जाते थे वे अब आवश्यक प्रतीत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए आज से कई वर्षों पूर्व शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करने संबंधी कार्य ऐच्छिक कार्यों की श्रेणी में आते थे परन्तु धीरे-धीरे अब ये कार्य आवश्यक कार्यों की श्रेणी में आने लग गये हैं।

लोक हितकारी राज्य
(Welfare State)

राज्य साधन अथवा साध्य—राजनीति विज्ञान की सबसे जटिल समस्या यह निर्णय करने की है कि क्या राज्य किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मात्र एक साधन है अथवा वह अपने आप में ही साध्य है। कुछ राजनैतिक विचारकों का मत है कि राज्य अपने आप में ही एक लक्ष्य है (State is an end in itself)। प्राचीन यूनान के राजनैतिक दार्शनिकों का यही मत था। राजनीति शास्त्र के पिता अरस्तू ने राज्य की उपमा मनुष्य शरीर से और नागरिकों की उपमा शरीर के विभिन्न अवयवों से दी थी। उनके मतानुसार राज्य के बिना व्यक्ति अपूर्ण है। व्यक्ति राज्य पर उसी प्रकार आश्रित है जैसे मानव शरीर के विभिन्न अंग शरीर पर आश्रित हैं। इतना ही नहीं, उनके मतानुसार राज्य में ही व्यक्ति का अस्तित्व है और राज्य से पृथक उसका कोई अर्थ नहीं होता। अरस्तू के शब्दों में "जो व्यक्ति राज्य से पृथक रह सकता है, वह या तो देवता है या पशु"। इस प्रकार अरस्तू के विचार में राज्य स्वयं एक साध्य था। यही दृष्टिकोण आज समाजवादी, साम्यवादी, आदर्शवादी आदि विचारधाराओं में पाया जाता है।

इसके विपरीत एक दूसरा दृष्टिकोण राज्य को साधन मात्र मानता है। इस मत के विचारक राज्य और समाज दोनों को पृथक मानते हैं और राज्य को समाज के हित और समृद्धि का साधन मानते हैं। इस मत के अनुसार सामाजिक और राजनैतिक विकास का उद्देश्य व्यक्ति की उन्नति है और राज्य केवल व्यक्ति के हित में वृद्धि करने वाला एक साधन है। व्यक्तिवादी विचारधारा का यही दृष्टिकोण है और इसी कारण व्यक्तिवादी व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं ताकि वह अपनी अधिक उन्नति कर सके।

राज्य के संबंध में विभिन्न मत

उपरोक्त प्रमुख विचारधाराओं के अतिरिक्त भी राज्य के संबंध में विभिन्न विचारकों ने समय-समय पर विभिन्न मत प्रकट किये हैं जिनमें से कुछ मुख्य विचार इस प्रकार है। ऑपनहीम के मतानुसार राज्य केवल एक वर्ग संगठन है जिसमें एक विशेष वर्ग दूसरे वर्गों पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है। साम्यवाद के पितामह कार्ल मार्क्स के अनुसार भी आधुनिक राज्य धनिकों द्वारा निर्धनों के शोषण की संस्था है। एक अन्य विचारधारा के अनुसार राज्य शक्ति की व्यवस्था है अर्थात् राज्य का आधार शक्ति है। मेक्यावली, ट्रियेत्के आदि विचारकों ने इसी मत की पुष्टि की है। आस्टिन ने राज्य को कानूनों की मर्यादा मात्र माना है। उनके मतानुसार राज्य कानूनों के अन्तर्गत संगठित मनुष्यों का एक समुदाय है।'

सर्वाधिकारवादी (Totalitarianism) के अनुसार राज्य को मनुष्य के समस्त जीवन पर पूर्ण रूप से अधिकार है। जर्मनी के नाजीवाद, इटली के फासीवाद तथा आधुनिक साम्यवाद मे यही विचारधारा प्रचलित है। मुसोलिनी कहा करता था कि "सब कुछ राज्य में है, राज्य के बाहर कोई भी नहीं है तथा राज्य का विरोध कोई नहीं कर सकता" (All within the State, none out side the State and none against the State)। दूसरी ओर बहुलवादी विचारधारा के प्रतिपादक राज्य को एक सीमित सार्वभौमिक संस्था मानते हैं। उनके अनुसार राज्य भी समाज में कार्य करने वाली अन्य संस्थाओं की तरह एक राजनैतिक संस्था है तथा राज्य की सार्वभौमिकता आंशिक रूप से समस्त संस्थाओं, समुदायों आदि मे विभाजित है। ब्रिटेन का प्रसिद्ध विद्वान लास्की इसी मत का समर्थक था।

राज्य के विभिन्न मतों का मूल्यांकन

उपरोक्त प्रत्येक विचारधारा आंशिक रूप से मान्य मानी जा सकती है परन्तु उनमें से कोई विचारधारा स्वतंत्र रूप से पूर्ण रूपेण सत्य नहीं है। राज्य न तो केवल साधन ही माना जा सकता है और न केवल साध्य ही अपितु राज्य साधन और साध्य दोनों ही है। राज्य को एक वर्ग संगठन मानना भी आधुनिक प्रजातांत्रिक युग मे सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्रजातंत्र में किसी वर्ग विशेष की प्रधानता असंभव है। राज्य को शक्ति की व्यवस्था मानना भी उचित नहीं है क्योंकि राज्य के विभिन्न लक्षणों में से शक्ति केवल एक ही वस्तु है, सर्वस्व नहीं। राज्य को शक्ति का वास्तविक आधार नैतिकता में होता है क्योंकि जब तक राज्य की शक्ति के पीछे नैतिकता नहीं है उसके नियमों का पालन होना कठिन है। विद्वान विचारक ग्रीन का यह कथन उपयुक्त ही है कि "राज्य का आधार शक्ति नहीं, अपितु सामान्य इच्छा है" (Will, not force, is the basis of the State)। जनता में राजनैतिक चेतना होने पर ही राज्य की आज्ञाओं का पालन हो सकता है, केवल शक्ति के आधार पर नहीं। शक्ति किसी लक्ष्य की प्राप्ति का एक माध्यम हो सकती है न कि अपने आप में कोई विशिष्ट उद्देश्य।

इसी प्रकार से आस्टिन का यह मत भी सही नहीं माना जा सकता कि राज्य एक कानून की व्यवस्था मात्र है। राज्य के कानूनों के पीछे सदैव ही जन कल्याण की भावना निहित है। जनकल्याण विहीन आज्ञायें वास्तविक कानून का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती है। बहुलवादी विचारधारा भी राज्य के बारे में एकांगी दृष्टिकोण है। राज्य में अन्य संस्थाओं का महत्व अवश्य है किन्तु अन्य संस्थाओं के मतभेदों का निर्णय करने के लिये प्रभुता सम्पन्न राज्य आवश्यक है। सर्वाधिकारवादी विचारधारा के अनुसार व्यक्ति को नगण्य मान लेना भी आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में पूर्णतया अनुचित है।

लोकहितकारी राज्य (Welfare State)

उपरोक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्य की महानता केवल उसकी शक्ति अथवा समानता आदि दृष्टिकोणों से नहीं आंकी जा सकती। आधुनिक युग में राज्य की श्रेष्ठता के मूल्यांकन का एक मात्र साधन उसका लोकहितकारी होना है। लोकहितकारी राज्य का विचार एक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। यही कारण है कि आज सभी प्रकार की शासन प्रणालियों वाले राज्य अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने को लोकहितकारी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत के संविधान में वर्णित नीति निर्देशक तत्व इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारत के लिए जिस शासनप्रणाली की व्यवस्था की है उसका आधार लोक कल्याण की भावना है।

राजनीति शास्त्र के जनक अरस्तू ने लोकहितकारी राज्य का दृष्टिकोण बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। उनके अनुसार "राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई है परन्तु उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिये है" (State came into existence for life but it exists for the sake of good life)। वस्तुतः जहां तक लोकहित तथा राज्य का सम्बन्ध है, राज्य का स्वरूप मूलतः लोकहितकारी है। यह सत्य है कि इसका यह स्वरूप समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। आधुनिक काल में लोकहितकारी राज्य की भावना व्यक्तिवाद के विरोध में पुनः जागृत हुई है।

सत्रहवीं शताब्दी में विकसित व्यक्तिवादी विचारधारा ने राज्य को एक पुलिस राज्य (Police State) मात्र बनाने का विचार रखा। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य को नितान्त आवश्यक कार्य ही करने चाहिये। व्यक्तिवादियों के विचार में राज्य को बाह्य आक्रमण से रक्षा (Defence), आंतरिक शांति और व्यवस्था (Internal Peace and order) तथा न्याय (Justice) के ही तीन प्रमुख कार्य करने चाहिये तथा अन्य कार्यों के लिये व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये अर्थात् उनमें राज्य का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। उनका यह सिद्धान्त "व्यक्ति को अकेला छोड़ दो" (Let the Individual alone या Laisssez Faire) के नाम से विख्यात है और इसे ही पुलिस राज्य (Police State) का सिद्धान्त कहा जाता है।

इसमें सन्देह नहीं की पुलिस राज्य के दिन अब समाप्त हो चुके हैं। आधुनिक काल में सर्वत्र सेवा-राज्य (Service State) का सिद्धान्त माना जाने लगा है जिसके

अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की अधिक से अधिक सेवा करना है। यही सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक देशों में लोक हितकारी राज्य के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ है।

अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोकहितकारी राज्य क्या है? साधारणतया लोकहित करने वाला राज्य लोकहितकारी माना जाता है अर्थात् लोक-हितकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसमें जनता का अत्यधिक कल्याण होता हो। इस व्यवस्था में राज्य का उद्देश्य किसी समुदाय, वर्ग या अंग विशेष का हित साधन नहीं होता वरन् उसका उद्देश्य जनता के सभी अंगों की समान रूप से उन्नति करना होता है। इस सम्बन्ध में केण्ट (Kant) का कथन है कि "लोकहितकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिये व्यापक समाज-सेवाओं की व्यवस्था करता है............इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना है।" इसी प्रकार अब्राहम लिंकन के शब्दों में, "लोकहितकारी राज्य उसे कहते हैं जहां राज्य की शक्तियों का प्रयोग आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से सुधारने के लिए उपयोग किया जाता है कि उसमें सम्पत्ति का अधिक से अधिक उचित वितरण हो सके।"

लोकहित से तात्पर्य मनुष्यों के सब प्रकार के हित साधनों से है। इसमें सामाजिक नैतिक, बौद्धिक तथा आर्थिक सभी प्रकार के हित सम्मिलित हैं। परन्तु इन सबमें आर्थिक हित सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि आर्थिक हित साधन के बिना अन्य प्रकार का हित साधन वास्तविक रूप से सम्भव नहीं है। लोकहितकारी राज्य की आधारभूत भावना यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख और समृद्धि के लिये राज्य अधिक से अधिक प्रयत्न करे। प्रत्येक नागरिक को सम्मान पूर्वक जीने का अधिकार प्राप्त हो तथा कोई भी अपनी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित न हो। लोकहितकारी राज्य में बीमारी, बुढ़ापा अथवा असमर्थता में सभी नागरिकों को उचित प्रकार की सहायता प्राप्त हो तथा प्रत्येक को अवसर की समानता बिना किसी भेदभाव के उपलब्ध हो। संक्षेप में लोकहितकारी राज्य के मुख्य कार्यक्षेत्र निम्न लिखित हैं:—

(i) देश की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाना तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

(ii) सामाजिक जीवन का सर्वांगीण विकास तथा सामाजिक असमानताओं को दूर करना।

(iii) सभी नागरिकों के आर्थिक हितों की रक्षा करना एवं राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों का विकास जनहित में करना।

(iv) जनता के सांस्कृतिक जीवन का उत्थान करना आदि आदि।

उपरोक्त सूचि से विदित होता है कि कल्याणकारी राज्य में जनता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी हितों की रक्षा की जाती है। जनहित कारी राज्य वह है कि जिसमें देश की आर्थिक नीति का संचालन इस आधार पर किया जाय कि

उत्पादन के साधनों पर किसी वर्ग विशेष का प्रभुत्व न हो तथा धनिक वर्ग निर्धन कृषकों एवं श्रमिकों का शोषण न कर सके तथा देश की सम्पत्ति को अधिक से अधिक जनता की भलाई में लगाई जाय। जनहित कारी राज्य का कर्त्तव्य है कि राज्य सांस्कृतिक विकास के लिये विविध प्रकार की कलात्मक प्रवृतियों—संगीत, चित्रकला, साहित्य आदि को संरक्षण प्रदान करे तथा नागरिकों के जीवन को हर सम्भव प्रयास द्वारा सुखी, आनन्दमय और उल्लासपूर्ण बनाया जाय।

संक्षेप में, लोकहित का अर्थ है कि राज्य में सभी नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति हो जिसका अभिप्राय है कि राज्य का प्रत्येक नागरिक अपने पैरों पर खड़ा हो सके और जीवन संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सके। जिन राज्यों में इस प्रकार की प्रवृतियाँ पाई जाती है उन्हें ही हम लोकहित कारी राज्य स्वीकार कर सकते हैं।

आधुनिक विश्व में हमें लोक हितकारी राज्य के दो प्रमुख प्रयोग दृष्टि गोचर होते हैं। प्रथम तो लोक हितकारी प्रजातन्त्र और दूसरा लोक हितकारी साम्यतंत्र। वैसे तो दोनों ही प्रयोग जनहित से प्रेरित होकर कार्य करते हैं परन्तु उनमें साधनों का विशिष्ट भेद है। और साधनों के मूलभूत भेद के कारण ये एक-दूसरे के विरोधी मालूम पड़ते हैं। परिस्थित विशेष के कारण सोवियत रूस, जनवादी चीन आदि देशों में जो प्रयोग हो रहा है वह भारत, अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों से भिन्न है। वास्तव में यह किसी देश के इतिहास, परंपराएं एवं परिस्थितियों पर निर्भर है कि वहाँ किस प्रयोग को उचित समझ कर अपनाया जाता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जायेगा कि जहाँ साम्यतन्त्र में केवल आर्थिक और सामाजिक हितों को प्रधानता दी जाती है वहाँ प्रजातन्त्र में इसके साथ साथ राजनैतिक हित साधन भी उतने ही महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। लोक हितकारी प्रजातन्त्र में नागरिकों को विचार, वाणी और संगठन की स्वतन्त्रता मिलने से उनके व्यक्तित्व का अच्छा और अधिक विकास संभव होता है जो लोक हितकारी साम्यतन्त्र में संभव नहीं है। अतः यह बात निश्चय पूर्वक कही जा सकती है कि लोक हितकारी प्रजातंत्र राज्य की व्यवस्था अधिक श्रेष्ठ है।

परन्तु साथ ही हमें यह बात भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी पड़ेगी कि लोक हितकारी राज्य में सर्व प्रथम व्यक्ति के आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये। क्योंकि आर्थिक हित साधन के बिना किसी भी अन्य कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। सही अर्थ में देखा जाय तो राजनैतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की ही सहयोगिनी है और जहाँ आर्थिक हितों की उपेक्षा कर केवल राजनैतिक हितों को ही सम्पूर्ण महत्व दिया जाता है वहाँ सच्चा जनहित असंभव है। अन्य शब्दों में, लोक हितकारी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये तथा आर्थिक असमानता कम-से-कम होनी चाहिये। बेकारी और गरीबी का अन्त होना चाहिये तथा सभी व्यक्तियों को पर्याप्त भोजन, वस्त्र एवं निवास आदि की आवश्यक सुविधा प्राप्त होनी चाहिये।

लोक हितकारी राज्य के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये प्रर्याप्त अवसर और साधन उपलब्ध होने चाहिये जिससे कि वह समाज और राज्य की उन्नति में अपना पूर्ण योगदान दे सके।

अंत में, लोक हितकारी राज्य में सामाजिक सुरक्षा का भी समुचित प्रबन्ध जरूरी है। इस दशा में लोक हितकारी राज्य को चाहिये कि राज्य में सभी प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामाजिक भेदों को समाप्त किया जाय। समाज तथा राज्य में नस्ल, जाति, धर्म वर्ण, रंग अथवा लिंग आदि के सामाजिक असमानता पैदा करने वाले भेद दूर किये जाने चाहिये। इतना ही नहीं राज्य में कानून संबंधी समानता भी समस्त व्यक्तियों को प्राप्त होनी चाहिये तथा कानून के समक्ष किसी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहिये जिससे कि राज्य में कानून का शासन (Rule of Law) पूर्ण रूप से स्थापित हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक हितकारी राज्य में आर्थिक, सामाजिक आदि समस्त प्रकार की सुरक्षा समस्त व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होनी चाहिये ताकि समस्त व्यक्तियों को सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त हो सके तथा साथ ही समाज और राज्य की भी उन्नति हो सके।

अध्याय 6

सम्प्रभुता

(Sovereignty)

(1) प्रस्तावना
(2) आन्तरिक और बाह्य संप्रभुता
(3) संप्रभुता की परिभाषायें
(4) संप्रभुता की विशेषतायें
(5) संप्रभुता के प्रकार
(6) संप्रभुता का विकास
(7) आस्टिन का संप्रभुता सम्बन्धी सिद्धांत एवं आलोचना
(8) बहुलवाद—सिद्धांत और आलोचना

सम्प्रभुता
(Sovereignty)

आधुनिक राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न होते हैं अतः सम्प्रभुता राजनीति शास्त्र का इतना ही नहीं सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य मानवीय संघो से भिन्न होता है। लास्की ने लिखा है, "सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव समुदायों से भिन्न है।"[1] गैटिल के शब्दों में इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि एक राज्य का दूसरे राज्य से, राज्य का अपने नागरिकों से तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होता है, यह तब ही समझा जा सकता है, जब हम राज्य के उस तत्व पर विचार करें जो उसे अन्य समुदायों से पृथक करता है तथा जिसे हम सम्प्रभुता कहते हैं। अतः राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों में सम्प्रभुता का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

सम्प्रभुता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) आन्तरिक सम्प्रभुता (Internal Sovereingnty)

(2) बाह्य सम्प्रभुता (External Sovereignty)

(1) आन्तरिक सम्प्रभुता—आन्तरिक सम्प्रभुता को दो दृष्टिकोणों से आंका जा सकता है। प्रथम, राज्य के क्षेत्र मे निवास करने वाले सभी व्यक्तियों तथा उनके संगठनों पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है। सभी को राज्य की आज्ञा का पालन अनिवार्य रूप से होता है और जो इसका उल्लंघन करता वह दंड का भागी होता है। इस प्रकार सभी व्यक्ति उसके अधीन है। लास्की ने लिखा है, "राज्य का कोई भी आदेश मान्य है।" दूसरा इसका नकारात्मक दृष्टिकोण है अर्थात् अपनी सीमा के अन्तर्गत राज्य अन्य किसी भी शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं है। अतः यह वह उच्चाधिकार शक्ति है जिसके द्वारा राज्य अपना नियंत्रण अपने क्षेत्र पर स्थापित करता है जो पूर्णरूपेण स्वतन्त्र एवं सर्वोपरि होती है। लास्की ने आन्तरिक सम्प्रभुता को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "वह (राज्य) अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सब मनुष्यों तथा मानव समुदायों को आज्ञा प्रदान करती है और उनमें से किसी की भी आज्ञा नहीं मानती। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कानूनी बन्धन नहीं है। किसी विषय में केवल अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से ही उसे वह सब अधिकार मिल जाते हैं जिसे वह प्राप्त करना चाहती है।"[2]

---

1 "It is by possession of sovereignty that the state is distinguished from all other forms of human association." —Laski, A Grammer of politics.

2 "It issues order to all men and men all associations with in that area, it receives order from none of them. Its will is subject to no legal limitations of any kind. What it proposes is right by mere annoucement of intention." —Laski.

गार्नर ने इसकी आन्तरिक व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य में कोई ऐसा व्यक्ति, सभा अथवा समुदाय होता है, जिसे कानून के रूप में सामूहिक इच्छा का निर्माण करने और उसे क्रियान्वित करने की सर्वोच्च शक्ति और आज्ञा देने और उसे पालन करने की अन्तिम शक्ति प्राप्त है।"[1] गेटिल ने और लिखा है, "यदि उचित रूप से देखा जाए, तो सम्प्रभुता का सम्बन्ध राज्य और उसके निवासियों के सम्बन्ध से है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का शब्द न होकर संवैधानिक कानून का शब्द है। यह कानूनी विचार है और इसका सम्बन्ध विधिपरक कानून से है।"[2]

(2) बाह्य सम्प्रभुता—बाह्य सम्प्रभुता से अभिप्राय एक राज्य का अन्य राज्यों के हस्तक्षेप से मुक्त होना है। सम्प्रभुता सम्पन्न एक राज्य किसी भी अन्य राज्य के नियन्त्रण में नहीं होता है। वह अपनी नीति स्वयं निर्धारित करता है। गेटिल ने बाह्य सम्प्रभुता को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जिसे हम बाह्य सम्प्रभुता कहते हैं वह वस्तुतः अधिकारों का वह पूर्णता है जिसके द्वारा विदेशी राज्यों से व्यवहार के विषय में आन्तरिक सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति होती है।"[3] इससे स्पष्ट है कि बाह्य सम्प्रभुता अन्य राज्यों के साथ किये जाने वाले व्यवहारों की अभिव्यक्ति मात्र है।

विदेशी सम्बन्धों का संचालन अर्थात युद्ध, शांति और तटस्थता के सम्बन्ध में वह स्वयं अपनी इच्छानुसार कार्य करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह किसी भी प्रकार की संधि की शर्तें मानने या अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करने को बाध्य नहीं है। अंतर्निर्भरता के आधुनिक युग में किसी राज्य के लिए पूर्ण स्वतन्त्र जीवन को बनाये रखना कदापि सम्भव नहीं है। अतः राज्यों को अपनी सार्वभौमिकता पर नियंत्रण लगाकर परस्पर संधि समझौते करने अनिवार्य होते हैं। सम्प्रभुता पर स्वयं के द्वारा स्वीकार की गई ये सीमाएं किसी अन्य शक्ति का आदेश या दबाव नहीं है और इससे सम्प्रभुता में किसी प्रकार की कमी भी नहीं आती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का यह पालन कानूनन स्वेच्छापूर्वक ही है। लास्की ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, "आधुनिक राज्य सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य होता है। अतः वह अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वतन्त्र होता है। वह अपनी इच्छा को उसके विषय में इस प्रकार व्यक्त कर सकता है कि उस पर किसी बाह्य-शक्ति का

---

1. "In every fully independent state there is some person assembly or group who or which has the supreme power of formulatiing in terms of law and of executing the collective will and is the final power to command and empore obedience to its authority." —Garner : Political Science and Government p. 156.

2. "Sovereignty properly speaking deals with the internal relations of a state to its in Rabitanks. It is a term of constitutional law rather than of internatioual law. It is legal concept and deals with positive law only." —Gettle : Political Science p. 123.

3. "What is called external sovereignty is in reality the totality of right by which internal sovereignty manifests itself in its dealings with foreign state." —Gettell Political Science p. 123.

कोई प्रभाव पड़ने की आवश्यकता नहीं होती।"[1]

सम्प्रभुता की परिभाषायें—विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रभुता शब्द की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। उनमें से कुछ मुख्य परिभाषाएं निम्न हैं—

बोदां—"सम्प्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों पर वह सर्वोपरि शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं है।"[2]

ग्रोशियस—"सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति उसमें निहित होती है जिसके कार्य किसी अन्य शक्ति के अधीन नहीं होते और जिसकी इच्छा पर अन्य किसी का अंकुश नहीं होता।"[3]

ड्यूगी—"संप्रभुता राज्य की आदेश प्रदान करने वाली शक्ति है, यह राज्य में संगठित राष्ट्र की इच्छा है, यह राज्य और प्रदेश के सब व्यक्तियों को बिना किसी शर्त के आदेश देने का अधिकार है।"[4]

बर्गेस—सब व्यक्तियों और व्यक्तियों के संघों पर मौलिक, स्वेच्छाचारी और अमर्यादित शक्ति का नाम सम्प्रभुता है।"[5]

लास्की—"राज्य की सम्प्रभुता नियमतः प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय से उच्चतर है। राजा सभी को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।"[6]

जेंक्स—सम्प्रभुता वह अन्तिम और अमर्यादित अधिकार है जिसकी इच्छा से ही नागरिक कुछ कर सकते हैं।"[7]

विलोबी—"सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है।"[8]

सर फ्रेडरिक पोलक—"सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी होती है और न किसी ऐसे नियमों के अन्तर्गत आती है जिन्हें वह स्वयं बदल न सके।"[9]

---

1. "The modern state is a sovereign state. It is therefore independent in the face of another communities. It may infuse its will towards them with a substance which *need not be affected by the will of any external power.*" —Laski.
2. "Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by law." —Bodin.
3. "Sovereignty is the supreme political power vested in him whose acts are not subject to any other authority and whose will can not be over ridden." —Hugo Grotius.
4. "Sovereignty is the commanding power of the state. It is the will of nation organised in the state; it is right to give uncoditional orders to all individuals in the territory of the state." —Duguit.
5. "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over individual subjects and associations of subject." —Burgess.
6. "The sovereign is legally supreme over any individual or group. He possesses supreme coercive power." —Laski.
7. "Sovereignty is an authority, which in the last resort controls absolutely and beyond appeal the actions of every individual member of community." —Jenks.
8. "Sovereignty is the supreme with state." —Willoughly.
9. Sovereignty is that power which is neither temparary nor delegated, nor subject to particular rules, which it can not alter nor answerable to any other power on earth." —Sir Fredrick Pollock.

जैलिनेक—"सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।"[1]

आस्टिन—"यदि किसी राजनीतिक संगठन में कोई ऐसा निश्चित सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हो जो किसी अन्य के ऊपरी की आज्ञाओं का पालन नहीं करता हो और सारा संगठित समाज जिसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करता हो तो वह व्यक्ति संप्रभु है और उस व्यक्ति सहित वह संगठित समाज एक स्वतन्त्र राज्य कहलाता है।"[2]

सम्प्रभुता शब्द का अर्थ और उसका विकास

सम्प्रभुता के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान एक मत नहीं हैं। सभी विद्वानों ने इसका अर्थ अपने अपने ढंग से लिया है। विलोबी इस बात से प्रेरित होकर लिखता है कि राजनीति-शास्त्र में अन्य कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके विषय में विचारकों में इतनी अधिक मत विभिन्नता हो जिस प्रकार अर्थ शास्त्र का अर्थ शब्द विवादग्रस्त है उसी प्रकार राजनीति शास्त्र का सम्प्रभुता शब्द भी विवादग्रस्त है।

सम्प्रभुता का अंग्रेजी पर्यायवाची सॉवरेंटी (Sovereignty), लेटिन शब्द सुपरेनस (Superanus) से लिया गया है जिसका अर्थ Super अर्थात Supreme और anus अर्थात् Power यानि Supreme Power अर्थात सर्वोच्च शक्ति है। भाषा की दृष्टि से सर्वोच्च शक्ति से अभिप्रायः उस शक्ति से है जिस पर किसी अन्य शक्ति का नियंत्रण न हो अर्थात् जो अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मानव समुदाय की अपनी एक सामूहिक इच्छा है जो कानून के द्वारा प्रकट होती है और वे कानून राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं। इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य की सामूहिक इच्छा शक्ति का दूसरा नाम है जिसके कारण राज्य आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

पारिभाषिक शब्दावलि के रूप में सर्व प्रथम इस शब्द का प्रयोग फ्रांसिसी लेखक बोदाँ ने 1576 में किया था। वैसे तो अरस्तू ने भी इस शब्द का प्रयोग सर्वोच्च सत्ता या शक्ति के रूप में किया था परंतु आधुनिक अर्थ में इसका प्रयोग 16वीं सदी की ही उपज है। 16वीं सदी में सम्प्रभुता का अर्थ राजा की सत्ता से था जो अविभाज्य, असीमित और अनियंत्रित समझी जाती थी, परंतु साथ ही वह ईश्वरीय इच्छा और प्राकृतिक नियम से निम्न समझी जाती थी मध्य युग के विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग 'शक्ति की पूर्णता' के अर्थ में किया है। फिर भी उस समय सामन्तवाद का युग था। जिसमें केन्द्रीकृत सत्ता का अभाव था। उस समय धर्म या गिरजाघर की सत्ता अंतिम मानी जाती थी। वाईं ने लिखा है,

1. "It is that characteristic of the state by virtue of which the state can not be legally bound except by its own will or limited by any other power than itself." —Jellinek.

2. "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is sovereignty in that society and the society including the superior is a society political and Independent." —Austin.

"सामन्तवादी अवस्था में सामन्ती राज्य की शक्ति और सर्व साधारण का ईश्वर में या प्रकृति में विश्वास ऐसी अलंध्य रुकावटें थी जिनके कारण राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता न तो सभी नागरिकों पर थी और न स्वयं सम्प्रभुता पूर्ण अथवा अविभाज्य थी।"

16 वीं शताब्दी के धार्मिक युद्धों से चर्च की सत्ता को ठेस पहुँची जिससे आधुनिक राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ। इस प्रकार 17 वी शताब्दी में इसे धर्म के ऊपर माना जाने लगा। 18 वीं शताब्दी में इसे विभाज्य माना जाने लगा। 19 वीं शताब्दी में इसकी विभाज्यता और अविभाज्यता को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और 20 वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीयता के कारण इसे सीमित माना जाने लगा।

सम्प्रभुता की विशेषताएं

सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

1. निरकुंशता (Absoluteness)
2. सार्वभौमिकता (Universally)
3. अविच्छेद्यता (Inalienability)
4. स्थायित्व (Permanence)
5. अविभाज्यता (Indivisibility)

1. निरकुंशता—निरकुंशता सम्प्रभुता की प्रथम विशेषता है। इसका अभिप्राय परमपूर्णता और असीमितता से है। इसे कानून या किसी शक्ति द्वारा सीमित नही किया जा सकता है। इसके दो स्वरूप हो सकते हैं-प्रथम आंतरिक दृष्टि से और दूसरा बाह्य दृष्टि से। आन्तरिक दृष्टि से राज्य के अंतर्गत जितने भी व्यक्ति या मानवीय समुदाय रहते हैं उन पर सम्प्रभुता का पूर्ण आधिपत्य है। राज्य बाह्य शक्तियों की दृष्टि से भी पूर्ण स्वतंत्र होता है। सम्प्रभुता पूर्ण राज्य आन्तरिक और बाह्य दोनों ही दृष्टि से पूर्ण स्वतंत्र होता है।

परंतु कुछ विद्वानों की दृष्टि से यह सिद्धांत उचित नही है क्योंकि व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह खरा नहीं उतरता है। प्रकृति के नियम, धार्मिक सिद्धांत, सदाचार के नियम, न्याय के शाश्वत सिद्धांत, रीति रिवाज, परम्परा, अन्तर्राष्ट्रीय नियम आदि अनेक रुकावटें हैं जो इसे मर्यादित करते हैं। बोदाँ ने प्राकृतिक नियम, उत्तराधिकार का नियम तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार आदि को सम्प्रभुता पर मर्यादाएं स्वीकार की है। ब्लुंशली ने भी सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध स्वीकार करते हुए लिखा है, "संसार में पूर्ण स्वतन्त्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है, यहां तक कि राज्य भी सर्व शक्तिमान नहीं है, क्योंकि बाह्य रूप से यह दूसरे राज्यों के अधिकारों से सीमीत है और अन्दर से वह स्वयं स्वभाव और अपने सदस्यों के अधिकारों द्वारा मर्यादित है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है, "यद्यपि कुछ लेखकों ने सम्प्रभु को एक ऐसी अनियंत्रित सत्ता मानी है जिसकी एकांत इच्छा ही समस्त प्रजा पर प्रभाव रखती है तो भी वास्तव में संसार भर में ऐसा कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कभी नहीं हुआ या रहा जिसने इस प्रकार की अनियंत्रित एवं असीमित सत्ता का

प्रयोग किया हो और जो किसी बाह्य सत्ता के भय से मुक्त रहा हो अथवा जिसने अपनी इच्छा-तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का ध्यान न रखा हो।" इस प्रकार अमर्यादित सत्ता नाम की कोई वस्तु नहीं है।

तकनीकी दृष्टि से यह उचित नहीं है क्योंकि सम्प्रभुता पर कानूनी रूप से कोई मर्यादा नहीं है। प्राकृतिक नियम, धार्मिक सिद्धांत, सदाचार के नियम, न्याय के शाश्वत सिद्धांत, रीति-रिवाज, परम्परा, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि प्रतिबन्धों का कोई वैधिक महत्व नहीं है। ये किसी अन्य शक्ति द्वारा राज्य पर थोपी नहीं जाती है बल्कि उसके द्वारा स्वेच्छा से अपनाई जाती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक या व्यावहारिक बन्धन भले ही हो पर कानूनी बन्धन नहीं होता है।

2. सार्वभौमिकता—सम्प्रभुता सर्वव्यापक होती है। राज्य क्षेत्र में बसने वाले चाहे मानव हो चाहे मानव संघ या संस्थाएं हों, सभी सम्प्रभुत्व शक्ति से नियंत्रित रहते हैं। किसी ने ठीक लिखा है, "राज्य के अधिकार क्षेत्र के साथ अपने कार्य में व्यापक है और राज्य के प्रदेश में सब व्यक्तियों और वस्तुओं को अपने क्षेत्र के अन्तर्गत ग्रहण करती है। आधुनिक राज्य अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत किसी अन्य राज्य की विद्यमानता को स्वीकार नहीं करता है।" इस प्रकार राज्य का उसके अन्तर्गत बसने वाले व्यक्तियों और वस्तुओं पर सर्वोच्च अधिकार होता है। कोई भी इससे परे नहीं हो सकता न किसी को इससे छुटकारा मिल सकता है। फ्रीमेसन्स जैसी विश्वव्यापी संस्था भी राज्य की सम्प्रभुत्व शक्ति से परे या श्रेष्ठ नहीं हो सकती है। परन्तु इस बात का अपवाद बतलाते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि 'किसी भी देश में दूतावास उस देश की सम्पत्ति है जिस देश का वे प्रतिनिधित्व करते हैं या जिस देश के होते है तथा दूतावास के सदस्य अपने ही देश की विधियों के अधीन बने रहते हैं।"परन्तु वास्तव में यह अपवाद अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता की बात है और इसे सम्प्रभुता से वास्तविक मुक्ति नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यदि कोई राज्य चाहे तो अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग करते हुए इस प्रकार दिये गये विशेषाधिकारों और सुविधाओं को वापस ले सकता है।

3. अविच्छेद्यता — सम्प्रभुता में इस गुण के विद्यमान रहने पर ही इसका अस्तित्व रह सकता है अन्यथा सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है। गार्नर ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है, "अविच्छेद्यता से तात्पर्य सार्वभौमिकता के उस गुण से है जिसके कारण वह अपने किसी भी सारभूत तत्व को, स्वयं नष्ट हुये बिना अलग नहीं कर सकती है।" गार्नर ने आगे लिखा है, "सम्प्रभुता का विच्छेदन अथवा हस्तान्तरण संभव नहीं क्योंकि वह राज्य के व्यक्तित्व का सार है और उसके हस्तान्तरण के साथ व्यक्तित्व का विनाश हो जायेगा। सम्प्रभुत्व राज्य की सर्वोच्च सत्ता है, उसके जीवन का अमर तत्व है और राज्य से उसका अलग होना उसकी आत्म हत्या के समान है।"[1] लाइबर ने लिखा है, "जैसे एक वृक्ष अपने उगने और पनपने के अधिकारों को नहीं छोड़ सकता अथवा एक

1 "Sovereignty is the supreme power of the state, it is the vital element of its being and to alienate it would be tantamount to the commiting suicide" —Garner

व्यक्ति बिना अपना विनाश किए अपने जीवन और व्यक्तित्व को अपने से अलग नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार राज्य से सम्प्रभुता को अलग नहीं किया जा सकता।"[1] रूसो ने भी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि शक्ति का हस्तान्तरण हो सकता है पर इच्छा का नहीं।"

परन्तु कुछ विद्वानों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है। रिची (Ritchie) ने लिखा है कि इतिहास से सम्प्रभुता की अपरित्याज्यता सिद्ध नहीं होती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें राज्य ने अपने प्रदेश के साथ साथ सम्प्रभुता भी हस्तान्तरित कर दी। परन्तु यह कथन उचित नहीं है। भारत भूमि का दो भागों में विभाजन अर्थात् भारत और पाकिस्तान बनने से भारत की सम्प्रभुता किसी प्रकार से समाप्त नहीं हुई है, नहीं पृथक होती है अपितु हस्तांतरित होती है। राज्य के एक क्षेत्र के दूसरे में मिलने, सीमाओं में परिवर्तन होने अथवा उसके खंडों मे विभक्त होने से सम्प्रभुत्व-शक्ति राज्य से विलग नहीं हो जाती है अपितु उसके प्रयोग कर्ता में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार सम्प्रभुता में अविच्छेद्यता का गुण विद्यमान रहता है।

4. स्थायित्व हाब्स का मत है कि राजा की मृत्यु के साथ ही साथ राज्य भी समाप्त हो जाता है परन्तु यह मत ठीक नहीं है राजा या राष्ट्रपति की मृत्यु या पदत्याग से राज्य का अन्त नहीं होता है। केवल सत्ताधारी में परिवर्तन हो जाता है। उसी प्रकार सम्प्रभुता भी निर्बाध बनी रहती है। किसी ने ठीक लिखा है, "यह केवल शासन मे व्यक्तियों का परिवर्तन होता है। इससे राज्य के अटूट अस्तित्व में कुछ भी रूकावट नहीं आती।"[2] गार्नर ने लिखा है, "स्थायित्व से आशय यह है कि जब तक राज्य कायम रहता है तब तक सम्प्रभुता कायम रहती है। सत्ताधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालिक पदच्युति तथा राज्य के पुनः संगठन के कारण सम्प्रभुता का नाश नहीं होता है, वह उसी क्षण नये सत्ताधारी के हाथों पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भौतिक पदार्थ में बाह्य परिवर्तन होने पर गुरुत्वाकर्षण केन्द्र एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान को चला जाता है।"[3]

(5) अविभाज्यता—सम्प्रभुता अविभाज्य होती है अर्थात् सम्प्रभुत्व शक्ति का विभाजन करके एक के स्थान पर अनेक सत्ताधारियों द्वारा उसका प्रयोग करना चाहें तो यह असम्भव होगा। जैलिनेक ने लिखा है, "विभाजित, खंडित, कम की हुई, सीमित, सापेक्ष सम्प्रभुता का भाव सम्प्रभुता का विनाश है।" एक अन्य विद्वान ने भी लिखा है, "सम्प्रभुता एक सम्पूर्ण वस्तु है, इसके टुकड़े करना, इसे नष्ट करना है। यह राज्य में सर्वोच्च शक्ति है। जैसे हम आधे त्रिभुज का विचार नहीं कर सकते, वैसे विभाजित सम्प्रभुता की कल्पना भी व्यर्थ है।[4] जिस प्रकार शरीर को प्राण वायु, सूर्य के प्रकाश और पानी

---

1. "Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to sprout or a man can transfer his life and personality without self destruction." —Lieber
2. "It is only a personal change in the government not a break in the continuity of state"
3. Garner : Introduction to Political Science p. 173
4. As quoted in Garner : Introduction to Political Science P. 173.

तरलता में विभाजन नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता में विभाजन नहीं किया जा सकता है। गेटेल ने लिखा है, "यदि सम्प्रभुता परिपूर्ण नहीं है तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व नहीं है यदि सम्प्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।"[1] इसी प्रकार गार्नर ने लिखा है, "सम्प्रभुता की एक विशेषता है, उसकी एकता। यह राज्य में सर्वोच्च इच्छा अथवा सत्ता है। उसका विभाजन अनेक इच्छाओं को जन्म दिये बिना नहीं किया जा सकता और यह सम्प्रभुता की भावना के विपरीत होगा।" ट्रीटके ने लिखा है कि एक ऐसा राज्य असम्भव है जिसमें सम्प्रभुता विभाजित हो; सिसरो जैसे राजनीतिज्ञ ही ऐसी सारग्राही मूर्खता का खेल कर सकते हैं।

परन्तु संघवादियों (Federalists) तथा बहुलवादियों (Pluralists) का मत इसके विपरीत है। वे सम्प्रभुता को विभाज्य मानते हैं। संघवादियों के अनुसार संघ-राज्य संघ तथा इकाइयों के बीच सम्प्रभुता विभाजित रहती है। ह्यूं ने लिखा है, "इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जिन राजनीतिज्ञों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन विधान की रचना की वे राज्य की इस बात को भलि-भाँति समझते थे कि राजनीतिक प्रभुत्व, अपने विस्तार तथा सत्ता की दृष्टि से, विभाजन के योग्य है।" फ्रीमैन ने लिखा है, "संघीय आदर्श की पूर्णता के लिए प्रभुत्व का पूर्ण विभाजन परम आवश्यक है।" लावेल ने लिखा है, "एक ही भू-प्रदेश में ऐसे दो सम्प्रभुओं का अस्तित्व सम्भव है जो एक ही प्रजावर्ग को विभिन्न मामलों में अपने-अपने आदेश देते हों।"[1] लार्ड ब्राइस लिखता है, "वैधिक सम्प्रभुता दो समान सम-शक्तियों में अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित दो बराबर को शक्तियों में विभाजित की जा सकती है।" डा. आशीर्वादम् ने इस विचारधारा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन लेखकों के मस्तिष्क में संयुक्त राज्य अमेरिका का वह मामला है जिसमें वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने यह फैसला दिया था कि जहाँ तक उन अधिकारों और शक्तियों का सम्बन्ध है जो राष्ट्रीय सरकार के अधिकार क्षेत्र में रखी गई है। वहाँ तक संयुक्त राज्य को सम्प्रभुता प्राप्त है और जो अधिकार और शक्तियाँ राज्यों के लिए सुरक्षित की गई है उनके सम्बन्ध में राज्यों को सम्प्रभुता प्राप्त है।

बहुलवादी (Pluralism) विभाजित सम्प्रभुता का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार राज्य भी अन्य सामाजिक संस्थाओं की संस्था है और समाज के हितार्थ कार्य करता है अतः सम्प्रभुता शक्ति का विभाजन अन्य संस्थाओं में भी होना आवश्यक है।

सम्प्रभुता के प्रकार
(Kinds of Sovereignty)

सम्प्रभुता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्यता नहीं है। इस सम्बन्ध में मतभेद

1. "If sovereignty is not absolute, no state exists, if sovereignty is divided more than one state exists." —Gettell.

का कारण सम्प्रभुता की प्रकृति और उसका केन्द्र बिन्दु हैं। इसी कारण सम्प्रभुता का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकारों से होता है। ये प्रकार सम्प्रभुता के विभेद नहीं हैं बल्कि उसके भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसके मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार हैं।

(1) नाम मात्र या ध्वज की सम्प्रभुता (Titular Sovereignty)—17 वीं शताब्दी के पूर्व राजा या राष्ट्रराज्य के अध्यक्ष निरंकुश एवं परमपूर्ण सम्प्रभु होते थे परन्तु समय के साथ-साथ जनता में जागृति आई। परिणामस्वरूप दोनों में संघर्ष हुआ और अन्त में विजय जनता की हुई। वास्तविक शक्ति जनता के प्रतिनिधियों में निहित हो गई और राजा नाम मात्र का राज्याध्यक्ष रह गया। उसमें केवल नाम मात्र की शक्ति रह गई। एक ओर वह शक्ति का केवल प्रतीक मात्र रह गया। इस प्रकार नाम मात्र की सम्प्रभुता का विकास संवैधानिक शासन (Constitutional government) के विकास से जुड़ा हुआ है अर्थात् संवैधानिक शासन के विकास के साथ-साथ नाम मात्र के सम्प्रभु का भी विकास हो गया। संविधान की सारी शक्तियां सिद्धांतः राजा या राज्याध्यक्ष उपभोग करते हैं किन्तु व्यवहार में उसका उपभोग जनता के प्रतिनिधि करते हैं। इस प्रकार राज्य का प्रधान नाम मात्र का प्रधान होता है। उदाहरणस्वरूप इंगलैंड का राजा आज भी वहां का सर्वोच्च, स्वामी, राजा (Sovereign, Lord, The king) है। वैध रूप में उसकी शक्तियां सर्वोपरि है वह 'समस्त शक्तियों का स्रोत' है। परन्तु वास्तविक शक्ति राजा द्वारा नियुक्त किये गए मंत्रियों में निहित है। शासन के कार्यों का सम्पादन मंत्रियों द्वारा होता है परन्तु राजा के नाम पर। कहने का अभिप्राय है कि राजा को प्राचीन काल में सम्प्रभु शक्ति का सिद्धांत और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से अबाधित रूप से प्रयोग करने का अधिकार था उसका सैद्धांतिक स्वरूप राजा के पास रह गया और व्यावहारिक रूप जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में चला गया जो आज भी शासन के समस्त कार्य राजा के ही नाम पर करते हैं। भारत का राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपाल भी इसी प्रकार नाम मात्र के सम्प्रभु कहे जा सकते हैं। यद्यपि भारतीय संविधान में इस प्रकार के सिद्धांत की कोई मान्यता नहीं है।

(2) वैध या कानूनी सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)

सम्प्रभुता के स्वरूप को कानूनी दृष्टि से भी देखा जाता है। डायसी ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है, "वैध-सम्प्रभुता कानून बनाने वाली वह शक्ति है जो अन्य किसी भी कानून या विधि से मर्यादित नहीं होती।" गार्नर ने भी लिखा है, "वैध-सम्प्रभुता वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशों को वैध रूप में व्यक्त कर सके। यह वह सत्ता है जो सिद्धान्ततः दैवी कानून, नैतिक सिद्धान्तों तथा जनमत की भी उपेक्षा कर सकती है।"

ब्रिटेन के संसद सहित सम्राट (King in Parliament) को ऐसी सम्प्रभुता के उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। वैधिक सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएं हैं:—

(i) यह सदैव स्थिर और निश्चयात्मक होती है।

(ii) यह किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह में निहित रहती है।

(iii) यह स्थिर रूप में संगठित, स्पष्ट और कानून द्वारा मान्य होती है।

(iv) केवल यही शक्ति वैध रूप से राज्य की घोषणा करती है।

(v) इसकी आज्ञाओं की अवज्ञा का तात्पर्य है शारीरिक दंड।

(vi) सभी अधिकारों की उत्पत्ति इसी से होती है और यही उन्हें समाप्त कर सकती है।

(vii) यह परमपूर्ण, असीम और सर्वोच्च है।

राजा सहित ब्रिटिश संसद की कानून बनाने की शक्ति असीमित है। डीके ने उसकी असीमित शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है, "ब्रिटिश संसद (राजा सहित) केवल उन्हीं कार्यों को छोड़ देती है जो प्रकृति द्वारा असम्भव है वरना सम्पूर्ण कार्य इसकी कानूनी सर्वोच्चता के अधीन है। यह केवल मर्द को औरत और औरत को मर्द नहीं बना सकती शेष सभी काम कर सकती है।" इसी प्रकार डायसी ने लिखा है, "ब्रिटिश संसद इतनी सर्व शक्ति सम्पन्न है कि वह शिशु को वयस्क बना सकती है, मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराध-भागी बना सकती है, किसी अवैध (Illegitimate) शिशु को वैध (Legitimate) ठहरा सकती है अथवा उचित समझे तो किसी व्यक्ति को स्वयं उसी मुकदमे में न्यायधीश नियुक्त कर सकती है।"

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कानूनी सम्प्रभुता दैवी नियम, नैतिकता, जनमत आदि सभी को ठुकरा सकती है। इसीलिए इसे वकीलों का दृष्टिकोण कहा जाता है। रिची ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "वैध सम्प्रभु वकीलों का सम्प्रभु है और वह ऐसे वकील सम्प्रभु है जिसके परे वकील और न्यायालय देखने से इन्कार कर देते हैं।" परन्तु यह केवल सैद्धांतिक सत्य है वास्तविकता इससे परे है क्योंकि कानूनी सार्वभौमिकता से भी परे एक अन्य शक्ति है जो चाहे राज्य की इच्छा को वैध रूप में व्यक्त करने के अयोग्य हो परन्तु उसके आगे वैध शक्ति को भी झुकना पड़ता है और वह शक्ति है राजनैतिक सम्प्रभुता।

(3) राजनीतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty) – कानूनी सम्प्रभु के पीछे एक शक्ति और भी होती है जिसके आगे इसे झुकना पड़ता है। यह सम्प्रभु राजनीतिक सम्प्रभु है। डायसी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जिस सम्प्रभु को न्यायालय और वकील मानते हैं उसके पीछे दूसरा सम्प्रभु रहता है जिसके सामने वैधिक सम्प्रभु को भी सिर झुकाना होता है। वही 'शक्ति राजनीतिक सम्प्रभु है जिसकी इच्छा को अन्तिम रूप में राज्य के नागरिक मानते है।"[1] गार्नर ने लिखा है, "वैध सम्प्रभुता के पीछे एक दूसरी सत्ता भी है जो वैध रूप में अज्ञात एवं असंगठित है और जिसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वह राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप में व्यक्त कर सके, परन्तु फिर भी जो ऐसी सत्ता है जिसके समक्ष वैध सम्प्रभुता को नतमस्तक होना पड़ता है वह राजनीतिक सम्प्रभुता है।"

1. "Behind the sovereign which the lawyer recognises, there is another sovereign to whom the legal sovereign must bow." —Dicey.

अब प्रश्न यह उठता है कि इसका स्वरूप, निवास आदि कहाँ हैं। वास्तव में यह अन्य स्वरूपों की भाँति स्पष्ट नहीं है बल्कि कानूनी संप्रभुता के विपरीत यह सम्प्रभुता अनिर्दिष्ट और अस्पष्ट है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में तो वैधिक और राजनीतिक सम्प्रभुता लगभग एक ही होती है परन्तु अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में स्थिति भिन्न होती है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "राजनीतिक सम्प्रभुता को राज्य की उन प्रभावशाली शक्तियों का समूह माना गया है जो कानून के पीछे रहते हैं।"[1] यह समूह जनमत निर्वाचक मंडल या मतदाताओं का समूह है। राजनीतिक दलों, समाचार पत्रों, सभाओं, आंदोलनों आदि से प्रभावित निर्वाचक मंडल ही कानूनी सम्प्रभुता अथवा संसद का चुनाव करते हैं। परन्तु वास्तव में यह कथन भी सत्य से परे है क्योंकि निर्वाचकों के पास निर्वाचन करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है। कई बार देखा जाता है कि निर्वाचित व्यक्ति चुनाव के बाद स्वेच्छाचारी बन जाते हैं तथा अपनी मनमानी करते हैं। भारत की वर्तमान राजनीति में तो जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये अपना दल बदल लेते हैं और उस स्थिति में उसके निर्वाचक मंडल में उसे हटाने का कोई अधिकार नहीं है। अतः व्यवहार में निर्वाचक मंडल के राजनीतिक संप्रभु के हाथ में अधिक महत्वपूर्ण अधिकार नहीं है। तथापि जनमत की शक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण करने वाली शक्ति पर सदैव पड़ता रहता है।

सार्वजनिक सम्प्रभुता (Popular Sovereignty)

सार्वजनिक सम्प्रभुता का अर्थ है अन्तिम रूप में राजनीतिक सत्ता जनता के हाथों में रहती है। इसका समर्थन मध्य युग में राजा की सत्ता के विरोध स्वरूप किया गया था। 18 वीं शताब्दी में रूसो ने इसकी आवाज बुलंद की। इसी सिद्धान्त ने फ्रांस के राजा लुई सोलहवें के विरुद्ध क्रांति उत्पन्न की। इसका प्रभाव अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम पर भी पड़ा। घोषणा की गई कि शासन का उचित आधार जनता की सहमति है। तब से सार्वजनिक सम्प्रभुता, ब्राईस के अनुसार, लोकतंत्र का आधार और पर्याय बन गई है। रिची ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि कोई भी सरकार जनता की इच्छा रहने पर ही सत्तारूढ़ होती है, जनता उसकी आज्ञा का पालन स्वेच्छा से करती है। आधुनिक युग में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था इसी सार्वजनिक सम्प्रभुता पर आधारित है। गार्नर ने भी इसे 'सच्चे लोकतंत्र का सार' माना है।

यद्यपि यह सिद्धांत सिद्धान्ततः उपयुक्त लगता है परंतु व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो यह सिद्धांत अनिश्चित सा लगता है। गार्नर के अनुसार जनता के दो अर्थ होते हैं, (i) राज्य के अन्तर्गत आने वाला समस्त जन समूह जिसमें बच्चे, बूढ़े, वयस्क, स्त्रियां आदि सभी आते हैं, (ii) निर्वाचक मंडल, जनता का वह भाग जिसमें वयस्क मताधिकार प्राप्त व्यक्ति आते हैं।

तब फिर सार्वजनिक प्रभुत्व का प्रश्न उठता है कि आखिर सार्वजनिक प्रभुत्व क्या है? इस दृष्टि से गार्नर का मत उपयुक्त लगता है जैसा कि उसने लिखा है, लोगों की

1. "Political sovereign is the sum total of influences in a state which lie behind the law." —Gilchrist.

प्रभुता का अर्थ निर्वाचित समूह की बहु संख्या की शक्ति से अधिक कुछ नहीं होता और यह उन्हीं देशों में संभव है जिनमें लगभग व्यापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित है जो वैध रूप में स्थापित मार्गों के द्वारा उनकी इच्छा को व्यक्त और प्रसारित करने के लिए क्रियान्वित होती है।"

यह विचार पूर्ण नहीं है क्योंकि प्रथम तो सम्पूर्ण जनसंख्या के थोड़े से अंश को यह अधिकार प्राप्त रहता है। दूसरा वे भी राजनीतिक दलों से नियंत्रित होते हैं। स्वतन्त्र मत रखने वाले तो बहुत कम होते हैं। अतःवास्तविकता तो यह है कि इसका अन्तिम स्त्रोत जनता ही है। यदि सरकार अधिक समय तक जनता की इच्छा की अवहेलना करती है तो क्रांति का रूप ग्रहण कर लेती है।

(5) वैधानिक और वास्तविक सम्प्रभुता (De Jure and Defacto Sovereignty)—वैधानिक और वास्तविक सम्प्रभु का अन्तर विधि और तथ्य का अन्तर है। वैधानिक सम्प्रभुता का आधार कानून है। परन्तु कभी कभी व्यवहार में इसका उपयोग दूसरा ही करता है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह जो सब या सबकी इच्छा को प्रसारित कर सकता है भले ही वह कानून के अनुसार हो या कानून विरुद्ध हो, वह अथवा वे यथार्थ शासक हैं। संक्षेप में, वे वस्तुतः शासक या प्रभु सत्ता हैं जिनका वस्तुतः आज्ञा पालन किया जाता है।

प्रभुसत्ता का निवास स्थान
(Location of Sovereignty)

संप्रभुता का निवास कहाँ है इस सम्बन्ध में निम्न तीन प्रकार के मत व्यक्त किये गये हैं।

1. राज्य की जनता में,
2. संविधान निर्मात्री सभा में, और
3. विधि निर्मात्री सभा में।

आगे हम प्रत्येक को संक्षेप में स्पष्ट कर रहे हैं:—

1. लोकतंत्र के प्रबल समर्थकों का विचार है कि संप्रभुता जनता में निवास करती है। परन्तु जनता के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं हैं कुछ विद्वान इसके अन्तर्गत बच्चे, बूढ़े, औरतें आदि सब को लेते हैं जब कि कुछ इसके अन्तर्गत मतदाताओं को लेते हैं।

2. संविधान और कानून की दृष्टि से विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ कार्य कर रही हैं जिनमें संविधान के निर्माण एवं संशोधन का अधिकार विभिन्न संस्थाओं को प्राप्त है।

(i) ग्रेट ब्रिटेन—वहाँ संविधान अलिखित है वहाँ संवैधानिक कानून और साधारण कानून में कोई अंतर नहीं है। राजा सहित संसद वहाँ की कानूनी सम्प्रभु है।

(ii) [illegible]—वहाँ संविधान लिखित है। इसमें संसद के दोनों सदनों द्वारा संशोधन किया जाता है। अतः संसद के दोनों सदनों में कानूनी सम्प्रभुता निवास करती है।

(iii) स्विट् जरलैंड—यहाँ पर दोनों सदनों के प्रतिरिक्त जनता में कानूनी सम्प्रभुता निवास करती है क्योंकि संविधान संशोधन के प्रत्येक विधेयक पर जनता की बहुमत में स्वीकृति अनिवार्य है।

(iv) संयुक्त राज्य अमेरिका—यहाँ पर संघात्मक शासन प्रणाली है जिसमें केन्द्र और राज्यों की प्रथक दो प्रकार की सरकारें कार्य करती है और अपने अपने क्षेत्र में सम्प्रभु हैं। चिसहाम बनाम जार्जिया के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को स्पष्ट किया कि "राज्यों द्वारा सरकार को जो शक्तियां अर्पित की गई हैं, उस रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका प्रभु है परन्तु संघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य अपनी सुरक्षित शक्तियों के रूप में प्रभु है।" इस प्रकार इस मान्यता के अनुसार सम्प्रभुता विभाज्य है जबकि सम्प्रभुता के सम्बन्ध में सिद्धांत: यह विचार धारा गलत है। कैल्हून ने इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि जो लोग संघ राज्य मे सम्प्रभुता का विभाजन करते हैं, वे राज्य तथा सरकार को एक मानने की गलती करते हैं। वास्तव ये संघ राज्य में राज्य की सम्प्रभुता को नहीं बल्कि सरकार के अधिकारों को दोनों राज्यों के बीच विभाजित किया जाता है। इस प्रकार कानूनी सम्प्रभुता संविधान बनाने तथा उसमें परिवर्तन करने वाली संस्था में निवास करती है। परन्तु इसमें कुछ कठिनाइयां है। प्रथम संशोधनकारी सत्ता सुप्तावस्था में रहती है। दूसरा प्राय: वह सत्तारूढ़ सरकार के इशारे पर कार्य करती है। अत.लास्की के शब्दों में "संघ राज्य में सम्प्रभुता का केन्द्र बिन्दु या निश्चित स्थान पाना एक असम्भव सा कार्य है।

3. सम्प्रभुता कानून बनाने वाली संस्थाओं उदाहरणार्थ विधान मंडल, कार्य पालिका संसदीय अधिवेशन, निर्वाचक मंडल आदि मे निवास करती है। जो समय समय पर विधि निर्माण में अपने अधिकार का उपयोग करते हैं।

ऑस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

आस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धान्त बेंथम के विचारों पर आधारित है। बेंथम के अनुसार एक राजनैतिक समाज या राज्य वही होगा जहाँ एक व्यक्ति समूह या बहुसंख्यक लोग एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आज्ञा या आदेश का पालन करने में अभ्यस्त हों और उसका आदेश ही कानून हो। इस प्रकार आदेश देने वाला सर्वोच्च सत्ताधारी है और उसी में सम्प्रभुता निहित है। आस्टिन ने इसी सिद्धान्त को पूर्ण रूप से विकसित किया है। उसने कानून की व्याख्या करते हुए कहा है कि "कानून उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है।"[1] उसने कानून पर ही सम्प्रभुता को विकसित करते हुए लिखा है कि "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का साधारणत: पालन करता है और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारणत: किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पड़ती है तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति प्रभुत्व

1. "Law is the command of the supreme to the inferiors." —Austin.

सम्पन्न होता है तथा वह समाज उस प्रधान सहित एक स्वतंत्र राज्य होता है।[1] इस प्रकार प्रधान और समाज में शासक और शासितों का सम्बन्ध होता है। यह प्रधान एक व्यक्ति भी हो सकता है और एक समूह भी। ऑस्टिन द्वारा दी गई सम्प्रभुता की परिभाषा का विवेचन निम्नानुसार किया जा सकता है।

(1) सम्प्रभुता स्वतंत्र राजनीतिक समाज का अनिवार्य गुण है—इसकी अनिवार्यता का समर्थन करते हुए हेनरीमेन ने कहा है, जिस प्रकार पदार्थ के एक सिरे में आकर्षण केन्द्र का होना अनिवार्य है। उसी प्रकार राज्य में सम्प्रभुता का होना अनिवार्य है।

(2) सम्प्रभुता निश्चित सर्वोच्च मानव (Determinate human Superior) या मानव समूह में निहित है—ऑस्टिन ने सम्प्रभुता एक 'निश्चित प्रधान व्यक्ति' में निहित मानी है जो प्रधान एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह हो सकता है। इस प्रकार ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के निवास को निश्चित एवं परम मानव में बताकर रूसो द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के सामान्य इच्छा में निवास की विचारधारा का खंडन किया है। ऑस्टिन अनुसार सम्प्रभु एक निश्चित व्यक्ति या अधिकारी होता है जिस पर किसी प्रकार का कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता।

(3) समाज का बहुसंख्यक भाग (The bulk of a given society) उस प्रधान व्यक्ति की आज्ञाओं का पालन करता है—समाज का अधिकांश भाग उसकी आज्ञा का पालन करता है तो फिर यदि अल्प संख्यक उसकी आज्ञा न भी माने तो कोई डर नहीं। वह अपने स्थान पर सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोच्च बना रहेगा।

(4) प्रभु की आज्ञा का पालन प्रजा आदतन (Habitual) करती है—अर्थात् प्रभु की आज्ञा सदा और निरन्तर होनी चाहिए। अभ्यस्त आज्ञाकारिता पर ही सम्प्रभु का अस्तित्व निर्भर है।

(5) प्रभु स्वतः किसी उच्चतर आज्ञा पालन करने का अभ्यस्त नहीं होना चाहिये (Not in the habit of obedience to a like superior)—सम्प्रभु बाह्य एवं आन्तरिक सभी नियंत्रणों से मुक्त होना चाहिए। अर्थात् सम्प्रभुता अनियंत्रित, असीमित और अमर्यादित है।

(6) प्रभु का आदेश ही कानून होता है—वह अपने अधीनस्थों को आदेश देता है और जो उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता उसे दंड भोगना पड़ता है।

(7) सम्प्रभुता अविभाजित होती है—उसे एक से अधिक संस्थाओं के बीच बांटा नहीं जा सकता है।

---

1. "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society and the society including the superior is a society political and independent." —John Austin.

आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी दृष्टिकोण कानूनी दृष्टिकोण है। उसके अनुसार सम्प्रभुता निरपेक्षात्मक, स्वेच्छाचारी, असीमित, अविच्छेद्य, अविभाज्य, सर्वव्यापक एवं स्थायी होती है।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना अनेक विद्वानों ने की है और उनकी आलोचना के निम्न आधार हैं:—

(1) आस्टिन के अनुसार प्रभुता निश्चित एवं सर्वश्रेष्ठ मानव में निवास करती है। इसकी आलोचना करते हुए सर हेनरीमेन ने इस विचार को भ्रामक तथा तथ्यहीन माना है। उसके मतानुसार कानून का पालन निरंकुशता के कारण नहीं अपितु भावना, प्रथा, विश्वास, परम्परा आदि के कारण होता है। 'विशाल समूह के प्रभावों' की विद्यमानता पर बल देते हुए सर हेनरीमेन ने कहा है कि उन प्रभावों को जिन्हें हम संकुचित दृष्टि से नैतिक प्रभाव कह सकते हैं और जो अपने प्रभु द्वारा शक्तियों की वास्तविक दिशा को निरन्तर रूप देते, सीमित करते अथवा अवरुद्ध करते हैं।" उदाहरण स्वरूप पंजाब का शासक रणजीतसिंह निरंकुश शासक था जिसके आदेशों की अवज्ञा का अर्थ मृत्युदंड तक हो सकता था। परन्तु उसने एक भी ऐसा आदेश नहीं दिया जो प्रजा के रीति-रिवाजों, धार्मिक विचारों तथा परम्पराओं का विरोधी हो।

(2) गिलक्राइस्ट के अनुसार आस्टिन ने अपने सिद्धान्त को इंगलैंड और अमेरिका की राजनीतिक शासन व्यवस्थाओं पर आधारित करने का प्रयास किया है। इसी प्रयास में उसने अनेक विरोधी बातें कही हैं। अमेरिका में वस्तुतः न कांग्रेस सर्वोच्च है, न कार्यकारिणी, न न्याय पालिका और न संविधान ही अपितु ये सभी शक्तियां मर्यादित हैं। फिर भी अमेरिका एक सम्प्रभु सम्पन्न राज्य होने में किसी को भी कोई शंका नहीं है। इंगलैंड में तो एक ओर राजा सम्प्रभु माना जाता है तो दूसरी ओर राजा सहित संसद सम्प्रभु है जबकि ब्रिटिश व्यवस्था में वास्तविक शक्ति का प्रयोग मंत्रिमंडल करता है।

(3) आस्टिन के अनुसार कानून केवल प्रभु की आज्ञा मात्र है इससे भी हेनरी मेन सहमत नहीं है। प्राचीन काल में सामाजिक प्रथाएं एंव परम्परायें कानून का कार्य करती थी जिनका समादर निरंकुश शासक भी करता था। आधुनिक काल में भी यह बात शत प्रतिशत सही है। संप्रभुता प्राप्त ब्रिटिश संसद भी प्रथाओं और अभिसमयों (conventions) के उल्लघंन का दुस्साहस नहीं कर सकती है। गिलक्राइस्ट ने कहा है, "रीति-रिवाज निश्चित संविधि नहीं है परन्तु रीति-रिवाज और परम्परायें युगों के परिणाम है अतः पीटर जैसे निरंकुश शासक को भी रीतियों का संरक्षक और दास बनना पड़ेगा अन्यथा उसे क्रांति की संभावनाओं का प्रतिरोध करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।" मेकाइवर ने लिखा है, "राज्य को परम्परायें बनाने की प्राय: बिल्कुल शक्ति नहीं है और शायद उससे भी कम उसे नष्ट करने की शक्ति है।" आधुनिक विचारकों का भी मत है कि राज्य कानून को नहीं अपितु कानून राज्य को बनाता है। लास्की ने भी कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र मानकर सामाजिक वातावरण की उपज माना है, अतः आस्टिन द्वारा कानून को मात्र

आदेश मानना सर्वथा अनुचित है । बाह्य रूप से कानून आदेश अवश्य है परन्तु वस्तुतः वह तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है और यही कारण है कि सामाजिक आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ कानून का परिवर्तन करना भी आवश्यक होता है । सामान्य व्यक्ति कानून का पालन क्यों करता है इसका उत्तर देते हुए ड्यूनवी लिखते हैं, "कानून का पालन साधारण मनुष्य यह जानकार करता है कि उसे सामाजिक जीवन से प्राप्त सुविधाओं या लाभों की प्राप्ति या वृद्धि के लिये ऐसा करना आवश्यक है।"

(4) आस्टिन के अनुसार कानून का पालन बल पर आधारित है । जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट क चुके हैं अधिकांश व्यक्ति वास्तव में कानून का पालन दंड के भय से नहीं करते हैं बल्कि उनका यह आचरण उनमें कानून के अनुरूप आचरण करने की भावना के परिणाम स्वरूप है। लास्की लिखता है, "आदेश का भाव अनिश्चित और प्रयत्न है और दंड का विचार घुमा फिराकर चक्करदार तरीके से सोचने के सिवा कुछ नहीं है ।"[1]

(5) आस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता अविभाजित है जबकि कई विद्वान उसे विभाजित मानते हैं । स्वयं लार्ड ब्राइस के अनुसार इंगलैंड में एक विधानकर्त्ता सम्प्रभु है दूसरा कार्यपालक सम्प्रभु है तो तीसरा न्याय कर्त्ता सम्प्रभु है एकात्मक शासन प्रणाली में सम्प्रभुता को अविभाजित मान भी ले तो संघात्मक शासन प्रणाली में सम्प्रभुता को अविभाजित मानना एक जटिल समस्या है ।

(6) सम्प्रभुता परिपूर्ण और असीमित है इस विचारधारा का भी अनेक विद्वानों ने खंडन किया है । ब्लुंश्ली के अनुसार "अपने समग्र रूप में राज्य सर्वशक्तिमान नहीं है । बाह्य रूप से यह अन्य राज्यों के अधिकारों और आन्तरिक रूप से यह स्वयं अपनी प्रकृति और अपने सदस्यों के अधिकारों से सीमित है ।'[2] अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद का भी राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धांत पर प्रभाव पड़ा है । सर जेम्सस्टिफेन ने लिखा है, "जैसे प्रकृति में कोई परिपूर्ण वृत्त नहीं है अथवा पूर्णतः कठोर वस्तु नहीं है या ऐसी कोई यांत्रिक व्यवस्था नहीं है जिसमें लोग केवल स्वार्थ के दृष्टि कोण से ही काम करते हों, उसी प्रकार प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो परमपूर्ण या निरंकुश सम्प्रभु हो सके ।"[3]

अन्त में, निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता सम्बन्धी आलोचना का प्रमुख कारण आस्टिन का कानूनी दृष्टिकोण है जो सम्प्रभुता को सामाजिक वातावरण एवं प्रभाव से पृथक करता है । जैसी धारणा आस्टिन ने सामने रखी है वह स्पष्ट और

1. "The notion of the command (in Law) is cotingent and indirect, and the idea of penalty is again, save in the most circuitious way, notable absent." —Laski
2. "The state as a whole is not almighty, for it is limited extenally by the rights of other states and internally by its own nature and by the right of its individual members." —Bluntschli
3. "As there is in nature no such thing as a perfect circle or a completely right body, or a mechanical system in which there is no friction or a state of society in which men act simply with a view to gain so there is, in nature, no such thing as an absolute sovereign." —Sir James Stephen

तर्कयुक्त है और उसकी आलोचना अधिकांश गलत फहमी के कारण हुई है।" यद्यपि यह बात सही है कि आधुनिक प्रजातान्त्रिक युग में कोई एक निश्चित व्यक्ति विशेष आस्टिन की कल्पना का सम्प्रभु नहीं होता है परन्तु साथ ही यह बात भी सही है कि कानूनी दृष्टि से राज्य की संप्रभुता के लक्षण वे ही हैं जिन्हें आस्टिन ने संकेत किया है अर्थात सम्प्रभुता असीमित, अनियंत्रित एवं पूर्ण होती है।

बहुलवाद
(Pluralism)

बहुलवाद आस्टिन के एकत्ववाद (Monism) तथा हिगेल के आदर्शवाद (Idealism) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्तवादियों ने इसे निरंकुश, असीमित, अमर्यादित तथा अविभाज्य बतलाया है जिसे सम्प्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic View of Sovereignty) कहते हैं। परन्तु 19 वीं शताब्दी में इसका कड़ा विरोध हुआ जिसके अनुसार सम्प्रभुता अविभाजित और निरंकुश मानने की अपेक्षा विभिन्न समूहों और वर्गों में विभाजित माना गया। इसी विचारधारा को बहुलवाद या द्वैतवाद कहा जाता है। इसीलिए कहा जाता है, बहुलवादी राज्य की आलोचना करते हैं, उसकी बेईज्जती करते हैं और उसको उच्च आसन से हटाकर निम्नतर श्रेणी में पहुँचाना चाहते हैं। क्रैब ने लिखा है, "प्रभुसता की धारणा को राजनीति से निकाल देना चाहिए।"[1] ड्यूग्वी कहता है, "राज्य का प्रभुत्व या तो मर चुका है या मृत्यु शय्या पर पड़ा है।" लास्की ने भी लिखा है, "यदि प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा का त्याग कर दिया जाय तो यह राजनीति विज्ञान के लिए एक स्थायी लाभ की बात होगी।"[2] बार्कर कहता है, "कोई भी राजनैतिक सिद्धान्त निष्प्राण और व्यर्थ नहीं हो गया है जितना कि सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।"[3] लिंडसे का कहना है, "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट है राज्य की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त भंग हो चुका है।"[4] इस प्रकार बहुलवादियों ने राज्य की प्रभुसत्ता के निरंकुश, अविभाजित असीमित सिद्धान्त पर कड़ा प्रहार किया है।

बहुलवाद का विकास—इस सिद्धान्त का आविर्भाव 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ। इसके जन्मदाता गियर्क (gierke) और मेटलैंड (Maitland) ने बतलाया कि समाज में विद्यमान विभिन्न समुदाय मानव स्वभाव की उपज हैं। वे काल्पनिक तथा कृत्रिम नहीं हैं अपितु, उनका भी अपना है व्यक्तित्व, इच्छा तथा चेतना होती है। वे राज्य

1. "The notion of sovereignty must be expunged from Political Theory." —Krabbe.
2. "It would be of lasting benefit to political science if the whole concept of sovereignty is surrendered." —Laski
3. "No Political Common place has become more arid and unfriutful than the doctrine of the sovereign state." —Earnest Barker.
4. "If we look at the facts, it is clear enough that the theory of sovereign state has been broken down." —A. D. Lindsay.

से स्वतंत्र होते हैं और कभी-कभी अग्रणी भी। समाजशास्त्रियों ने भौगोलिक विभाजन के स्थान पर व्यावसायिक विभाजन (Vocational Division) का समर्थन किया है तथा उन्हें स्वायत्त अधिकार देने पर बल दिया है।

बहुलवाद के विकास के कारण—बहुलवाद के विकास के प्रमुख कारण निम्न लिखित हैं:—

(1) औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई। राज्य का कार्य केवल शासन करना ही नहीं रह गया बल्कि जनकल्याण भी हो गया। अतः बार्कर ने लिखा है कि "केन्द्र में आवश्यकता से अधिक रक्त है और सुदूरवर्ती क्षेत्र रक्त-हीनता से पीड़ित है।" अर्थात् राज्य-सत्ता का विकेन्द्रीयकरण किया जाना चाहिए और समाज की अन्य संस्थाओं को स्वायत्त अधिकार प्रदान करने चाहिए।

(2) वैज्ञानिक उन्नति ने विश्व के राज्यों की दूरी समाप्त करके उन्हें एक दूसरे के निकट ला दिया है। राज्यों की प्रभुत्व शक्ति सीमित हो गई है। अतः आज राज्य सर्वसत्ता सम्पन्न होने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय परिवार का सदस्य मात्र बन गया है।

(3) संघवाद के विचार ने भी बहुलवाद के विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

(4) ऑस्टिन ने राज्य को कानूनी निरंकुशता प्रदान की जबकि हीगेल ने राज्य को पृथ्वी पर स्वर्ग कहा है। अतः बहुलवाद, राज्य की निरंकुशता और सर्वोपरिता के विरुद्ध विद्रोह था।

(5) प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली की त्रुटियों ने भी बहुलवादी विचारधारा को बल प्रदान किया है। प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली में केवल क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व ही प्रदान किया जाता है। इससे कई वर्ग प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं अतः उन्होंने व्यावसायिक और धार्मिक समूहों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करने का समर्थन किया है।

(6) व्यक्तिवाद की असीमित सम्प्रभुता ने भी बहुलवादी विचारधारा को बल प्रदान किया है।

(7) आधुनिक युग की विभिन्न विचारधारायें जैसे साम्यवाद, अराजकतावाद, श्रेणी समाजवाद आदि ने भी राज्य की असीमित सत्ता पर प्रहार करके बहुलवादी विचारधारा के विकास को बल दिया है।

बहुलवाद की व्याख्या—बहुलवाद की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से निम्न प्रकार से की जा सकती है —

(1) विभिन्न संघों का दृष्टिकोण—मध्य युग में विभिन्न व्यावसायिक वर्ग के लोगों ने अपने-अपने संघ बना लिये थे जिन्होंने निगम (Corporation) का रूप धारण कर लिया था। राष्ट्रसंघ के उदय से ये लुप्त हो गये। पर गिर्के ने इन्हीं संघों के आधार पर बहुलवाद का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार इन संघों को भी व्यक्ति के समान निजी [illegible] और अधिकार हैं। अतः सम्प्रभुता इन संघों में विभाजित होनी चाहिए।

पाल बॉनक्यूर (Poul Boncour) ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि राज्य में दो प्रकार की सम्प्रभुता होनी चाहिए—एक राज्य की और दूसरी इन सघों की। मेकाइवर ने भी राज्य को समाज के विभिन्न संघों में से एक संघ माना है यद्यपि अन्य संघों से और इसके कार्य में व्यापक अन्तर है। अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है, "वर्तमान राज्य समान जीवन के लिए व्यक्तियों का सघ न होकर उन व्यक्तियों का संघ है, जो अधिक व्यापक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, पहले से ही अन्य संघों के सदस्य हैं।"[1] लास्की आधुनिक राज्य को निरंकुश असीमित आदि मानने की अपेक्षा बहुलवादी, वैधानिक और उत्तरदायी मानता है।[2] गैटेल ने लिखा है, "बहुलवादी इस बात से इन्कार करते हैं कि राज्य असाधारण संगठन है। उनका मत है कि अन्य समुदाय भी समान रूप में महत्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। उनका तर्क है कि जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए संयुक्त है। वे इस बात पर बल देते हैं कि राज्य अपने अन्तर्गत कतिपय समूहों के विरोध के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप देने के अयोग्य है। वे इस बात से भी इन्कार करते हैं कि राज्य द्वारा बल-प्रयोग अधिकार उसे किसी प्रकार का श्रेष्ठ अधिकार प्रदान करता है। बहुलवादी सब समूहों के समान अधिकारों पर भी बल देते हैं जो अपने सदस्यों की वफादारी के पात्र हैं और जो उनके बहुमूल्य कृत्यों को पूर्ण करते हैं। फलस्वरूप सम्प्रभुता बहुत-से समुदायों द्वारा अधिकृत होती है। यह अविभाज्य इकाई नहीं है और राज्य सर्वोच्च या असीमित नहीं है।"[3]

(2) कानूनी दृष्टिकोण—सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का स्रोत है राज्य द्वारा निर्मित कानून ही सर्वोपरि है। लेकिन बहुलवादियों का कहना है कि कानून राज्य से स्वतंत्र, ऊपर और व्यापक है। बहुलवादी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि कानून का पालन उसके राज्य द्वारा निर्मित होने से नहीं किया जाता है अपितु इस कारण किया जाता है कि उससे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इतना ही नहीं बल्कि कानून राज्य पर भी बन्धन लगाता है। इस प्रकार बहुलवादी कानून के माध्यम से राज्य की सर्वोच्चता और निरंकुशता को नकारते हैं।

1. "we see the state less as an association of individuals in common life, we see it more as an association of individuals, already united in various groups for a further and more embracing common purpose." E. Barker"
2. "Modren State is a pluralistic, constitutional and responsible." —Laski.
3. "The pluralists deny that the state is a unique organisation. They hold that other associations are equally important and natural; they argue that such associations for their purpose are as sovereign as the state is for its purpose. They emphasize the inability of the state to enforce its will in practice against the opposition of certain groups within it. They deny that the possession of force by the state gives it any superior right. They insist on the equal rights of all groups that command the allegiance of their members, and perform valuable functions in society. Hence sovereignty is possessed by many associations. It is not an indivisible unit and the state is not supreme or unlimited." —Gettell.

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण—एकत्ववादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को बाह्यरूप से स्वतंत्र एवं निरंकुशता रहित माना जाता है। परन्तु बहुलवादियों ने इस सिद्धान्त को भ्रामक एवं काल्पनिक बतलाया है। उनका कहना है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राज्यों के पारस्परिक समझौते तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघों द्वारा सीमित है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं है फिर भी प्रचलित रीति रिवाज, जनमत आदि के कारण अधिकांश राज्य उसका उल्लंघन करने का साहस नहीं करते हैं। लास्की ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतंत्र और सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का विचार मानव कल्याण के लिए घातक है। किसी राज्य को अन्य राज्यों के साथ किस सम्बन्ध से रहना चाहिए, यह विषय ऐसा नहीं है जिसका निर्णय करने का पूर्ण अधिकार उस राज्य को हो राज्यों का सर्वमान्य जीवन एक ऐसा विषय है जिस पर राज्यों में सर्वमान्य समझौता होना जरूरी है। इंगलैंड को यह फैसला स्वयं नहीं करना चाहिए कि वह देश कौन-से अस्त्र शस्त्र रखे अथवा वह किन लोगों को बाहर से आकर अपने प्रदेशों में बसने दे। ये मामले ऐसे हैं जिनका समाज के सर्वमान्य जीवन से सम्बन्ध है और इनकी व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व को संगठित होकर करनी चाहिए।" अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का राज्य की सम्प्रभुता पर प्रभाव पड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने विश्व राज्य की कल्पना को मूर्त रूप देना प्रारम्भ कर दिया है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राज्य की सम्प्रभुता का आंशिक परित्याग तो होता ही है।

बहुलवाद की आलोचना—बहुलवादियों ने अद्वैतवादी सिद्धान्त की आलोचना अतिरंजित और बढ़ा चढ़ा कर की है। अतः उनकी हम निम्न प्रकार से आलोचना कर सकते हैं।

(1) हेगेल को छोड़कर किसी ने भी सम्प्रभुता को असीमित तथा निरंकुश नहीं बतलाया है बल्कि राज्य की वास्तविक शक्ति को सीमित ही बतलाया है। गैटेल ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज्य अपना कर्तव्य स्वीकार कर सकता है तथा अपने कार्यों पर स्वयं बंधन लगा सकता है। वह विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व भी दे सकता है। परन्तु वह ये सब काम अपनी कानूनी सम्प्रभुता को त्यागे बिना ही कर सकता है। अद्वैतवादी केवल इतना ही कहते हैं कि जब राज्य किसी निश्चित क्षेत्र में कानूनी सत्ता स्थापित करता है, तब वह उस क्षेत्र में अन्य सब सामाजिक संघों से श्रेष्ठ और ऊपर होता है, जो स्वाभाविक रूप से ही अवश्यम्भावी है अतः बहुलवादियों की आलोचना अधिकांशतः काल्पनिक ही है।

(2) बहुलवादी सम्प्रभुता को विभिन्न संघों में विभाजित करना चाहते हैं। परन्तु सम्प्रभुता के विभाजन का अर्थ उसे समाप्त करना है जिससे समाज में अशांति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार बहुलवाद अराजकतावाद या राज्य विहीन व्यक्तिवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "इससे सैद्धान्तिक अराजकता की

दशा पैदा हो जायेगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा उसके कार्यों का निर्णायक स्वयं ही होगी।"[1]

(3) बहुलवादी राज्य को सर्व शक्तिमान न मानकर भी सर्वोपरि तो मानते हैं। संघ और समुदाय हमारे लिए आवश्यक होते हुए भी राज्य का स्थान नहीं ले सकते हैं। बहुलवादी राज्य को विभिन्न संघों के बीच सहयोग और सन्तुल बनाये रखने का कार्य सौंपने के पक्ष में हैं। परन्तु यह भी निश्चित है कि यह कार्य राज्य तभी कर सकता है जब उसे कानून के क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हो। कोकर कहता है कि बहुलवादी सभी आवश्यक संघों को पूर्ण समानता की स्थिति देने की इच्छा रखते हुए भी परिस्थितियाँ उन्हें विवश करती हैं कि वे राज्य को प्रधान स्थान दें। बार्कर के शब्दों मे, "हम धर्म संघ या व्यावसायिक संघों की महत्ता को कितना ही क्यों न माने, तो भी हमें राज्य को सर्वोच्च शक्ति के रूप में अधिकार देना ही होगा।" लास्की लिखता है, "वैधानिक दृष्टि से यह बात कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसी सत्ता अवश्य होती है, जिसकी अधिकार शक्ति असीमित होती है।"[2] फॉलेट का कहना है, "राज्य की मेरी सदस्यता किसी व्यावसायिक संघ की मेरी सदस्यता से तो श्रेष्ठ है। यह एक आदर्श राज्य मेरे पूर्ण व्यक्तित्व की माग करता है। अन्य संघों का सदस्य होते हुए भी मेरी आत्मा तो राज्य में ही निवास करती है।"

(4) बहुलवादी का विचार है कि विभिन्न संघ एक दूसरे के कार्य क्षेत्रों का उल्लंघन किये बिना समानान्तर रूप से चलते हैं जो बिल्कुल तथ्यहीन और अवास्तविक है। कोई भी एकाकी पहलू पर निर्भर नही रह सकता है। उसका अन्य पहलू से अवश्य सम्बन्ध होता है। आर्थिक जीवन राजनैतिक पहलू से प्रभावित होता है तो राजनैतिक जीवन सामाजिक और आर्थिक पहलू से।

(5) राज्य के शक्तिवादी रूप की आलोचना संभाव्य लग सकती है पर सम्प्रभुता के विभाजन के नाम पर उसे शक्तिहीन बनाने की कल्पना, जिससे राज्य में अराजकता का साम्राज्य छा जाए, उचित नहीं लगती है।

(6) बहुलवादियों ने राज्य के कानूनी औचित्य को भी ठीक से नहीं समझा है। अद्वैतवादियों ने भी कानून के विभिन्न स्त्रोत तो स्वीकार किये है परन्तु उनका कहना है कि उन्हें वैधानिक मान्यता राज्य के अंगीकरण पर ही मिलती है जबकि वे इसे स्वीकार नहीं करते हैं।

---

1. "If the state is to be abolished and replaced by autonomous associations, it is not far from conditions of theoritical anarchy, in which each individual's conscience is the arbiter of his actions." —Gilchrist.
2. "Legally no one can deny that these exists in every state some organ whose authority is unlimited." —Laski.

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर भी बहुलवादियों के दृष्टिकोण में औचित्य नहीं है। यह ठीक है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों से प्रतिबन्धित है। पर यह मान्यता जनमत पर आधारित है, वैधिक आधार पर नहीं।

अंत में, बहुलवाद के निष्कर्ष के रूप में हम इतना ही कह सकते हैं कि बहुलवाद द्वारा समाज में कार्य करने वाले संघों के अधिकारों की मांग करना सर्वथा न्यायोचित है परन्तु साथ ही उसके कारण राज्य को अपनी संप्रभुता से वंचित करना कदापि न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। बहुलवाद का महत्व इस बात में अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये कि इसके द्वारा राज्य की निरंकुशता के विरुद्ध व्यक्ति और उनके संघों के हितों की दृष्टि से आवाज बुलन्द की गई है और आधुनिक राज्यों के द्वारा इस बात को स्वीकार किया जाना भी जनहित की दृष्टि से आवश्यक है।

अध्याय 7

सरकार के स्वरूप

Forms of Government

1. सरकारों का वर्गीकरण
2. अरस्तू का वर्गीकरण
3. आधुनिक राज्य
4. निरंकुश एवं सीमित राजतंत्र, कुलीनतंत्र
5. प्रजातन्त्र एवं तानाशाही
6. प्रजातन्त्र के गुण–दोष एवं सफलता की आवश्यक शर्तें
7. एकात्मक और संघात्मक शासन प्रणालियाँ, विशेषताएँ, गुण–दोष एवं तुलना
8. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक सरकार-विशेषताएँ, गुण–दोष एवं तुलना

सरकार के स्वरूप
(Forms of Government)

सरकारों का वर्गीकरण
(Classification of Government)

राज्य मानव जीवन की सर्वाधिक महत्व पूर्ण संस्था है और सरकार उसका परिचयात्मक स्वरूप है। इतना ही नहीं यह ऐसा अनिवार्य तत्व है कि इसके बिना राज्य कल्पना मात्र रह जाता है। इसलिए बहुत से लोग राज्य और सरकार को एक ही मानते हैं। इसी भ्रम वश सरकार की भाँति राज्यों का भी वर्गी करण गया है। पर राज्यों का वर्गीकरण आधुनिक लेखकों को अमान्य है क्योंकि सभी राज्य अपने स्वरूप में समान है और वे जन संख्या, भूमि, सरकार और सम्प्रभुता से मिलकर बनते हैं। अतः सरकारों का ही वर्गीकरण किया जा सकता है। सरकारों के इस वर्गीकरण को ही कभी कभी राज्यों का वर्गीकरण कह दिया जाता है। गैटेल ने लिखा है, "सरकार का वर्गीकरण ही राज्य का वर्गीकरण है।" राजनीति शास्त्र में सरकार का वर्गीकरण मुख्यतया निम्नानुसार किया गया है :—

(1)प्राचीन यूनानी दार्शनिकों का वर्गीकरण— उस समय के नगर राज्यों में कई प्रकार की शासन पद्धतियां थी। अतः इस आधार पर यूनानी राजनीतिक दार्शनिकों ने सरकार के निम्न वर्गीकरण किये हैं:—

(1) हीरोडोटस (Herodotus)द्वारा वर्गीकरण—हीरोडोटस ने शासन को राजतंत्र, कुलीन तन्त्र व प्रजातंत्र में विभाजित किया है। तथा उसने आगे लिखा है कि यद इनमें से कोई भी शासन तंत्र अत्याचारी बन जाये तो वह उत्पीड़क तन्त्र (Tyranny) में बदल जाता है।

(2) सुकरात (Socrates) द्वारा वर्गीकरण—सुकरात के मतानुसार उपरोक्त वर्गीकरण से शासन पद्धति की प्रकृति का सही आभास नहीं मिलता है अतःउसने मुख्य.इन तीन भेदों में दोऔर जोड़ दिये हैं। इस प्रकार सुकरात के अनुसार सरकार के पांच भेद किये जा सकते हैं।

शासन तन्त्र

राज तन्त्र (Monarchy) कुलीन तंत्र (Aristocrasy) प्रजातंत्र (Democracy)
उत्पीड़क तंत्र अयोग्य उच्च कालीन तन्त्र (Oligarchy Tyranny)

(3) प्लेटो (Plato) द्वारा वर्गीकरण—प्लेटो के शासन तन्त्र के वर्गीकरण के दो आधार है। प्रथम, वे राज्य जिनके कानूनों का आधार ज्ञान है और दूसरा, वे राज्य जिनके

कानूनों का आधार ज्ञान की अपेक्षा स्वेच्छा है। प्रथम श्रेणी के राज्य कानून के अनुसार शासन का संचालन करते है जबकि दूसरे वर्ग के राज्यों के लिए कानून का पालन करना आवश्यक नहीं है। इस आधार पर प्लेटो द्वारा दिया गया शासन तन्त्र का वर्गीकरण निम्नानुसार है:—

यथार्थ शासन तन्त्र
(Actual States)

- विधि पालक राज्य (Law abiding States)
  - राजतन्त्र (Monarchy) → उत्पीड़क राजतन्त्र (Tyranny)
  - कुलीन तन्त्र (Atistocracy) → उत्पीडक कुलीतन्त्र (Oligarchy)
  - प्रजा तन्त्र (Dem ocracy) → उग्र प्रजातन्त्र (Extreme Democracy)
- विधि पालन न करने वाले राज्य (Arbitrary States)
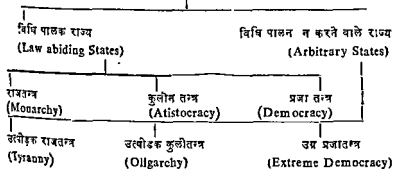
(4) अरस्तू(Aristotle) द्वारा वर्गीकरण–वैसे तो अरस्तू के वर्गीकरण पर प्लेटो की छाप है तथापि इनमे भेद है क्योंकि प्लेटो ने अपने वर्गीकरण का आधार कानून को बताया है तो अरस्तू ने नैतिकता को। अरस्तू के वर्गीकरण का दूसरा आधार शासकों की संख्या है अरस्तू के वर्गीकरण का अवलोकन निम्नानुसार है:—

शासकों की संख्या (Number of rulers)	राज्य के उद्देश्य और शासन की भावना (End of state and spirit of Government)	
	सामान्य तथा सर्वहित (Normal andCommn Interest)	विकृत या उत्पीड़क (Perverted or SelfInterest)
एक का शासन (Rule of one)	राजतन्त्र (Monarchy)	अत्याचार तन्त्र (Tyranny)
कुछ का शासन (Rule or Few)	कुलीन तन्त्र (Aristocracy)	वर्ग तन्त्र (Oligarchy)

बहुतों का शासन (Rule of many)	जनतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र Democracy)

अरस्तू का परिवर्तन चक्र(Atlstotle's Cycle of Change)–अरस्तू ने सरकार का वर्गीकरण ही नहीं किया अपितु उनके विकास और परिवर्तन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये है। अरस्तू शासन के रूप में परिवर्तन को स्वाभाविक मानता है क्योंकि शासन का रूप साइकिल के पहिए की भांति घूमता है जिसे ही वह परिवर्तन चक्र (cycle of Change) कहता है। अरस्तू ने लिखा है, "सर्व प्रथम राजतन्त्र शासन स्थापित हुए सम्भवतः इस कारण से कि प्राचीन काल में नगर छोटे-छोटे थे और प्रतिभावान व्यक्ति कम थे। इन राजतन्त्रों में ऐसे ही व्यक्तियों को राजा बना दिया गया क्योंकि वे परोपकारी थे और परोपकार केवल सज्जन ही कर सकते हैं। परंतु जब इनसे गुणों वाले अनेक व्यक्ति आगे बढ़ आये और वे एक ही को प्रधान व प्रतिष्ठित मानने से कतराने लगे तो उन्होंने राज्य को सभी का राज्य (Common wealth) बनाने और संविधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की। तब शासक वर्ग का शीघ्र ही पतन हो गया और जन कोष से धन उड़ा कर वे धनवान बनने लगे। धन सम्पत्ति ही सम्मान का साधन बन गई और इस प्रकार की परिस्थितियों में सम्मान का साधन बन गई और इस प्रकार की परिस्थितियों में स्वतः धन शासन (Oligarchies) की स्थापना स्वाभाविक हो थी। समय के साथ यह शासन भी अत्याचारी शासन में बदल गया और अन्त में अत्याचारी शासन ने प्रजातन्त्रात्मक शासन का रूप धारण कर लिया, क्योंकि शासन वर्ग की धन लोलुपता ने अपनी संख्या को सदा कम से कम रखने की चेष्टा की। इससे सर्व साधारण का बल बढ़ा जिन्होंने अन्त में अपने स्वामियों को दबोच लिया और प्रजातन्त्रात्मक शासन स्थापित कर डाले।"

अरस्तू के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि सर्व प्रथम राजतंत्र की स्थापना हुई जिसके लिए एक सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति को चुना गया। कुछ समय बाद जब राजाओं ने अपने स्वार्थ के लिए जनता का शोषण प्रारम्भ कर दिया तो राज्य ने उत्पीड़क राजतंत्र (Tyranny) का रूप धारण कर लिया। पर इसे जनता अधिक समय तक सहन न कर सकी। और राजसत्ता थोड़े से बुद्धिमान व्यक्तियों को सौंप दी गई जिससे कुलीन तन्त्र की स्थापना हो गई। धीरे धीरे राजसत्ता जब विवेक शील और निस्वार्थियो के हाथों से निकल कर अविवेकी और स्वार्थियों के हाथों चली गई तो कुलीन तंत्र के स्थान पर स्वार्थियों के हाथों चली गई कुलीन तन्त्र के स्थान पर वर्गतंत्र की स्थापना हो गई। कालान्तर में इसे भी सहन न किया गया और जनतंत्र (Polity) की स्थापना होती है जो विकृत अवस्था में प्रजातन्त्र का रूप धारण कर लेता है। अन्त में इनका भी एक शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा विनाश होता है और पुनः राजतन्त्र की स्थापना होती है। इस प्रकार सरकारों का यह परिवर्तन चक्र सदा घूमता रहता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—अरस्तू के इस वर्गीकरण की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना की गई है। प्रथम अरस्तू का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित नहीं है। अरस्तू ने शासकों के गुणों की अपेक्षा उनकी संख्या पर अधिक बल दिया है। परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं लगती है। अरस्तू प्लेटो का शिष्य होने के नाते शासकों के आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसने सख्या के साथ साथ उद्देश्य को भी ध्यान में रखा है। बर्गेस ने ठीक कहा है कि "अरस्तू का वर्गीकरण आध्यात्मिक है, वह संख्या वाचक नहीं है।" द्वितीय, अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए डा. गार्नर ने लिखा है, "अरस्तू राज्य और सरकार का अन्तर नहीं मानता है, फलतः उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण है जबकि यह सरकारों का होना चाहिए।" परन्तु यह आलोचना भी उचित नहीं लगती है क्योंकि राज्य और सरकारों का अन्तर आधुनिक युग की देन है। बर्गेस ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "अरस्तू का वर्ग विभाजन युक्तिसंगत और उत्तम है यदि उसके राज्य और प्रभुता शब्दों के स्थान पर क्रमशः सरकार और व्यवस्था (Rule) शब्द लिख दिये जाएँ।" तृतीय, सीले और लीकॉक के अनुसार अरस्तू का वर्गीकरण छोटे-छोटे नगर-राज्यों के लिए उपयुक्त था न कि आधुनिक युग के विशाल और बहु राष्ट्रीय राज्यों के लिए। यदि अरस्तू का वर्गीकरण मान लिया जाय तो निरंकुश, वैधानिक, निर्वाचित और पैतृक राजतंत्र एक ही श्रेणी मे आ जाते हैं। इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त आधुनिक युग मे संसदीय, अध्यक्षात्मक, एकात्मक, संघात्मक आदि अनेक रूप चल पड़े हैं। चतुर्थ, अरस्तू ने प्रजातंत्र को बुरे अर्थ अर्थात् भीड़तंत्र (Rule of Crow) के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो उपयुक्त नहीं है। आधुनिक युग में प्रजातंत्र एक अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है। पंचम्, अरस्तू का परिवर्तन चक्र सभी राज्यों पर समान रूप से लागू होने वाला नियम नहीं लगता है। यूनान और रोम पर जहाँ यह ठीक बैठता है वहाँ आधुनिक राज्यों मे हुए परिवर्तनों पर यह लागू नहीं होता है। रूस में निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर एकदम साम्यवादी तानाशाही की स्थापना हो गई। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के बाद राजा के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना की गई। षष्ठम्, सीले के अनुसार अरस्तू के वर्गीकरण में मिश्रित सरकार के लिए कोई स्थान नहीं है जबकि आधुनिक युग में एक ही शासन पद्धति में कई प्रकार की सरकारों का समन्वय पाया जाता है। ब्रिटेन में एकतंत्र (राजा), कुलीनतंत्र (लार्ड सभा) और प्रजातंत्र (लोक सभा) का मिश्रित रूप मिलता है जिसका अरस्तू के वर्गीकरण में कहीं भी उल्लेख नहीं है। सप्तम् आधुनिक युग मे अल्पतंत्र (Oligarchy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy) मे भेद करना कठिन है जबकि अरस्तू ने इनका स्पष्ट भेद किया है। अष्टम्, अरस्तू का वर्गीकरण आदर्शतंत्र और धर्मतंत्र पर लागू नहीं होता है क्योंकि उनके अनुसार प्रभुसत्ता भगवान, आदर्श पुरुष या किसी धारणा में निवास करती है और शासन का संचालक भगवान का प्रतिनिधि होता है।

इस प्रकार अरस्तू के वर्गीकरण की बहुत आलोचना की गई है फिर भी राजनीतिशास्त्र में अरस्तू के वर्गीकरण का कम महत्व नहीं है। यह राज्यों का प्रथम वैज्ञानिक वर्गी-

आधुनिक राज्य
(Modern State)
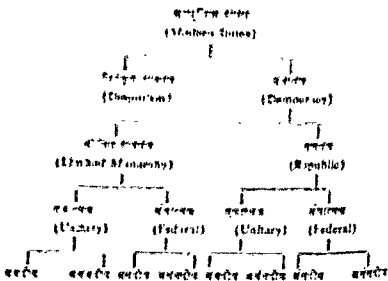
शासकों की संख्या के आधार पर	केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरण के आधार पर	कार्यपालिका की सत्ता के उपयोग के आधार पर	कार्य और उद्देश्य के आधार पर
1. एकतंत्र 2. कुलीनतंत्र 3. प्रजातंत्र	1. एकात्मक 2. संघात्मक	1. संसदीय 2. अध्यक्षात्मक	1. समाजवादी 2. लोककल्याणकारी 3. पूंजीवादी 4. नाजी और फासिस्टवादी

राजतंत्र (Monarchy)—राजतंत्र सरकार की प्राचीन प्रणाली है। प्राचीनकाल में यह प्रणाली प्रायः सभी देशों में प्रचलित थी। बीसवीं सदी में इसका ह्रास शुरू हो गया फिर भी अनेक देशों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है जैसे अफगानिस्तान, इथियोपिया, नेपाल, सऊदी अरब आदि।

राजतंत्र का अंग्रेजी शब्द (Monarchy) है जो मोनोप (Monos) और आर्को (Archo) से बने हैं जिनका क्रमशः अर्थ होता है 'एक' और 'तंत्र' अर्थात् जहां राज्य की सर्वोच्च शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में रहती है उसे राजतंत्र कहा जाता है। वह निर्वाचन या वंशानुक्रम उत्तराधिकार के आधार पर राजगद्दी पर बैठता है। गैटेल ने कहा है, "ऐसी सरकार जिसमें सर्वोच्च तथा अन्तिम सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में हो, तो वह राजतंत्र ही होगा चाहे उसमें राजा ने अपना पद शक्ति के द्वारा हथिया कर प्राप्त किया हो या वह चुना गया हो या पैतृक उत्तराधिकार के द्वारा प्राप्त किया हो।"[1] गैटेल ने आगे लिखा है, "राजतन्त्र तभी विद्यमान रहता है जबकि राज्य के मुखिया की इच्छा लगातार प्रभावशाली रहती हो और अन्त में सरकार के संचालन में सर्वप्रमुख तत्व के रूप में काम करती हो।"[2] जेलिनेक ने लिखा है, "राजतंत्र ऐसी सरकार होती है जिसमें एक व्यक्ति की भौतिक इच्छा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो और इसकी मुख्य विशेषता यह है कि राजा राज्य की सर्वोच्च शक्ति प्रकट करने में समर्थ हो।"[3] डाक्टर गार्नर ने लिखा है, "यदि राजा केवल राज्य का नाममात्र मुखिया हो और उसकी शक्तियों का प्रयोग दूसरे व्यक्ति करते

1. "While monarchy is generally considered as a form of government in which the head of the state derives his office through hereditary succession. Any government in which the supreme and final authority is in the hands of a single person, is a monarchy, whether his office is secured by usurpation, by election or by hereditary succession." —Gettell.
2. "Monarchy exists only when the personal will of the head of the state is a constantly effective and in the last resort, a predominant factor in government." —Gettell.
3. Jellinek defined monarchy "as a government by a single physical will and its essential characteristic is the co nsystence of the monarch to express the highest power of the state."

हीं तो राज्य के मुखिया की उपाधि चाहे कुछ भी हो, उसके चुनाव की विधि या उसकी अवधि कुछ भी हो, इस प्रकार की सरकार वास्तव में एक गणतंत्र ही है।"[1] उदाहरण स्वरूप 1791 ई. के संविधान के अनुसार फ्रांस को सरकारी रूप से राजतंत्र कहा गया परन्तु वास्तव में यह राज्य के पैतृक मुखिया के होते हुए भी एक गणराज्य था क्योंकि उसमें सत्ता का उपयोग अकेले राजा के अधिकार में नहीं था। ब्रिटिश राजतंत्र के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

आधुनिक राजतंत्र के दो भेद माने गये हैं।

1. *निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy)*
2. सीमित या वैधानिक राजतंत्र (Limited or Constitutional Monarchy)

निरंकुश राजतंत्र
(Absolute Monarchy)

राज्य की सम्पूर्ण प्रभुसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है तो उसे निरंकुश राजतंत्र कहा जाता है। उस पर किसी प्रकार का कानूनी बन्धन नहीं होता है। उसकी इच्छा ही राज्य की इच्छा और कानून है। जैसा कि लुई चौदहवां कहा करता था, "मैं ही राज्य हूँ" (I am the State)। इंगलैंड में जेम्स प्रथम इस सिद्धान्त का पोषक था। चीन में तो सम्राट स्वर्ग का पुत्र (Son of Heaven) कहलाता था। ब्राइस ने लिखा है, "पांचवीं शताब्दी से सोलहवीं तक यदि कोई पूछता कि वैध प्रभुता का आधार क्या है, अथवा राजा को किस आधार पर प्रजा अपना स्वामी माने तो यही उत्तर मिलता था कि भगवान ने कुछ विभूतियों को संसार पर शासन करने के लिए भेजा है, अत: उन विभूतियों की अवज्ञा करना भगवान के प्रति अपराध होगा। आजकल इस प्रकार के राज्य प्राय: लुप्त से हो रहे हैं।

निरंकुश राजतंत्र के गुण (Merits of Absolute Monarchy)

निरंकुश राजतंत्र के निम्नांकित गुण हैं—

(1) असभ्य तथा अविकसित समाजों के लिए उपयोगी—प्रारम्भ में मनुष्य असभ्य तथा जंगली था जिसके लिए राजतंत्र ही सर्वोत्तम साधन था जिसने लोगों को आज्ञा पालन और अनुशासन से रहना सिखाया। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है, "असभ्य और बर्बर जातियों के शासन के लिए निरंकुश राजतंत्र ही उपयुक्त शासन प्रणाली है यदि सुधार के उद्देश्य से प्रेरित होकर तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहायक उपयुक्त साधनों का प्रयोग किया जाए।"[2]

(2) देश की सर्वांगीण उन्नति सम्भव है—ह्यूम ने लिखा है, "अच्छे राजतंत्र में सम्पत्ति सुरक्षित रहती है, उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है, कला की उन्नति होती है और राजा प्रजा में इस तरह रहता है जैसे बाप अपने बच्चों में। यदि राजा अच्छा हो तो लोगों के लाभ के लिए बहुत कुछ कर सकता है।" इतिहास साक्षी है कि भारत में

---

1. "If the king is merely a titular chief, his power being actually exercised by others the government is in reality a republic, whatever may be the title of the chief." —Dr Garner.
2. "Despotism is a legitimate mode of government for dealing with barbarians, provided the end be their improvement and the means be justified by actually effecting that end." —J. S. Mill

चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष आदि प्रशा (जर्मनी) में फ्रेडरिक महान, फ्रांस में नेपोलियन बोनापार्ट, रूस में पीटर महान, कैथराइन आदि राजाओं ने अपनी प्रजा के लिए महान कार्य किये हैं।

(3) शीघ्र निर्णय—राजतंत्र में अन्तिम शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में रहती है अतः संकटकाल में शीघ्र निर्णय ले सकते हैं।

(4) इस प्रणाली में राजा और प्रजा के हित में एक रूपता होती है अर्थात् गरीब प्रजा का राजा धनी, सुखी और शक्तिशाली नहीं हो सकता। यदि प्रजा गरीब, असन्तुष्ट और कमजोर है तो राजा भी सुरक्षित नहीं रह सकता है।

(5) राजा अपने पद पर आजीवन रहता है अतः वह अपने अनुभव से देश और प्रजा को लाभ पहुंचाता है। अकबर महान् ने हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक द्वेष को कम करके मेल मिलाप कराने की कोशिश की।

(6) राजा के आजीवन अपने पद पर बने रहने से उसकी नीति सदा एकसी बनी रहती है। इससे सरकार में स्थिरता शासन मे सुदृढ़ता बनी रहती है।

(7) राजा निर्वाचित न होकर वंशानुक्रमगत होता है अतः वह किसी दल से सम्बन्धित न होने से वह निष्पक्ष रूप से शासन चलाता है। इससे सबके साथ न्याय होने की अधिक सम्भावना रहती है।

(8) राजा एकमात्र निर्णायक होता है अतः उसकी परराष्ट्र नीति भी अधिक दृढ़ता और कुशलता पर आधारित होती है।

(9) राजतंत्र अन्य शासन प्रणालियों से कम खर्चीली होती है। प्रजातंत्र की भांति निर्वाचन, विधायिका, वाद-विवाद आदि के व्यर्थ व्यय से राज्य बच जाता है। इससे जनकल्याण पर अधिक व्यय होने की सम्भावना रहती है।

निरंकुश राजतंत्र के दोष

(Demerits of Absolute Monarchy)

(1) राजा की असीमित शक्ति के कारण राजतंत्र एक स्वेच्छाचारी निरंकुश, स्वार्थपरता का रूप धारण कर लेता है।

(2) अयोग्य राजा सारे देश को पतन की ओर ले जाता है। औरंगजेब की धर्मान्धता ने मुगल साम्राज्य को पतन के गर्त मे डाल दिया। लौकॉक ने ठीक कहा है, "वंशानुगत राजा की कल्पना उतनी ही मूर्खतापूर्ण है जितनी कि वंशानुगत गणितज्ञ या कवि की।"

(3) शक्ति हर व्यक्ति को भ्रष्ट कर देती है। राजा शक्ति के मद में ऊँचे आदर्शों से गिर जाते हैं और जनता का शोषण करना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे देश में अत्याचारी शासन प्रारम्भ हो जाता है।

(4) निरंकुश शासनतंत्र में राजा के पास ही सारी शक्तियां रहती है। जनता को शासन संचालन में कोई भाग नहीं मिलता है जिससे लोगों की उन्नति अवरुद्ध हो जाती है।

(5) इतिहास इसका साक्षी है कि राजा अपनी व्यक्तिगत इच्छा पूर्ति तथा साम्राज्य विस्तार के लिए पूरे देश को युद्ध की अग्नि में झोंक देता है।

(6) अधिकांश राजा अपने निजी स्वार्थ और सुख भोग में संलग्न रहते हैं जिससे जनहित की अवहेलना होती है।

(7) आधुनिक युग लोकतंत्र का युग है। जिसमें आधुनिक राज्य जन कल्याणकारी बन गये हैं। राजतंत्र इस ओर ध्यान नहीं देते हैं।

सीमित राजतंत्र
(Limited Monarchy)

निरंकुश राजतंत्र में जनता को शासन संचालन में भाग नहीं मिलने से इसके विरुद्ध मताधिकार में तीव्र विरोध हुआ जिसके कारण राजा की शक्तियाँ प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में चली गईं। वैधानिक रूप से राजा ही सारी शक्तियों का स्रोत बना रहा परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसके हाथों की शक्ति जनता के प्रतिनिधियों में निहित हो गई। राज्य के सारे कार्य राजा के नाम पर होते हैं लेकिन वास्तविक शक्ति जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के हाथ में होती है। जिस प्रकार गणतंत्र (Repablic) का संवैधानिक राज्याध्यक्ष राष्ट्रपति होता है उसी प्रकार सीमित राजतंत्र का संवैधानिक राज्याध्यक्ष राजा होता है।

सीमित राजतंत्र के गुण
(Merits of Limited Monarchy)

सीमित राजतंत्र में राज्याध्यक्ष वंशानुगत होने से देश को राज्याध्यक्ष के लिए निर्वाचन के झंझट में नहीं पड़ना पड़ता है। साथ ही वह दलगत राजनीति से ऊपर रहने के कारण मंत्रियों को निष्पक्ष परामर्श दे सकता है। अपने पद पर आजीवन बने रहने के कारण भी अपने अनुभवों से देश को लाभ पहुँचाता है। अन्त में, इस प्रणाली में प्रजातान्त्रिक तत्वों के विकास, स्थानीय स्वशासन की प्रगति, नागरिकों में राजनीतिक चेतना जागृति आदि के मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती है।

सीमित राजतंत्र के दोष
(Demerits of Limited Monarchy)

सीमित राजतंत्र में जहाँ कुछ गुण हैं वहाँ इसमें दोष भी हैं। इसमें राष्ट्र को राज परिवार का अनावश्यक रूप से खर्च वहन करना पड़ता है। राजा राष्ट्र का प्रतीक होता है अतः यदि वह योग्य नहीं हुआ तो देश की प्रगति को बाधा पहुँचती है।

कुलीनतंत्र
(Aristocracy)

कुलीनतंत्र अंग्रेजी शब्द 'एरिस्टोक्रेसी' का हिन्दी रूपान्तर है। यह ग्रीक भाषा के एरिस्टोस (Aristos) तथा क्रेटोस (Krotos) शब्दों का योग है जिनका अर्थ क्रमशः 'श्रेष्ठ' और 'शासन' होता है अर्थात् 'श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासन'। इसमें समाज के इने गिने श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में शासन शक्ति रहती है। डॉ. गार्नर ने लिखा है, "कुलीनतंत्र

वह शासन है जिसमें कुछ लोगों के पास राजनीतिक शक्ति होती है।" जेलिनेक के अनुसार कुलीनतन्त्र राज्यों में शासक श्रेणी के आधार निम्नलिखित रहे हैं—पुरोहित, सैनिक, भूस्वामी और किसी विशिष्ट पेशे का अनुसरण करने वाले लोग। वर्तमान राजनीति में दक्षिण अफ्रीका में काले रंग के बहुसंख्यकों पर वहाँ के गोरों का शासन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

कुलीनतंत्र के गुण
(Merits of Aristocracy)

कुलीनतंत्र में शासन बुद्धिमान और योग्य व्यक्तियों के हाथ में होता है। अतः वह सामान्य व्यक्तियों के द्वारा सचालित शासन की अपेक्षा अच्छी तरह से संचालित होता है। जे. एस. मिल ने लिखा है, "वे, शासन, जिन्होने निरन्तर योग्यता और बल से सार्वजनिक व्यवस्था का संचालन करते हुए इतिहास में अपूर्व पद पाया है, प्रायः कुलीनतंत्र शासन थे।"[1] इतना ही नहीं कारलाइल ने तो यहाँ तक लिखा है, "यह मूर्खों का बहुत बड़ा सौभाग्य है कि वे बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा शासित किये जाएँ।"[2] कुलीनतन्त्र में शासक प्राचीन परम्पराओं का आदर करते हैं। वे जनता के क्षणिक आवेश और भावावेश से प्रभावित न होकर संयम और विवेक से कार्य करते हैं। यह राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों के दोषों से बचने के लिये उत्तम मध्यम मार्ग है। मांटेस्क्यू ने उचित लिखा है, "गुण पर आधारित विनय ही इस पद्धति की आत्मा है।"[3] ब्रौघम ने भी इस पद्धति की सराहना करते हुये लिखा है, "इस पद्धति में उद्देश्य की स्थिरता, भयंकर परिवर्तन का विरोध, युद्धप्रिय नीति के प्रति अविश्वास तथा बौद्धिक प्रखरता को प्रोत्साहन मिलता है।"[4]

कुलीनतंत्र के दोष (Demerits of Aristocracy)—

कुलीनतंत्र रूढ़िवादी होता है वह समय के अनुसार बदलता नहीं है इसलिए राष्ट्र की प्रगति में सहायक होने की अपेक्षा बाधक ही सिद्ध होता है। इसमें शासक प्रायः जन-कल्याण की अपेक्षा अपने हित साधन में लग जाते हैं। वे अपने लिए विशेषाधिकारों का निर्माण कर लेते हैं तथा अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए जनता पर दमनचक्र चलाते हैं। इतना ही नहीं, जिन व्यक्तियों के हाथ में एक बार शासन आ जाता है वे इसे वंशानुगत बना देते हैं, जो अनुचित है क्योंकि यह बात स्वाभाविक नहीं है कि सदा ही उस कुल में अच्छे और बुद्धिमान व्यक्ति ही पैदा हों। शासक वर्ग के ठाट बाट से रहने से फिजूल खर्च बढ़ जाता है जिससे जन साधारण की आर्थिक स्थिति सुधार नहीं हो पाती है। इस व्यवस्था में जनता

1. "The governments which have been remarkable in history for sustained mental ability and vigour in the conduct of affairs have generally been aristocracies." —J. S. Mill.
2. "It is everlasting priviledge of the foolish to be governed by the wise." —Carlyle.
3. "The very soul of aristocracy is moderation founded on virtues." —Montesquieu.
4. "The redeeming qualities of this form of government are its firmness of purpose, resistance to violent changes, distrust of warlike policy and enjoyment of genius." —Lord Brougham.

को शासन में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता है। वस्तुतः इस व्यवस्था में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होने से ही उसका अन्त करके जनतंत्र की स्थापना की गई है।

प्रजातंत्र
(Democracy)

आधुनिक युग प्रजातंत्र का युग है। अतः प्रत्येक देश चाहे पूंजीवादी हो या साम्यवादी अपने आपको प्रजातान्त्रिक कहने में अपनी प्रतिष्ठा समझता है।[1] प्रथम महायुद्ध के बाद इस पद्धति ने इतनी लोक प्रियता प्राप्त करली कि जिसके परिणाम स्वरूप अन्य पद्धतियां अर्थात राजतंत्र अथवा अधिनायकतन्त्र मिटते गये और इनके स्थान पर प्रजातन्त्र स्थापित होते गये।

प्रजातंत्र का अर्थ— प्रजातंत्र का शब्द 'डेमोक्रेसी' ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' (Demos) और 'क्रेतिया' (Cratia) से मिलकर बना है। जिसका अर्थ क्रमशः 'लोक' तथा 'शक्ति' या सत्ता होता है। अतः डेमोक्रेसी का अर्थ 'लोगों का शासन' होता है।

प्रजातंत्र की परिभाषा (Definitions of Democracy)

विभिन्न विद्वानों ने प्रजातन्त्र की विभिन्न प्रकार से परिभाषा की है जो निम्नानुसार है—

प्राचीन यूनानी लेखकों के अनुसार— यह ऐसी सरकार है जिसमें सत्ता जनता के के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में रहती है।

हीरोडोटस—प्रजातंत्र शासन का वह प्रकार है जिसमे राज्य की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समाज के हाथों में रहती है।[2]

लार्ड ब्राइस—प्रजातंत्र शासन के उस भेद या रूप को कहते हैं, जिसमें शासन शक्ति वैधानिक रूप से किसी विशेष श्रेणी या-वर्ग मे निहित नहीं होती वरन् समस्त बिरादरी (समाज) के सब व्यक्तियों में निहित होती है।[3]

सीले—"प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक मनुष्य भाग लेता है।"[4]

डायसी—"प्रजातंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासक होता है।"[5]

लेविस—प्रजातंत्र मुख्यतः वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग में भाग लेती है।"[6]

---

1 "The Soviet Union is the most democratic country in the world" —Stalin.

2. "Democracy is that form of government in which the supreme power of the state is in the hands of the community as a whole" —Herodotus.

3 "Democracy is that system of government in which the ruling power of the state is vested not in a particular class or classes, but in the members of the community as a whole." —Bryce.

4 "Democracy is a Government in which one has a share." —Seeley

5 "Democracy is a form of Government in which the governing body is comparatively a large fraction of the entire nation" —Dicey

6 "Democracy properly signifies a government in which the majority of the whole nation or community partakes of the sovereign power" —Lewis.

हॉल—"प्रजातंत्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियंत्रण रहता है।"[1]

प्रो. स्ट्रांग—"प्रजातंत्र का अभिप्राय ऐसी सरकार से है जो शासितों की सक्रिय स्वीकृति पर आधारित है।"[2]

अब्राहम लिंकन—"प्रजातंत्र का अर्थ प्रजा का शासन, प्रजा के लिए और प्रजा के द्वारा होता है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र की कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं है जो सर्वमान्य है तथा जिस पर सभी सहमत हों। अत: ओरवेल ने उचित लिखा है, "प्रजातंत्र शब्द की न केवल कोई सर्वमान्य परिभाषा है वरन् यदि ऐसा करने का प्रयास भी किया जाए तो उसका हर तरफ से विरोध किया जाता है क्योंकि आज प्रत्येक प्रकार की सरकार के समर्थक यह दावा करते हैं कि उनकी सरकार प्रजातंत्रात्मक है और यदि इस शब्द का कोई एक अर्थ निश्चित कर दिया गया तो वे इस शब्द का प्रयोग नहीं कर पायेंगे।"[4]

प्रजातंत्र की उपरोक्त सभी परिभाषाएं केवल उसकी शासन व्यवस्था के रूप में ही व्याख्या करती है। इन परिभाषाओं से केवल इतना ही स्पष्ट हो पाता है कि प्रजातंत्र में शासन की सर्वोच्च सत्ता के उपभोग का अधिकार किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि समाज के सब व्यक्तियों को प्राप्त होता है। राजनीतिक व्यवस्था के रूप में प्रजातंत्र राजनीतिक समानता, राजनीतिक स्वतंत्रता तथा बहुमत के आधार पर शासन का प्रतिपादन करता है। एक दृष्टि से ये सभी परिभाषायें अपूर्ण तथा संकीर्ण हैं। गिडिंग्स ने लिखा है, "प्रजातंत्र केवल शासन का ही रूप नहीं है वरन् राज्य का भी एक रूप है तथा समाज के रूप का भी नाम है या फिर तीनों का एक सम्मिश्रण है।"[5] वस्तुतः प्रजातंत्र का अर्थ इससे भी व्यापक है। प्रजातंत्र में राजनीतिक पहलू के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक पहलू भी सम्मिलित हैं। डा. आशीर्वादम् ने कहा है, "प्रजातंत्र मानवता के प्रति उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। प्रजातंत्र स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व भाव के द्वारा विरोधी सिद्धांतों में पारस्परिक मेल बैठाने का ठोस प्रयत्न है जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव बनाया जा सके कि वह अपनी शक्ति द्वारा अपने सर्वोदय कल्याण की सिद्धि कर सके।"

---

1. Democracy is that form of the political organisation in which public opinion has control" —Hall
2. "Democracy implies that Government which shall rest on active constant of the governed." —Strong
3. "Democracy is a government of the people for the people and by the people." —Abraham Lincloa
4. G. Orwell, Politics and the English Language in Selected Essay 1957 p. 149.
5. "Democracy may be either a form of government, a form of state, a form of society or a combination of all forms of the three." —Giddings

अतः हम कह सकते हैं कि प्रजातंत्र अनेक अर्थों है। एक सच्चे प्रजातंत्रीय समाज में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच या धर्म, जाति आदि किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं होता। ऐसे समाज में समस्त विशेषाधिकारों एवं उपाधियों का अन्त कर दिया जाता है। वास्तविक प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक समानता एवं सांस्कृतिक विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होने हैं। प्रजातंत्र शासन में व्यक्ति की मौलिक अच्छाइयों में विश्वास किया जाता है। इसमें मानवता को उद्देश्य मानकर सद्व्यवहार की प्रेरणा दी जाती है। एक सच्चा लोकतंत्रवादी मनुष्य हम उसे कह सकते हैं जो मानवता का पुजारी हो और समाज में सभी को अधिकार दिलवाने का पक्षपाती हो। वह स्वयं अपने को ही सत्य का ठेकेदार नहीं समझे बल्कि दूसरों के विरोधी दृष्टिकोणों को सुनने, समझने एवं ग्रहण करने की क्षमता रखता हो। इस प्रकार की मनोवृत्ति राष्ट्रीय एकता, प्रगति एवं आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

लोकतंत्र के आधार स्तम्भ
(Fundamentels of Democracy)

(1) स्वतन्त्रता (Liberty)—लोकतंत्र का मुख्य सिद्धांत स्वतंत्रता और समानता है। जितनी स्वतंत्रता प्रजा को लोकतंत्र में प्राप्त होती है उतनी अन्य किसी भी शासन व्यवस्था में नहीं मिलती है। परन्तु विभिन्न युगों में इस शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में इसका अर्थ मनमानी शक्ति और अन्यायपूर्ण कानूनों से मुक्ति प्राप्त करना था। बाद में धार्मिक और नागरिक स्वतंत्रता इससे जुड़ गई। फिर राजनैतिक स्वतन्त्रता का युग आया। इसके परिणाम स्वरूप अनेक देश दासता की बेड़ियों से मुक्त हुए। उसके बाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता ने बल पकड़ा जिसका अभिप्राय था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों के पूर्व विकास का अधिकार हो। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में विरोधी विचारों को दबाने की अपेक्षा उनका सम्मान किया जाता है। उनसे तालमेल बिठाने का प्रयत्न होता है। ब्रिटेन में विरोधी नेता को सरकारी कोष से वेतन मिलता है।

(2) समानता (Equality)—समानता लोकतंत्र की आत्मा है। यदि समानता पर बल न दिया जाए तो किसी व्यक्ति को अपने विकास का अवसर ही नहीं मिल सकता है। इसीलिए प्रजातंत्र में ऊंच-नीच, गरीब-अमीर, जात-पांत आदि के सभी भेदभावों को समाप्त कर ऐसे समाज का निर्माण करने का प्रयत्न किया जाना आवश्यक है कि जिसमें आर्थिक शोषण व सामाजिक अन्याय की अपेक्षा अधिकारों, परिस्थितियों, विचारों, भावनाओं और आदर्शों की समानता पर बल दिया जाता हो। अमेरिकी स्वातंत्र्य घोषणा में कहा गया है, "हम इस सत्य को स्वतः सिद्ध समझते हैं कि समस्त मनुष्य समान बनाये गए हैं कि उन्हें उनके सृष्टा ने कुछ अदेय अधिकार प्रदान किये हैं कि जीवन, स्वतंत्रता और आनन्द की खोज के अधिकार ऐसे ही अधिकार हैं।"[1] फ्रांस में भी मानवीय अधिकारों की घोषणा के

1. "We hold these truths to be self evident, that all men are created equal, that they are endowed by their ceator with certain inalienable Rights, that among these rights are life, liberty and the pursuit of Happiness."
—The American Declaration of Independence.

सम्बन्ध में समानता को इस प्रकार व्यक्त किया गया है, "विधि निर्माण में समस्त नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से या अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपनी इच्छा व्यक्त करने का अधिकार है इसलिए उन्हें सार्वजनिक पदों के प्राप्त करने का भी समान अधिकार है।"[1] क्रोजियर ने प्रजातन्त्र में समानता के अधिकार के महत्त्व को व्यक्त करते हुए लिखा है, "मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता ही प्रजातन्त्र का सार है।"[2]

भ्रातृत्व (Fraternety)—समान हित की प्राप्ति सभी के सहयोग से प्राप्त हो सकती है। अतः भ्रातृत्व भावना भी प्रजातन्त्र का आधार भूत सिद्धान्त है। बन्धुत्व की भावना से एक दूसरे के हित में कार्य करने की प्रेरणा से प्रेरित समाज ही सच्चा लोकतन्त्र स्थापित कर सकता है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि प्रजातंत्र समाज का वह व्यवहार है जिसमें स्वतन्त्रता, समानता व भ्रातृत्व की भावना स्वभावतः विद्यमान हो।

प्रजातंत्र के भेद

(Kinds of Democracy)

प्रजातन्त्र के दो भेद होते हैं—(i) प्रत्यक्ष या विशुद्ध प्रजातंत्र (Direct Democracy) तथा (ii) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधिक प्रजातंत्र (Indirect or Representative Democracy)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy)—

जब प्रभुसत्तावान जनता प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती है, कानून बनाती है, नीति निर्धारित करती है, तो हम उसे प्रत्यक्ष प्रजातंत्र कहते हैं। जहाँ पर प्रत्यक्ष प्रजातंत्र होता है, वहाँ पर राज्य की इच्छा का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति प्रभुसत्ता वान जनता द्वारा स्वयं अपनी सार्वजनिक सभाओं में की जाती है। हर्नशा के अनुसार "शुद्ध रूप में प्रजातन्त्र शासन, वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता के कार्य करती है।"[3] प्राचीन काल में भारत, चीन, रोम व प्राचीन यूनान में यह प्रथा प्रचलित थी। लेकिन प्रजातंत्र का यह रूप आज के विशाल देशों में लागू करना असंभव है। तथापि यह प्रथा अभी भी स्विट्जरलैंड के चार कैंटनों (राज्यों) अपनजेल (Appenzell) ऊरी (Uri), उंटर वाल्डन (Unterwalden), तथा ग्लारस (Glarus) में प्रचलित है। वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र केवल उन्हीं राज्यों में सम्भव हो सकता

1. "All citizens have a right to concur personally or through their representatives in making the law. Being equal in its eyes, then, they are all equally admissible of all dignities posts and public employment."

—The French Declaration of the Rights of Man and Citizen.

2. "The essence of democracy is the equality of man's material and social condition." —Crozier.

3. A democratic form of government, in the strict sense of the term is one in which the community as a whole, directly and immediately, without agents or representatives, performs the functions of sovereignty." —Hearnshaw.

है जिसका आकार छोटा हो ताकि यहां जनता के लिए यह सम्भव हो सके कि वह समय पर सार्वजनिक सभाओं में एकत्रित होकर अपने निर्णय दे सके।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रत्यक्ष प्रजातंत्र को स्विट्ज़रलैंड, अमेरिका के न्यू-इंगलैंड तथा सोवियत रूस में अपनाया गया है। जो प्रमुखतः निम्नलिखित हैः–

(1) लोक निर्णय (Referendum)

(2) उपक्रम (Initiatiev)

(3) प्रत्यावर्त्तन (Recall)

(4) लोकमत संग्रह (Plebiscite)

(1) लोकनिर्णय के अंतर्गत किसी प्रमुख विषय को जनता के सम्मुख निर्णय के लिए रखा जाता है। विधान सभा किसी भी नियम को कानून का रूप देने से पूर्व जनमत जान लेती है। जनमत उसके पक्ष में होने पर ही वह कानून बनता है। लोक निर्णय के अनुसार जनता प्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण में भाग लेती है। यह अनिवार्य भी हो सकता है और ऐच्छिक भी। स्वीट्ज़रलैंड में संवैधानिक संशोधनों पर अनिवार्य लोक निर्णय तथा अन्य कानूनों पर ऐच्छिक लोक निर्णय की व्यवस्था है।

(2) उपक्रम के अनुसार यदि जनता किसी विषय पर कानून बनवाना चाहती है तो वह स्वयं ऐसी मांग या कानून का मसौदा विधान सभा के पास भेज देती है और उस पर विधान सभा के लिए विचार करना अनिवार्य होता है।

(3) प्रत्यावर्त्तन के अनुसार जनता को एक निश्चित बहुमत के द्वारा विधान सभा मे भेजे गये अपने प्रतिनिधि को वापस बुलाने या उसे पदच्युत करने का अधिकार होता है। अमेरिका के कई राज्यों विशेषतः ओरीगन में इसका प्रयोग होता है।

(4) लोकमत संग्रह के अनुसार जनता की प्रत्यक्ष राय ली जाती है। इसके अन्तर्गत स्थायी व्यवस्था, महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न अथवा संविधान सम्बन्धी प्रश्न आते हैं। 1935 में सार (Sar) में इस प्रश्न पर लोकमत संग्रह किया गया था कि वह जर्मनी में सम्मिलित होना चाहता है या नहीं। भारत में भी जूनागढ़ को पाकिस्तान या भारत में मिलाने के संबन्ध में लोकमत संग्रह हुआ था।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का मुख्य लाभ यह है कि इसमें राज्य के कार्यों में जनता का सक्रिय सहयोग मिलता है। इसका दूसरा लाभ यह है कि इसमें सभी नागरिकों को राजकीय कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता है। तीसरा इसमें परस्पर विचारों का आदान प्रदान होता रहता है। इससे देश में सौहार्द पूर्ण वातावरण का निर्माण होता है। चौथा इसमें जनता को राजनैतिक प्रशिक्षण मिलता है। पांचवां इस व्यवस्था में जनता के प्रतिनिधि अनुत्तरदायी, मनमानी करने वाले व भ्रष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्तिम निर्णय करने की शक्ति जनता के पास ही रहती है।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में जहां अनेक गुण हैं वहां इसमें अनेक अवगुण भी हैं। प्रथम, एथेंस की भांति इसका लाभ कुछ ही व्यक्ति उठा पाते हैं। एथेंस में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र होते

हुए भी धर्म, जाति व लिंग के आधार पर भेदभाव व दास प्रथा का बोलबोला था। दूसरा बड़े राज्यों के लिए यह प्रणाली व्यावहारिक नहीं है। तीसरा, इसके नाम पर भ्रष्ट नेता अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। चौथा, सामान्य जनता में महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र
(Indirect Democracy)

आजकल संसार के अधिकांश देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र का ही प्रचलन है जहां राज्य की इच्छा का निर्माण सर्वसाधारण जनता द्वारा नहीं किया जाता बल्कि जनता अपनी इच्छा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से व्यक्त करती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है, "प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र वह होता है जिसमे सम्पूर्ण जनता अथवा उसका एक बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का उपभोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करता है जिन्हें वह समय-समय पर चुनता है।"[1] ब्लुशली ने लिखा है, "प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में नियम यह होता है कि जनता अपने कर्मचारियों द्वारा शासन करती है जबकि अपने प्रतिनिधियों के द्वारा कानून बनाती है और प्रशासन पर नियंत्रण करती है।"[2] इस प्रकार प्रतिनिधियों का निर्वाचन समय-समय पर होता रहता है और ये निर्वाचित प्रतिनिधि ही शासन का कार्य करते हैं। प्रतिनिधि प्रजातंत्र मे भी सत्ता जनता में ही निवास करती है। जनता कुछ निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और अवधि समाप्त होने पर दुबारा निर्वाचन होता है। यदि जनता अपने पुराने प्रतिनिधियों के कार्यों से प्रसन्न नहीं रहती है तो उनके स्थान पर अन्य प्रतिनिधि चुनकर भेजती है।

इस प्रणाली का सर्वप्रथम प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में हुआ। उसके बाद इसका प्रचलन बढ़ता ही गया। आज संसार के अधिकांश देशों में यह शासन प्रणाली लागू है।

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अनेक लाभ हैं—प्रथम तो इस प्रणाली के द्वारा बड़े से बड़े देश में भी जनता और सरकार का घनिष्ठ सम्बन्ध बना रह सकता है जिससे दोनों के उद्देश्य में एक रूपता आ जाती है। दूसरा, इसमें सरकार का संचालन जनता द्वारा निर्वाचित मंत्री करते हैं। जो जनता की प्रतिनिधि संस्था संसद के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी होते हैं। संसद किसी भी समय उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके उनको कार्य से मुक्त कर सकती है।

---

1. Indirect or representative democracy is one in which the whole people or some numerous portion of them exercise the governing power through deputies periodically elected by themselves."

—Mill. Representative government. P .51

2. "In the representative democracy the rule is that the people govern through its officials, while it lagislates and controls the administration through its representatives."
—Bluntschli

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र में अनेक दोष भी हैं। पहला, तो इसमें निर्वाचन के समय अत्यधिक उखाड़ पछाड़ होती है अतः योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति प्रायः इन सबसे दूर ही रहते हैं। दूसरा, व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाए तो अधिकांश जनता सरकारी कार्यों से उदासीन ही रहती है। तीसरा आधुनिक काल में शासकीय कार्य अत्यन्त जटिल हैं जो साधारण जन मानस की क्षमता से परे हैं। चौथा, उच्च पदों के लिए जन साधारण का निर्वाचन संभव नहीं होता है अतःउनके लिए सम्पन्न व्यक्तियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु ये प्रतिनिधि जन साधारण की कठिनाइयों से अनभिज्ञ होते है अतः इससे जनता में निराशा ही बढ़ती है।

प्रजातन्त्र के गुण
(Merits of Democracy)

प्रजातंत्र शासन में गुण और दोष दोनों ही है। जहाँ इस प्रथा के प्रशंसक इसकी प्रशंसा के पुल बांधते हैं वहाँ इसके आलोचक इसकी धज्जियां उड़ाने में नहीं चूकते हैं। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित गुण हैं।

लोक कल्याण की सम्भावना—प्रजातन्त्र शासन की मुख्य एवं प्रमुख अच्छाई यह है कि इसके अंतर्गत शासन कर्त्ताओं से यह आशा की जाती है कि वे सदा ही लोक कल्याण के लिए सजग और क्रिया शील रहेंगे। शासनकर्त्ता हमेशा शासन का कार्य जनता के हित में ही करने की चेष्टा करेंगे। इस शासन में जनता शासन सम्बन्धी अधिकार उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में देती है जिनसे उसे यह आशा होती है कि वे शक्तियां मिलने पर उनका दुरुपयोग नहीं करेंगे। प्रजातंत्र में शासन कर्त्ताओं का यह कर्त्तव्य होता है कि वे सजग रह कर जनता के कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करें।

(1) सार्वजनिक शिक्षण—प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत ही जनता का सर्वतोमुखी शिक्षण संभव है। क्योंकि इस व्यवस्था में जनता को निरंतर राजनैतिक दलों के प्रचार एवं निर्वाचन आदि का अनुभव होता है। राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक शिक्षा प्राप्त की हुई जनता अपने कर्त्तव्यों को भली भाँति समझने लगती है। वह स्वयं अपने देश के भाग्य का निर्माण करने वाली होती है। जैसा कि लार्ड ब्राइस ने कहा है, "राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है और स्वभावतः वह कर्त्तव्य की भावना के उच्चतर स्तर तक उठ जाता है, जिसका पालन उसे राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए करना पड़ता है।"[1] कर्त्तव्य की इस प्रकार की आवश्यकता जनता को उसके मत का मूल्य बता देती है। जनता में स्वार्थ का सर्वथा लोप हो जाता है और वे आदर्श नागरिक बन जाते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्रीय शासन में नागरिक शासन के कार्यों में सक्रिय भाग लेना सीख जाते हैं और उनमें आत्म निर्भरता का भाव जाग्रत हो जाता है। ये सभी गुण एक नागरिक को आदर्श नागरिक बनाने में

1. "The manhood of the individual is dignified by his political enfranchisement and thus he is usually raised to a higher level of the sense of duty which it throws him." —Bryce

सहायता देते हैं। बर्न ने ठीक लिखा है, 'सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं और सबसे अच्छी स्वशिक्षा है, इस लिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है जिसे लोकतंत्र कहते हैं।"[1]

(3) देशभक्ति का स्रोत—प्रजातंत्रीय शासन में नागरिकों में देश भक्ति की भावना जाग्रत होती है क्योंकि देश पर जनता का शासन है, किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं। परिणामस्वरूप नागरिकों में अपने देश के लिए प्रेम उत्पन्न होता है और अपने देश के लिए कार्य करने एवं मर मिटने के लिए तैयार हो जाते हैं। नागरिक यह समझने लगते हैं कि उनके देश का भाग्य उन्हीं के हाथों में है। अतः उनमें देशभक्ति जाग उठती है और वे जी-जान से देश के विकास में लग जाते हैं।

(4) क्रांति की सुरक्षा–प्रजातंत्र में शासक जनता द्वारा इस आशा से चुने जाते हैं कि वे जनता के समस्त हितों की पूर्ति करने तथा उसके कष्टों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करेंगे। जब जनता के प्रतिनिधि जनता के हित में कार्य करते हैं तो कभी भी क्रांति की संभावना नहीं रहती। यदि जनता को शासन कर्त्ताओं से कोई शिकायत होती है तो जनता उन्हें अपने पद से किसी भी समय हटा सकती है। प्रजातंत्र शासन जनता की अनुमति पर आधारित होने के कारण क्रांति को आशा नहीं देता। गिलक्राइस्ट ने उचित लिखा है, "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है अतः स्वभाव से वह क्रांतिकारी नहीं हो सकता।"

(5) समानता का आदर्श— प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था समानता के उच्च आदर्श पर आधारित है। सिद्धांतानुसार ऐसा कहना कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं तथा अन्य व्यक्ति शासित होने के लिए, अत्याचार है। प्रजातंत्रीय शासन में सभी व्यक्ति समान दृष्टि से देखे जाते हैं। अतः सब व्यक्तियों के स्वार्थों की समान रूप से रक्षा संभव होती है। इस शासन व्यवस्था में सबको समान अधिकार हैं और लाभ भी सबको समान रूप से ही प्राप्त होता है प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार होता है। लावेल के अनुसार "पूर्ण प्रजातंत्र में किसी को भी यह शिकायत नहीं होती है कि उसकी सुनवाई नहीं हुई।"[2]

(6) व्यक्तित्व के विकास का उत्तम साधन–प्रजातंत्र शासन स्वतंत्रता और समानता के आधार पर व्यक्तित्व के विकास का उत्तम साधन है क्योंकि जब व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेता है तो उसका मानसिक विकास होता है एवं दृष्टिकोण भी विशाल हो जाता है। वह स्वार्थ की भावना से बाहर निकल कर सामाजिक समस्याओं पर जनता के कल्याण के दृष्टिकोण से विचार करना सीख जाता है। उसके सहानुभूति, सहयोग, त्याग, समझौता, सहिष्णुता आदि गुणों का भी प्रादुर्भाव होने लगता है। इस

1. "All government is a method of education but the best education is self education, therefore the best government is self government which is democracy." —C. D. Burns
2. "In a complete democracy, no one can complain that he has not a chance to be heard." —Lowell

प्रकार प्रजातंत्र शासन में स्वस्थ नागरिकता का सुन्दर पाठ पढ़ाया जाता है। व्यक्तित्व के विकास का जितना सुन्दर अवसर इस शासन प्रणाली में मिलता है उतना अन्य किसी प्रणाली में उपलब्ध नहीं होता। बर्न्स ने ठीक लिखा है, "प्रत्येक शासन शिक्षा की एक पद्धति है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ शिक्षा आत्मा की होती है। इसलिए सर्वोत्तम शासन स्वशासन है जिसे प्रजातंत्र कहते हैं।"

(7) अधिक से अधिक मनुष्यों के विकास का समर्थक—प्रजातंत्र शासन बहुमत का शासन होता है। प्रजातंत्र में बिना किसी भेदभाव के सबको अधिक से अधिक उन्नति के अवसर प्रदान किये जाते हैं जबकि अन्य शासन प्रणालियों में वर्ग विशेष का ध्यान रखा जाता है। प्रजातंत्र में लोक कल्याण और साधारण जनता के विकास की भावना होती है। प्रजातंत्र के इस गुण के आधार पर ही मिल इसे सर्वोत्तम शासन प्रणाली कहता है। उसी के शब्दों में, "व्यक्ति के अधिकार और हित के बस उस समय ही सबसे अधिक सुरक्षित रह सकते हैं जब वह स्वयं उसकी रक्षा करने के लिए खड़ा हो जाता है।"[1] अतः प्रजातंत्र ही ऐसा शासन है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करके व्यक्ति को अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों की रक्षा करने के योग्य बनाता है। अधिक से अधिक मनुष्यों के हित का आदर्श प्रजातंत्र शासन के अलावा अन्य किसी शासन प्रणाली में संभव नहीं है।

(8) स्वतंत्रता का पोषक—प्रजातंत्र शासन में अन्य सभी शासन-प्रणालियों की अपेक्षा स्वतंत्रता अधिक सुरक्षित रहती है। भाषण, विचार, भ्रमण एवं सम्मेलन की जो स्वतंत्रता इस शासन में संभव है वह अन्य शासन व्यवस्थाओं में देखने को भी नहीं मिलती। इसमें नागरिकों को शासन की आलोचना करने एवं शासन कर्त्ताओं को पदच्युत करने का पूर्ण अधिकार होता है। इस शासन में स्वामी एवं सेवक का प्रश्न नहीं होता, क्योंकि इसमें शासक और शासित में किसी प्रकार का भेद नहीं होता।

(9) सामर्थ्यपूर्ण शासन—राजनीति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान गार्नर के अनुसार शासन की सुचारुता तथा क्षमता की जितनी अधिक गारंटी प्रजातंत्र देता है उतनी अन्य कोई शासन प्रणाली नहीं देती। यही एक ऐसा शासन है जिसमें सार्वजनिक उत्तरदायित्व एवं सार्वजनिक निर्वाचन की मान्यता प्रदान की जाती है। डा. अप्पादोराय ने उचित लिखा है, "प्रजातंत्र प्रणाली शासन का उत्तरदायित्व जनता को प्रदान करके उसके अन्दर बुद्धिमता, आत्मनिर्भरता, नवीन कार्य करने की प्रवृत्ति तक सामाजिक भावना को प्रोत्साहन प्रदान करती है।"[2]

1. "The rights and Interests of the indiuldual can best be safegauarded only when he is abel to stand up for them himself" —J. S. Mill.
2. "Democracy.........encourges the Intelligence, self reliance, initiative and social sence of free man by placing the ultimate responsibility for government of citizens themselves." —Appadori.

सहायता देते हैं। बर्न ने ठीक लिखा है, 'सभी साधन शिक्षा के साधन होते हैं और सबसे अच्छी स्वशिक्षा है, इस लिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है जिसे लोकतंत्र कहते हैं।"[1]

(3) देशभक्ति का स्रोत—प्रजातंत्रीय शासन में नागरिकों में देश भक्ति की भावना जाग्रत होती है क्योंकि देश पर जनता का शासन है, किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं। परिणामस्वरूप नागरिकों में अपने देश के लिए प्रेम उत्पन्न होता है और अपने देश के लिए कार्य करने एवं मर मिटने के लिए तैयार हो जाते हैं। नागरिक यह समझने लगते हैं कि उनके देश का भाग्य उन्हीं के हाथों में है। अतः उनमें देशभक्ति जाग उठती है और वे जी-जान से देश के विकास में लग जाते हैं।

(4) क्रांति की सुरक्षा—प्रजातंत्र में शासक जनता द्वारा इस आशा से चुने जाते हैं कि वे जनता के समस्त हितों की पूर्ति करने तथा उसके कष्टों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करेंगे। जब जनता के प्रतिनिधि जनता के हित में कार्य करते हैं तो कभी भी क्रांति की संभावना नहीं रहती। यदि जनता को शासन कर्ताओं से कोई शिकायत होती है तो जनता उन्हें अपने पद से किसी भी समय हटा सकती है। प्रजातंत्र शासन जनता की अनुमति पर आधारित होने के कारण क्रांति को प्रश्रय नहीं देता। गिलक्राइस्ट ने उचित लिखा है, "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है अतः स्वभाव से वह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"

(5) समानता का आदर्श— प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था समानता के उच्च आदर्श पर आधारित है। सिद्धांतानुसार ऐसा कहना कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं तथा अन्य व्यक्ति शासित होने के लिए, अत्याचार है। प्रजातंत्रीय शासन में सभी व्यक्ति समान दृष्टि से देखे जाते हैं। अतः सब व्यक्तियों के स्वार्थों की समान रूप से रक्षा संभव होती है। इस शासन व्यवस्था में सबको समान अधिकार हैं और लाभ भी सबको समान रूप से ही प्राप्त होता है प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार होता है। लावेल के अनुसार "पूर्ण प्रजातंत्र में किसी को भी यह शिकायत नहीं होती है कि उसकी सुनवाई नहीं हुई।"[2]

(6) व्यक्तित्व के विकास का उत्तम साधन—प्रजातंत्र शासन स्वतंत्रता और समानता के आधार पर व्यक्तित्व के विकास का उत्तम साधन है क्योंकि जब व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेता है तो उसका मानसिक विकास होता है एवं दृष्टिकोण भी विशाल हो जाता है। वह स्वार्थ की भावना से बाहर निकल कर सामाजिक समस्याओं पर जनता के कल्याण के दृष्टिकोण से विचार करना सीख जाता है। उसके सहानुभूति, सहयोग, त्याग, समझौता, सहिष्णुता आदि गुणों का भी प्रादुर्भाव होने लगता है। इस

1 "All government is a method of education but the best education is self education, therefore the best government is self government which is democracy"
—C. D. Burns.

2 In a complete democracy, no one can complain that he has not a chance to be heard."
—Lowell.

प्रकार प्रजातंत्र शासन में स्वस्थ नागरिकता का सुन्दर पाठ पढ़ाया जाता है। व्यक्तित्व के विकास का जितना सुन्दर अवसर इस शासन प्रणाली में मिलता है, उतना अन्य किसी प्रणाली में उपलब्ध नहीं होता। बर्न ने ठीक लिखा है, "प्रत्येक शासन शिक्षा की एक पद्धति है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ शिक्षा आत्मा की होती है। इसलिए सर्वोत्तम शासन स्वशासन है जिसे प्रजातंत्र कहते हैं।"

(7) अधिक से अधिक मनुष्यों के विकास का समर्थक—प्रजातंत्र शासन बहुमत का शासन होता है। प्रजातंत्र में बिना किसी भेदभाव के सबको अधिक से अधिक उन्नति के अवसर प्रदान किये जाते हैं जबकि अन्य शासन प्रणालियों में वर्ग विशेष का ध्यान रखा जाता है। प्रजातंत्र में लोक कल्याण और साधारण जनता के विकास की भावना होती है। प्रजातंत्र के इस गुण के आधार पर ही मिल इसे सर्वोत्तम शासन प्रणाली कहता है। उसी के शब्दों में, "व्यक्ति के अधिकार और हित के बल उस समय ही सबसे अधिक सुरक्षित रह सकते हैं जब वह स्वयं उसकी रक्षा करने के लिए खड़ा हो जाता है।"[1] अतः प्रजातंत्र ही ऐसा शासन है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करके व्यक्ति को अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों की रक्षा करने के योग्य बनाता है। अधिक से अधिक मनुष्यों के हित का आदर्श प्रजातंत्र शासन के अलावा अन्य किसी शासन प्रणाली में संभव नहीं है।

(8) स्वतंत्रता का पोषक—प्रजातंत्र शासन में अन्य सभी शासन प्रणालियों की अपेक्षा स्वतंत्रता अधिक सुरक्षित रहती है। भाषण, विचार, भ्रमण एवं सम्मेलन की जो स्वतंत्रता इस शासन में संभव है वह अन्य शासन व्यवस्थाओं में देखने को भी नहीं मिलती। इसमें नागरिकों को शासन की आलोचना करने एवं शासन कर्त्ताओं को पदच्युत करने का पूर्ण अधिकार होता है। इस शासन में स्वामी एवं सेवक का प्रश्न नहीं होता, क्योंकि इसमें शासक और शासित में किसी प्रकार का भेद नहीं होता।

(9) सामर्थ्यपूर्ण शासन—राजनीति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान गार्नर के अनुसार शासन की कुशलता तथा क्षमता की जितनी अधिक गारंटी प्रजातंत्र देता है उतनी अन्य कोई शासन प्रणाली नहीं देती। यही एक ऐसा शासन है जिसमें सार्वजनिक उत्तरदायित्व एवं सार्वजनिक निर्वाचन को मान्यता प्रदान की जाती है। डा. अप्पादोराय ने उचित लिखा है, "प्रजातंत्र प्रणाली शासन का उत्तरदायित्व जनता को प्रदान करके उसके अन्दर बुद्धिमत्ता, आत्मनिर्भरता, नवीन कार्य करने की प्रवृत्ति तथा सामाजिक भावना को प्रोत्साहन प्रदान करती है।"[2]

---

1. "The rights and interests of the individual can best be safeguarded only when he is abel to stand up for them himself." —J. S. Mill

2. "Democracy——encourges the intelligence, self reliance, initiative and social sense of free man by placing the ultimate responsibility for government of citizens themselves." —Appadorai

प्रजातन्त्र के दोष

(Demerits of Democracy)

प्रजातंत्र शासन प्रणाली के अनेक दोष भी हैं जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं:—

(1) अक्षमता का आदर्श:—प्रजातंत्रीय शासन को अक्षमता का आदर्श माना गया है। प्रजातंत्र शासन में गुणों की अपेक्षा संख्या पर अधिक बल दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को शासन करने के योग्य माना जाता है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में राजनैतिक समस्याओं को समझने की योग्यता नहीं होती। सर्वसाधारण जनता में राज्य के प्रशासन को समझने का सामर्थ्य नहीं होता। साधारण जनता तो यह भी निश्चय नहीं कर पाती कि उसका हित किसमें है। ऐसा अक्सर देखा जाता है कि शासन कर्ता अपने स्वार्थों को जनता के स्वार्थों से ऊंचा मानते हैं। अतः सार्वजनिक हित की साधना का स्थान वर्ग हित की साधना ले लेती है। सामान्य मतदाता में सही प्रतिनिधियों को चुनने की योग्यता नहीं होती। अज्ञानता के कारण मतदाता ऐसे व्यक्ति को अपना मत दे देते हैं जो शासन के योग्य नहीं होते। अयोग्य प्रतिनिधियों से शासन का जो रूप उपस्थित होता है उसे बहुत से आलोचकों ने निर्धनतम, अनभिज्ञतम लोगों का शासन (Cuet of Incompetence) कहा है।

(2) दल प्रणाली का अहितकारी प्रभाव—जनसंख्या के विस्तार के कारण आधुनिक युग में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र ही सम्भव है। इस कारण प्रजातंत्र में दल प्रणाली आधुनिक युग में अत्यन्त आवश्यक हो गई है। सिद्धांत रूप में तो दल प्रणाली बहुत अच्छी है परन्तु वह अपने व्यावहारिक रूप में प्रजातंत्र शासन को भ्रष्ट बना देती है। विभिन्न राजनैतिक दल एक दूसरे की बुराई करते हैं जिससे जनता यह भी नहीं जान पाती है कि कौनसा दल अच्छा है और कौनसा खराब। योग्य और अयोग्य प्रतिनिधियों की पहचान भी दल की आड़ में छिप जाती है। व्यक्ति जीतता तो है जनता के मत से लेकिन उसका लगाव होता है अपने दल से। इस कारण कई बार वह जनता के हित की अपेक्षा दल के हित का अधिक ध्यान रखता है। परिणाम स्वरूप प्रजातंत्रीय सरकार लोकतंत्रीय न रहकर दलतंत्रीय हो जाती है। ब्राइस ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, "राजनीतिक दल कपट को प्रोत्साहित करते, स्वाभाविक आदर्शों को हीन बताते और राष्ट्र के जीवन में फूट डालकर 'लूट' का माल बांट खाते हैं।"[1]

(3) धनवानों का शासन—कुछ लोग प्रजातंत्र को धनवानों का शासन कहकर पुकारते हैं क्योंकि इसमें प्रायः धनवान ही अपने धन के आधार पर निर्वाचित हो जाते हैं तथा शासन के कर्ता धर्ता बन बैठते हैं। चुनाव में एक दल दूसरे दल के कड़े मुकाबिले में होता है अतः मत एकत्र करने के लिए प्रत्येक दल को भारी मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है। जब वह दल चुनाव में जीत जाता है तो अपने पद का अनुचित लाभ उठाकर अपनी क्षति की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। प्रतिनिधि ऐसी ही विधि का निर्माण करते हैं जिससे उनके दल को लाभ मिले तथा जनता के हित की उन्हें विशेष चिन्ता नहीं रहती है।

1. "Political parties encourage hollowness and insincerity, create cleavages in the life of the nation, degrade normal standards & distribute the spoils" —Bryce.

मतदाता अपने मत देने में स्वतंत्र नहीं होते बल्कि वे धन के प्रलोभन में फँस जाते हैं। धनवान धन से मतों को खरीद कर उनका मनमाने ढंग से उपयोग करते हैं। इस प्रकार लोकतंत्र शासन लोकहितकारी न रहकर धनिकतंत्र का रूप धारण कर लेता है।

(4) धन व समय का अपव्यय—प्रजातंत्र शासन में धन एवं समय का बहुत अधिक अपव्यय होता है। इस शासन में कानून-निर्माण की प्रक्रिया में बहुत समय बर्बाद हो जाता है। जो कानून कुछ ही दिनों में बन सकता है उसकी प्रक्रिया इस प्रकार के शासन में वर्षों तक समाप्त नहीं होती। कानून निर्माण की इस लम्बी प्रक्रिया के अतिरिक्त बार-बार निर्वाचन हर विषय पर वाद-विवाद व समितियों का गठन, प्रतिनिधियों के वेतन आदि पर अनावश्यक व्यय हो जाता है। गैटेल ने ठीक कहा है, "प्रजातंत्र में न केवल अपव्यय होता है बल्कि इसके कारण प्रजातंत्र व्यवस्था को ही विनष्ट कर देने की प्रवृत्ति रहती है।"

(5) अनुत्तरदायी शासन—प्रजातंत्र शासन सैद्धांतिक दृष्टि से उत्तरदायी है परन्तु व्यवहार में यह अनुत्तरदायी सिद्ध होता है। यदि लोकतंत्र शासन उत्तरदायी होता तो प्रतिनिधि निर्वाचन होने के बाद भी जनता का ध्यान रखता, परन्तु यहाँ होता इसके विपरीत है। निर्वाचित होने के पश्चात् मंत्रीगण जनता के हित को भूल कर अपने स्वार्थ में लगे रहते हैं। कुछ आलोचक इस शासन को अनुत्तरदायी इसलिए भी कहते हैं कि इसमें समस्त शासन का उत्तरदायित्व कुछ लोगों में विभक्त हो जाता है। बर्क के अनुसार प्रजातन्त्र में कोई गलती की बार उस गलती में प्रत्येक भाग इतना छोटा होता है कि इसमें किसी को भी उसके लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। हर्नशा ने ठीक कहा है, "सार्वजनिक मामलों में मनुष्यों में ऐसी उदासीनता, असावधानी तथा मूर्खता का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है जिसका प्रदर्शन वह अपने व्यक्तिगत मामलों में कभी नहीं करते।" फेगेट ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, "प्रजातंत्र-शासन के अन्तर्गत शासन-सत्ता एक अव्यवस्थित भीड़ के हाथ में रहती है। अतः यदि किसी को कोई शिकायत करनी हो या विरोध करना हो तो किससे करें, यह बड़ा कठिन होता है।"[1]

(6) शासन में भ्रष्टता—प्रजातंत्र में शासन दल के कर्ता-धर्ताओं की इच्छानुसार किया जाता है इसलिए शासन भ्रष्ट हो जाता है। जिस दल का शासन होता है वह दल अपने दल के व्यक्तियों को ही उच्च पद प्रदान करता है। शासन के प्रतिदिन के कार्यों में उन्हीं भ्रष्ट व्यक्तियों का हाथ रहता है। यह भ्रष्टता यहीं तक सीमित नहीं रहती बल्कि व्यवस्थापन तक भी पहुँच जाती है। विधायक लोग भी ऐसा कानून नहीं बनाते जिसके कारण उनके दल के अन्य सदस्य अप्रसन्न हो जायें। अतः शासक वास्तविक रूप में शासन नहीं कर पाते। शासन के विभिन्न अधिकारी उन्हीं व्यक्तियों की प्रसन्नता की चिन्ता करते हैं जिनके हाथों में शासन की बागडोर रहती है।

1. "In democracy the sole governing power resides in a confused mass which offers no point to which a man can address him self if he has a complaint, a claim or an indignant protest to make." —Faguet.

(7) गलत राजनैतिक शिक्षा—वैसे तो कहा यह जाता है कि प्रजातंत्र में जनता को नागरिक शिक्षा मिलती है परन्तु वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के शासन में जनता को शिक्षा के स्थान पर अशिक्षा प्राप्त होती है। चुनाव के समय जनता के सम्मुख विभिन्न राजनैतिक समस्याएं बड़े ही विकृत रूप मे तथा दल के रंग में रंगी हुई प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक राजनैतिक दल समस्या को वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं करके इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि जिससे उसे जनता का समर्थन मिल सके। चुनाव में जाति, धर्म एवं बिरादरी की तो दुहाई दी जाती है तथा एक दूसरे पर उचित-अनुचित, सही-गलत सभी प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं। अतः कुछ आलोचक ठीक ही कहते हैं कि प्रजातंत्र शासन में राजनैतिक शिक्षा नहीं दी जाती है बल्कि जनता को राजनैतिक एवं सामाजिक कुशिक्षा प्रदान की जाती है।

(8) सर्वतोन्मुखी उन्नति का ढोंग—यह सत्य है कि प्रजातंत्र शासन मे राजनैतिक जीवन में चहल-पहल आ जाती है परन्तु इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि इसमें जीवन के अन्य क्षेत्रों में बिल्कुल निरसता आ जाती है। वास्तविकता तो यह है कि प्रजातंत्र शासन सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बिल्कुल ही अनुपयुक्त है। राजतंत्रीय शासन में राजाओं का प्रश्रय पाकर साहित्यकार, कलाकर तथा अन्य विद्वान् अपने आर्थिक जीवन की चिन्ता से मुक्त होकर कार्य करते हैं। यही कारण है कि राजतंत्र में साहित्य एवं कला की बहुत उन्नति होती है परन्तु प्रजातंत्र शासन में तो सभी व्यक्तियों को एक ही लाठी से हांका जाता है। प्रजातंत्र शासन में तो राजनैतिक नेता ही सब कुछ होता है। इस प्रकार इस शासन में मानव की सर्वतोन्मुखी उन्नति नहीं हो पाती है।

(9) स्वतंत्रता का शत्रु—लेकी और मेन के विचारों में स्वतंत्रता और प्रजातंत्र में कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रजातंत्र शासन में ही सुकरात जैसे दार्शनिक को विष का प्याला पीना पड़ा था। प्रजातंत्र शासन की दुहाई देने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका में क्या नीग्रो प्रजाति को अपनी उन्नति की उतनी स्वतंत्रता है जितनी श्वेत वर्ण के लोगों को है। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र बहुमत का शासन होता है। अतः 51 प्रतिशत का बहुमत 49 प्रतिशत के अल्प मत की अवहेलना कर अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं।

यद्यपि लार्ड ब्राइस प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक रहे हैं परन्तु उन्होंने भी इस पद्धति में अनेक दोष बतलाये हैं, जो मुख्यतया निम्नलिखित हैं।

(1) शासन व्यवस्था या विधान को विकृत करने में धन का प्रयोग।

(2) राजनीतिज्ञों द्वारा राजनीति को आय का साधन बनाने का प्रयास।

(3) शासन व्यवस्था में अत्यधिक व्यय।

(4) समानता के सिद्धान्त का दुर्व्यवहार और प्रशासनीय पटुता या योग्यता का उचित मूल्य न आंकना।

(5) दल बन्दी पर अत्यधिक बल।

(6) विधान सभा के सदस्यों तथा राजनीतिक अधिकारियों द्वारा कानून पास कराते समय मतों को दृष्टि में रखना।

प्रजातंत्र की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें
(Conditions necessary for the success of Democracy)

प्रजातंत्र व्यवस्था में उपरोक्त दोषों के होते हुए भी राजनीति शास्त्र के अधिकांश दार्शनिकों एवं विद्वानों के विचारों में प्रजातंत्र ही शासन की एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है। अनेक राजनीतिज्ञों की दृष्टि में यह एक आदर्श, पवित्र एवं समाज के सभी रोगों को दूर करने की रामबाण औषधि है। परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रजातंत्र की स्थापना से उतना लाभ प्राप्त नहीं हो सका जितनी कि उससे आशा थी। यही कारण है कि आज बहुत से देशों में इसे छिन्न-भिन्न करके तानाशाही की स्थापना की जा रही है। अतः इसके समर्थकों के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित है कि क्या वास्तव में प्रजातंत्र ही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसके द्वारा जनता को अधिकतम स्वतंत्रता एवं शांति प्राप्त हो सकती है। यदि वस्तुतः यह सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है तो फिर वे कौनसे ऐसे कारण हैं जो इस प्रणाली को दूषित करते हैं तथा उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ताकि प्रजातंत्र अपने आप में सफल बन सके।

(1) सामाजिक व आर्थिक समानताएं—यह बात निश्चित है कि प्रजातंत्र उन देशों में कभी भी सफल नहीं हो सकता जहां सामाजिक व आर्थिक स्थितियां असमान हों। जहां पर ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छुआ-छूत आदि का भेदभाव हो, वहां प्रजातंत्र की कल्पना साकार नहीं हो सकती। देश में सम्पत्ति का असमान वितरण भी प्रजातंत्र के सुचारू रूप से चलने में रुकावट डालता है। वस्तुतः सामाजिक प्रजातंत्र के साथ-साथ आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है।"[1] अतः प्रजातंत्र की सफलता के लिए सामाजिक और आर्थिक समानताएं अनिवार्य हैं। लास्की का कथन है कि जब तक असंख्य व्यक्तियों पर समाज का एक छोटा-सा सुविधा सम्पन्न वर्ग नियंत्रण करता रहेगा उस समय तक सामाजिक न्याय नहीं हो सकता। हनंशा ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "लोकतंत्र की मांग है कि एक ओर सुविधा सम्पन्न उच्चवर्ग अथवा लाभ उठाने वाले धर्मगुरुओं का वर्ग समाप्त हो, तो दूसरी ओर शोषित श्रमिक वर्ग समाप्त हो।"

(2) शिक्षा का प्रसार—प्रजातंत्र की सफलता के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा नागरिकों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान होता है। मिल ने तो शिक्षा की उपयोगिता बताते हुए यहां तक कहा है कि मताधिकार को अनिवार्य करने से पूर्व शिक्षा के द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खोल देने चाहिए क्योंकि इसके बिना सार्वजनिक समस्याओं पर विचार करने व निर्वाचनों में योग्य उम्मीदवारों का चयन करने की क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती है।

---
1. "Political Liberty without economic equality is a mere myth."

(3) स्वच्छ एवं स्वस्थ राजनीतिक दल—प्रजातंत्र शासन मे राजनैतिक दल बहुत सहायक होते हैं। फाइनर ने तो राजनैतिक दलों को 'अदृश्य सरकार' (Invisible Government) तक कह दिया है। अतः राजनैतिक दल प्रजातंत्र के लिए जीवनदायी स्वत हो गये हैं। परन्तु साम्प्रदायिकता एवं व्यक्तिगत वैमनस्य के आधार पर जिन दलों का निर्माण होता है वे सदा ही प्रजातंत्र की सफलता में बाधा उपस्थित करते रहते हैं। अतः इनके संगठन का आधार राजनैतिक और आर्थिक होना चाहिए तभी वे प्रजातंत्र को सफल बनाने में सहायता प्रदान कर सकते हैं।

(4) प्रजातंत्र में पूर्ण आस्था—प्रजातंत्र का आधार जनता है। अतः यदि जनता में प्रजातंत्र के प्रति आस्था न हो तो प्रजातंत्र की सफलता असम्भव है। इसलिए यह आवश्यक है कि जनता में प्रजातांत्रिक भावना व मान्यता के प्रति सच्ची लगन व आस्था हो। आइवर ब्राउन ने प्रजातंत्री धारणा को एक इच्छा शक्ति का कार्य बतलाते हुए लिखा है कि यदि जनसाधारण प्रजातंत्र की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहें और नागरिक अपने अधिकार और कर्तव्य के प्रति निरंतर सजग रहें तब ही प्रजातंत्र सफल बन सकता है।

(5) स्वस्थ और सही जनमत—स्वस्थ और सही जनमत लोकतंत्र का आधार है। अतः इसकी सफलता के लिए स्वस्थ एवं सच्चा जनमत अनिवार्य है। इसीलिए कहा जाता है कि सजग और कुशाग्र जनमत प्रजातंत्र की पहली आवश्यकता है।[1]

(6) राष्ट्रीय एकता की भावना—प्रजातंत्र की सफलता हेतु राष्ट्र मे एकता की भावना भी होनी चाहिए। एकता की भावना के कारण ही भौगोलिक, आर्थिक व सामाजिक विभिन्नताओं में रहते हुए भी व्यक्ति एक दूसरे के बन्धन में बंध सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि लोगों को जातीयता, प्रान्तीयता, स्थानीयता आदि संकीर्ण भावनाओं से परे रहना चाहिए।

(7) कानून का शासन—कानून का शासन प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है। प्रजातंत्र तभी जीवित रह सकता है जबकि शासन व्यक्ति विशेष या समूह विशेष की अपेक्षा सर्वमान्य कानून के अनुसार चले। कानून के शासन से अभिप्राय है न्याय की समानता अर्थात् सम्पत्ति, वर्ग, जाति, धर्म आदि विभेदों को अस्वीकार करते हुए कानून सभी पर समान रूप से लागू हो।

(8) स्थानीय स्वशासन का व्यापक विस्तार—स्थानीय स्वशासन प्रजातंत्र प्रणाली की सफलता का पहला पाठ है। इससे जनता को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिससे जनता में जागृति उत्पन्न होती है और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने की रुचि बढ़ती है। अल्फ्रेड स्मिथ ने लिखा है, "प्रजातंत्र के सभी रोगों का निदान अधिक प्रजातंत्र के द्वारा ही हो सकता है।"[2] प्रो. लास्की ने भी लिखा है, "ऐसा शासन जो स्थानीय नहीं है, पुंगत होता है और उसमें शासन की सफलता के लिए आवश्यक स्थितियों, अनुभवों एवं विचारों का अभाव-सा रहता है।"

---

1 "An alert and intelligent public opinion is the first essential of democracy."
2 All the ills of democracy can be cured by more democracy." —Alfred Smith.

(9) स्वतंत्रता का वातावरण—प्रजातंत्र की सफलता के लिए देश में स्वतंत्र वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। भाषण द्वारा सरकार की आलोचना करने की अधिक से अधिक स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(10) सहिष्णुता की भावना—प्रजातंत्र बहुमत का शासन होता है जिसमें अल्पमत को हमेशा भय बना रहता है। अतः बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों के साथ सहिष्णुता की भावना से काम करके उनके इस भय को निर्मूल कर देना चाहिए।

(11) आदर्श जीवन—राजतंत्र में तो यथा राजा तथा प्रजा वाली कहावत चरितार्थ होती थी जबकि प्रजातंत्र में यथा प्रजा तथा राजा (शासन) वाली कहावत लागू होती है। अतः प्रजातंत्र की सफलता के लिए जनता में ईमानदारी, सच्चाई, सार्वजनिक कार्यों में रुचि, उत्तरदायित्व की भावना आदि गुणों का समावेश रहना चाहिए। अर्थात् जनसाधारण में उच्चकोटि का चरित्र और समाज सेवा की भावना प्रजातंत्र के आधार भूत स्तम्भ हैं।

तानाशाही या अधिनायकतंत्र
(Dictetorship)

प्रजातंत्र की विरोधी तानाशाही व्यवस्था है जिसमें एक व्यक्ति द्वारा शक्ति के आधार पर शासन तंत्र संचालित किया जाता है अथवा जहां एकाधिकारवादी एक दलीय व्यवस्था होती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजी शासन की स्थापना, इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासी दल के शासन की स्थापना तथा आधुनिक काल में पाकिस्तान में याह्याखां के शासन इसी प्रकार की शासन व्यवस्था के उदाहरण हैं। विश्व के साम्यवादी देशों में एकाधिकारवादी साम्यवादी दल के शासन भी तानाशाही के ही उदाहरण हैं यद्यपि ये शासन स्वयं को जनता के प्रजातंत्र (People's Democracy) के नाम से पुकारते हैं क्योंकि इन व्यवस्थाओं में विचार, वाणी, लेखनी व संगठन संबंधी किसी प्रकार की स्वतंत्रता के लिये स्थान नहीं है। तानाशाही व्यवस्था में एक व्यक्ति अथवा एक दल ही सर्वस्व होता है और राज्य पर उसका एक छत्र शासन होता है।

तानाशाही व्यवस्था दोषपूर्ण ही है ऐसी बात भी नहीं है। इस व्यवस्था में भी कुछ गुण हैं। इसमें सरकार शक्तिशाली होती है और अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशल भी। साथ ही इसमें शासन के कार्य शीघ्रता से निपटाये जाते हैं तथा राज्य में अनुशासन और एकता अधिक व्यापक होती है। यही कारण है कि तानाशाही व्यवस्था को संकट काल के लिये अधिक उपयुक्त माना जाता है।

परन्तु तानाशाही व्यवस्था शक्ति पर आधारित है तथा इसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य का स्थान नहीं है। जहां शासन पर अधिकार शक्ति द्वारा स्थापित किया जाता है वहां क्रांति का भय भी सदैव बना रहता है तथा जनता में सरकार को अपना समझने की भावना एवं राष्ट्र भक्ति का भी अभाव रहता है जो इस व्यवस्था के प्रमुख दोष कहे जा सकते हैं।

एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणालियां
(Unitary and Federal Form of Government)

आधुनिक युग में राज्यों का दायित्व बढ़ जाने से उनके कार्यों को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए उन्हें कई इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। केन्द्र और इन ईकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर ही इन्हें एकात्मक और संघात्मक, शासन की संज्ञा दी जाती है।

एकात्मक सरकार (Unitary Government)—एकात्मक शासन प्रणाली में राज्य की समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास रहती है। यदि देश को प्रांतों, जिलों आदि इकाइयों में विभाजित भी किया जाता है तो केवल प्रशासनिक सुविधा के लिए। केन्द्रीय सरकार जब चाहे उनके क्षेत्र में परिवर्तन कर सकती है। उनका न तो अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व होता है और न अधिकार। संविधान की सारी शक्तियां केन्द्र में ही निहित रहती है और वह उनमें से कुछ इनको प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से प्रदत्त कर देती है।

एकात्मक सरकार की परिभाषा
(Definition of Unitary Government)

गार्नर—"यह (एकात्मक) शासन की वह प्रणाली है जिसमें संविधान एक केन्द्रीय शासन अथवा शासनों को सरकार की समस्त शक्तियां प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय शासनों को अपनी सारी शक्ति तथा अस्तित्व प्राप्त होता है।"[1]

हरमैन फाइनर—"एकात्मक शासन वह है जिसमें समस्त शक्तियां तथा अधिकार एक केन्द्र के पास होते हैं जिसकी इच्छा अथवा जिसके प्रतिनिधि वैधानिक रूप से सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्व शक्ति सम्पन्न होते हैं।"[2]

प्रो. स्ट्रांग—"एकात्मक सरकार वह है जो एक केन्द्रीय शासन में संगठित हो।"[3]

डायसी—"एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग ही एकात्मक शासन है।"[4]

विलोबी—"एकात्मक राज्य में शासन के सब अधिकार मौलिक रूप में एक सरकार के हाथ में रहते हैं। यह सरकार इच्छानुसार जैसे वह उचित समझती है उन शक्तियों का

---

1. "It is that system where the whole power of government is conferred by the constitution upon a single central organ or organs, from which the local governments derive whatever outhority or autonomy they may possess and indeed their very existance." —Garner.
2. "Unitary government is one in which all the authority and power are lodged in a single centre whose will and agents are legally omnipotent over the whole area." —H. Finer.
3. "A unitary state is one organised under a single central government." — C. F. Strong.
4. "Unitary government is the habitual exercise of supreme legislative authority by one central power." —Dicey.

वितरण क्षेत्रीय इकाइयों में करती है।"[1]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एकात्मक सरकार शासन का वह रूप है जिसमें समस्त प्रशासकीय शक्तियां एक ही केन्द्र में निहित रहती हैं। राज्य की विभिन्न इकाइयां उसी के द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करती हैं और इन इकाइयों को अन्ततः केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इन इकाइयों की शक्तियां किसी संविधान से संरक्षित नहीं होती हैं बल्कि केन्द्रीय इच्छा ही सर्वोपरि होती है और उसी का निर्णय अन्तिम होता है। इस प्रकार की शासन प्रणाली ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, जापान आदि देशों में विद्यमान है।

एकात्मक सरकार के लक्षण
(Characteristics of the Unitary Government)

(1) शासन शक्ति, केन्द्र में केन्द्रित रहती है।

(2) एकात्मक राज्य एक इकाई होता है। स्थानीय इकाइयां केन्द्र की आन्तरिक भाग होती हैं जो पूर्णतःकेन्द्राधीन होती है। उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है बल्कि प्रशासकीय सुविधा के लिए ही उनकी स्थापना की जाती है।

(3) केन्द्र और इन इकाइयों के बीच शासन शक्तियों का विभाजन नहीं होता है। अपितु समस्त सत्ता का मूल स्त्रोत केन्द्र ही होता है।

(4) केन्द्रीय सरकार सर्व सत्तामान होती है। इकाइयों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है बल्कि सरकार की एजेंट मात्र होती हैं।

(5) इन इकाइयों का कोई स्वतन्त्र संवैधानिक अस्तित्व नहीं होता है बल्कि केन्द्र की प्रदत्त शक्तियों का उपयोग मात्र करती है।

एकात्मक सरकार के गुण
(Merits of the Unitary Government)—

वैज्ञानिक आविष्कारों व अन्तर्राष्ट्रीय संकटों से आजकल सुदृढ़ सरकार की स्थापना की विचार धारा प्रबल होती जा रही है। गुडनो ने तो एकात्मक शासन का समर्थन करते हुए यहाँ तक कहा है कि यदि अमेरिका वासियों को एक नया संविधान बनाना पड़े तो वे ऐसा संविधान बनायेंगे जिसमें केन्द्र बहुत अधिक शक्ति शाली होगा। भारत में भी कई विरोधी दलों ने संविधान में परिवर्तन करके केन्द्र को और भी अधिक शक्तिशाली बनाने पर बल दिया है। इससे स्पष्ट है कि एकात्मक शासन में अनेक गुण हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है।

कुशल प्रशासन–एकात्मक शासन में केन्द्र तथा राज्यों में आपसी संघर्ष की संभावना नहीं रहती है। प्रांतों को केन्द्र द्वारा दिये गये आदेशों का अक्षरशःपालन करना

1. "In a unitary government, all the powers of the government are conferred in the first instance upon a single central government and the government is left in complete freedom to effect such a distribution of these powers, territorially as in its opinion is wise." —Willoughby.

पड़ता है। इसमें कानूनों का निर्माण व शासन का संचालन एक ही स्थान से होता है। दोहरी शासन प्रणाली नहीं होने से कार्य में प्रचुरमात्रा में कुशलता पाई जाती है।

(2) मितव्ययी-संघात्मक सरकार की अपेक्षा इस शासन प्रणाली में कम खर्च आता है क्योंकि इसमें संघात्मक शासन की तरह दोहरी शासन व्यवस्था नहीं रखनी पड़ती है।

(3) गृह एवं विदेश नीति में सुदृढ़ता-इस शासन प्रणाली में केन्द्र सुदृढ़ गृह एवं विदेश नीति का अनुसरण कर सकती है। इस नीति में राज्य सरकारें अड़चन उत्पन्न नहीं डाल सकती है साथ ही किसी भी मामले पर शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है और उसी तत्परता से उनको कार्यान्वित कराया जा सकता है।

(4) राष्ट्रीय एकता--एकात्मक शासन प्रणाली में सारी शक्तियाँ केन्द्र में निहित रहती हैं। अतः पूरे देश में एक ही नीति और एकसा ही कानून चलता है जो पूरे देश को एक सूत्र में बांधने में सहयोग प्रदान करता है।

(5) लचीलापन--एकात्मक शासन में सबसे बड़ा गुण इसका लचीलापन है। संघात्मक शासन की भांति इसके संविधान के संशोधन में जटिल प्रक्रिया में नहीं पड़ना पड़ता है। समय और परिस्थितियों के अनुसार इसके संविधान में सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। इस कारण विलोबी ने इसकी सराहना की है। शुल्ज ने लिखा है, "एकात्मक शासन प्रणाली का प्रमुख लाभ प्रादेशिक आधार पर होने वाली शक्तियों के वितरण तथा पुनः वितरण में परिवर्तन शीलता है।"[1]

(6) संघर्ष का अभाव---एकात्मक शासन में सारी शक्तियां केन्द्र के पास होती हैं। शासन की अन्य इकाइयां केवल मात्र उसकी एजेंट होती हैं। इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है और इनमे न किसी प्रकार के परस्पर अधिकारों का विभाजन रहता है। इसलिए परस्पर संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(7) सरल शासन---इसमें संघात्मक शासन की भांति न तो दोहरी शासन व्यवस्था होती है और न दोहरी नागरिकता। अपितु इसमें सीधा सरल और एकसा संविधान होता है।

(8) सङ्कट के समय भी उपयुक्त---संकट के समय के लिए भी एकात्मक शासन प्रणाली ही उपयुक्त रहती है क्योंकि इसमें सारी शक्तियां केन्द्र में निहित रहती है अतः आदेश देने और उन्हें क्रियान्वित कराने में कोई कठिनाई नहीं आती है।

एकात्मक शासन के दोष
(Demerits of unitary Government)

एकात्मक शासन में जहां कुछ गुण हैं वहां कुछ दोष भी हैं। इसके दोष संक्षेप में निम्नानुसार है:—

1. "The principle advantage of unitary system is its flexibility in the matter of distributing and redistributing powers an a terretorial basis." —S. B. Schulz.

(1) जनतंत्र विरोधी—जब तक शासन की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण नहीं होता तब तक जनता का पूर्णतः सहयोग प्राप्त नहीं होता है। इतना ही नहीं एकात्मक शासन में जनता की स्वतंत्रता का अपहरण होता है और उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं हो सकता है। प्रो. गार्नर ने लिखा है, "एकात्मक शासन के कारण स्थानीय जनता में अपनी ओर से कार्य करने की शक्ति मंद पड़ जाती है, सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के स्थान पर उत्साहीन दृष्टिकोण होता है, स्थानीय शासन की शक्ति दुर्बल हो जाती है और केन्द्रित नौकरशाही का विकास होता है।"[1]

(2) नौकरशाही का बोलबाला—एकात्मक शासन में जनता शासन व्यवस्था में अपेक्षाकृत कम हाथ बटा पाती है। इसमें अधिकांश शक्तियां सरकारी कर्मचारियों में केन्द्रित हो जाती है जिससे शासन के स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने का भय बन जाता है।

(3) अनुदार शासन—इसमें राज सत्ता कर्मचारियों में केन्द्रित हो जाती है जो परिवर्तन और प्रगतिशील विचारों के विरोधी होते हैं।

(4) विस्तृत क्षेत्र के लिए अनुपयुक्त—विस्तृत और विशाल क्षेत्रीय स्थान के लिए एकात्मक शासन अनुपयुक्त रहता है। बड़े देशों में विभिन्न प्रकार की जातियों और धर्मों के लोग निवास करते हैं। अतः उन पर एकात्मक शासन में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सकता है और न उनकी आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान ही हो सकता है। इसलिए विभिन्नता में एकता की भावना उत्पन्न करने के लिए संघात्मक शासन ही उपयुक्त व्यवस्था हो सकती है।

संघात्मक सरकार
(Federal Government)

'संघ' शब्द को अंग्रेजी में 'फेडरेशन' (Federation) कहते हैं। 'Federation' लेटिन भाषा के 'फोएडस' (Foedus) शब्द से निकला है। जिसका अभिप्राय 'संधि या समझौता' होता है। इस प्रकार शब्द के अर्थानुसार समझौते द्वारा निर्मित राज्य को संघ राज्य कहते हैं। संवैधानिक दृष्टिकोण से संघात्मक शासन व्यवस्था में कुछ स्वतंत्र राज्य अपने कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते हैं और शेष विषय अपने पास ही रखते हैं। इस प्रकार संघ सरकार की स्थापना लिखित समझौते अर्थात् संविधान के द्वारा होती है जिसमें केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच शासन शक्ति का स्पष्ट विभाजन होता है। इसमें केन्द्र और राज्यों की दोनों सरकारें अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में स्वतंत्र रहती हैं। उनके अधिकार क्षेत्र या सीमा परिवर्तन संविधान की संशोधन प्रक्रिया तथा उनकी सहमति से ही किया जा सकता है। इतना होने पर भी संघ के इन इकाई राज्यों को राज्य शिष्टाचार वश भले ही कहा जाय परन्तु वस्तुतः वे राज्य नहीं होते हैं क्योंकि इनको सम्प्रभुता प्राप्त नहीं होती है। अतः इस बुराई से बचने के लिए

1. "Unitary government tends to repress local initiative, discourages rather than stimulates interest in public affairs, impresses the vitality of the local government and facilitates the development of a centralised democracy." —Garner

परिसंघ (Confederation) व्यवस्था का प्रचलन हुआ है जिसके अन्तर्गत सदस्य राज्यों को अपनी सम्प्रभुता का परित्याग नहीं करना पड़ता है। संघ सरकार का सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। स्विट्जरलैंड, भारत, आस्ट्रेलिया, कनाडा, सोवियत रूस आदि देशों में भी संघीय शासन व्यवस्था है।

संघीय शासन व्यवस्था की परिभाषा

संघीय शासन व्यवस्था की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषा दी है जो निम्नानुसार है:—

डायसी—"संघात्मक राज्य राष्ट्रीय एकता शक्ति स्थिर रखने के साथ-साथ राज्य के अधिकारों की रक्षा करने का एक राजनैतिक उपाय है।"[1]

गार्नर—"संघात्मक सरकार वह पद्धति है जिसमें समस्त शासकीय शक्ति एक न्द्रीय सरकार तथा उन विभिन्न राज्यों अथवा क्षेत्रीय उपविभागों की सरकारों के बीच वभाजित एवं वितरित रहती है जिनको मिलाकर संघ बनता है।"[2]

जैलिनेक—"संघ राज्य कई राज्यों के योग से निर्मित एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य होता है जिसे शक्ति अपने निर्माणक राज्यों से प्राप्त होती है और ये राज्य परस्पर इस कार बंधे होते हैं कि उनके योग से एक राजनैतिक पूर्णता का निर्माण होता है।"[3]

फाइनर—"संघात्मक राज्य वह है जिसमें सत्ता एवं शक्ति का एक भाग संघीय इकाइयों में निहित रहता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था मे जो क्षेत्रीय इकाइयों के समुदाय द्वारा जान बूझकर सगठित की जाती है।"[4]

फ्रीमेन—संघात्मक शासन वह है जो दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध में एक समान हो परन्तु आन्तरिक शासन की दृष्टि से वह अनेक राज्यों का योग हो।"[5]

प्रो. स्ट्रांग—"एक संघात्मक राज्य कई राज्यों के मेल से बना एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य है जिसको अपनी शक्ति मेल करने वाले राज्यों से प्राप्त होती है और जिसमें वे

1. "A Federal state is nothing but a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of state rights" —Dicey.
2. A federal government is a system in which the totality of government powers are divided and distributed by the national Government and the government of the individual states or other territorial subdivisions of which the federation is composed." —Garner.
3. "A federal state is a sovereign state formed out of several states, the power of the former being derived form the states which compose it and in which the latter are bound together so as to from a political entity." —Jellinick.
4. "A federal state is one in which part of the authority and power is vested in the local area while another part is vested in a central institution deliberately constituted by an association of the local areas." —Finer.
5. "A federal government is one which forms a single state in its relation to other nations but which consists of many states with regard to internal government. —Freeman.

राज्य इस प्रकार बन्धे हुए रहते हैं कि एक राजनैतिक इकाई का निर्माण होता है।"[1]

हैमिल्टन—"संघात्मक शासन राज्यों का एक ऐसा समुदाय है जो नवीन राज्य की सृष्टि करता है।"[2]

मांटेस्क्यू—"संघात्मक सरकार एक ऐसा समझौता है जिसके द्वारा बहुत से राज्य एक जैसे राज्य के सदस्य बनने के लिए सहमत हो जायें।"[3]

संघ निर्माण की प्रक्रिया—संघ सरकार के स्थापना के सम्बन्ध में साधारणतया दो प्रक्रियायें चलती हैं। प्रथम, केन्द्रोन्मुखी प्रक्रिया (Centripital Process) और दूसरी केन्द्रपरामुखी प्रक्रिया (Centrifugal Process)। प्रथम पद्धति के अनुसार कई स्वतंत्र एवं सार्वभौम राज्य कुछ सामान्य उद्देश्यों जैसे सुरक्षा, व्यापार आदि की आवश्यकताओं की प्राप्ति हेतु परस्पर समझौता करके एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते हैं। इस प्रकार विभिन्न राज्य मिलकर एक नवीन राज्य का निर्माण करते हैं। वे अपनी सम्प्रभुता को इस नवीन राज्य को समर्पित कर देते हैं जो केन्द्र कहलाता है। सम्प्रभुता का परित्याग करने वाले राज्य उस नवीन राज्य की इकाइयां कहलती हैं। इस प्रकार के राज्य की स्थापना में यह प्रक्रिया नीचे से ऊपर की ओर चलती है। स्थानीय मामले उन राज्यों के पास ही यथावत् बने रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया आदि राज्य इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं। द्वितीय प्रक्रिया ऊपर से नीचे की ओर चलती है अर्थात् एकात्मक राज्य के विभिन्न प्रान्तों को अधिक स्वायत्तता प्रदान कर दी जाती है जिससे केन्द्र के पास कुछ सामान्य विषयों से सम्बन्धित व्यवस्था का दायित्व रह जाता है। जैसे सुरक्षा, विदेश नीति, व्यापार, आवागमन आदि। इस प्रकार एकात्मक सरकार ही संघ सरकार में परिवर्तित हो जाती है। 1935 में भारत को एकात्मक सरकार से संघात्मक सरकार में परिवर्तन करने का प्रयास हुआ था। कनाडा, ब्राजील, भारत आदि देश इस प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

संघ तथा परिसंघ (Federation and Confederation)

विभिन्न प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक संस्था की स्थापना करते हैं तो उसे परिसंघ कहते हैं। ओपेनहेम ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है, "राज्य-मंडल में कई सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य सम्मिलित होते हैं। उनका राज्य-मंडल बनाने का उद्देश्य होता है, अपनी आन्तरिक और वैदेशिक स्वतंत्रता को कायम रखना। तदर्थ वे इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संधि भी करते हैं। उक्त संधि के द्वारा जो संघ बनता है, उसको सदस्य राज्यों के ऊपर कुछ अधिकार अवश्य मिल

---

1. "A federal state is one in which a number of coordinate states unite for certain common purposes. .... In it, the powers of the central or federal authority are limited by certain powers to the units which have united for the common purposes."
2. "Federation is an association of states that forms a new one." —Hamilton.
3. "Federal government is a convention by which several similar states agree to become members of a large one." —Monstesque.

जाते हैं, किन्तु उक्त सदस्य राज्यों के नागरिक किसी प्रकार से परिसंघ संगठन के प्रति वफादार नहीं होते।"[1] हॉल ने लिखा है, "राज्य-मंडल ऐसा स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्यों का संघ है जो सदैव के लिए कुछ उद्देश्यों के लिए अपनी स्वतंत्रता को त्याग देते हैं और वे साझे की सरकार में इस प्रकार मिले होते हैं कि परिसंघ अंतर्राष्ट्रीय राज्य का स्वरूप धारण कर लेता है।"

बहुत से विद्वान संघ और परिसंघ में भेद नहीं करते हैं। यहाँ तक कि डायसी जैसे विद्वान ने भी इस भेद को स्पष्ट नहीं किया। कारण यह है कि दोनों की उत्पत्ति एक ही शब्द से हुई है। दोनों ही समझौते का परिणाम है तथा दोनों में ही केन्द्रीय शासन की स्थापना होती है। परन्तु इन दोनों में स्पष्ट रूप से निम्न बातों का अन्तर है:—

(1) संघ शासन की इकाइयां स्वतन्त्र तथा प्रभुता सम्पन्न नहीं होती है। जबकि परिसंघ के राज्य सम्प्रभु बने रहते हैं।

परिसंघ में एक ही नागरिकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति को उसी राज्य की नागरिकता उपलब्ध रहती है जिसका वह नागरिक है। उसे केन्द्रीय सत्ता की नागरिकता प्रदान नहीं की जाती है। जबकि संघ में प्रायः उसे राज्य और केन्द्र दोनों की अर्थात् दोहरी नागरिकता उपलब्ध होती है।

(3) परिसंघ की स्थापना से उसके सदस्य राज्यों की कानूनी व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आता है। उनमें पूर्व प्रचलित कानून ही प्रभावशाली रहते हैं। लीकॉक ने लिखा है कि कोई परिसंघीय कानून नहीं होते हैं। परन्तु संघीय शासन व्यवस्था में इसके विपरीत कानूनी प्रभाव पड़ता है क्योंकि इसमें नये कानून लागू किये जाते हैं।

(4) परिसंघ के सदस्यों में यदि युद्ध हो जाए तो वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध कहलायेगा जबकि संघ के सदस्य राज्यों में युद्ध हो जाये तो वह गृह-युद्ध ही कहलायेगा।

(5) संघ शासन व्यवस्था स्थायी होता है जबकि परिसंघ अस्थायी। यह निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है और उसकी पूर्ति के बाद उसका विघटन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी उससे पृथक होने का अधिकार होता है। जबकि संघ के सदस्य राज्य उससे पृथक नहीं हो सकते हैं।

संघीय शासन व्यवस्था में एक केन्द्रीय विधान मंडल की स्थापना की जाती है जिसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि रहते हैं। परन्तु परिसंघ में इस प्रकार के विधान मंडल की स्थापना का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(7) संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना का आधार संविधान होता है, जो केन्द्र और सदस्य राज्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण करता है। जबकि परिसंघ में कोई संविधान नहीं होता है बल्कि वह अन्तर्राष्ट्रीय संधि या समझौते का परिणाम होता है

1. "A confederacy consits of a number of full sovereign states linked together for the maintenance of their external and internal independence by a recognised international treaty into a union with organs of its own, which are vested with a certain power over the number states, but not over the citizens of these states." —Oppenheim

(8) संघीय शासन व्यवस्था केन्द्र और सदस्य राज्यों के बीच किये गये समझौते का परिणाम है फिर भी एक स्थापित होने के बाद न तो वे इस समझौते को तोड़ सकते हैं न संविधान में संशोधन किये बिना अपने अधिकारों को कम ज्यादा कर सकते हैं। जब कि परिसंघीय व्यवस्था में सदस्य राज्य केन्द्र की शक्ति समाप्त कर सकते हैं अथवा उसके अधिकारों में कमी बेशी की जा सकती है।

परिसंघ के उदाहरण

प्रो. गार्नर ने लिखा है, "इतिहास परिसंघों के उदाहरणों से भरा पड़ा है क्योंकि सुरक्षा तथा सामान्य हितों की वृद्धि के लिए पड़ोसी राज्यों में एक दूसरे से सहयोग करने का भाव उतना ही शक्तिशाली प्रमाणित हुआ है जितना कि व्यक्तियों में समाज बनाने की भावना।"

(1) प्राचीन युग—डोलस तथा अचयन लीग, लोसीयन।

(2) मध्य युग—स्विस परिसंघ, टैन्सर्कैटिक लीग, होलीरोमन एम्पायर आदि।

(3) आधुनिक युग—अमेरिकी परिसंघ (1781-1789), जर्मन परिसंघ (1815-1867) मलेशिया तथा अरब गण राज्य आदि।

परिसंघ के लाभ

(1) बाह्य आक्रमणों से बचाव।

(2) पारस्परिक आर्थिक सहयोग।

(3) राष्ट्रीयता, प्रादेशिकता, धार्मिकता आदि एकता के भावों का प्रदर्शन।

(4) शक्तिशाली राज्यों के अनुचित प्रभावों से सुरक्षा।

परिसंघ से हानियाँ

(1) बड़े राज्यों द्वारा छोटे राज्यों के शोषण का माध्यम।

(2) सदस्य राज्यों में अनुत्तरदायित्व की भावना में वृद्धि।

(3) अस्थायी नीतियाँ।

(4) षड्यन्त्र की प्रवृत्ति।

संघात्मक सरकार के अपेक्षित गुण

संघ सरकार की स्थापना के लिए कुछ आवश्यक बातें हैं जिनका होना आवश्यक है। डायसी के अनुसार "सदस्य राज्यों में संघात्मक शासन के निर्माण की दृढ़ इच्छा का होना अनिवार्य है।" प्रो. ह्वीयर ने लिखा है, "जो राज्य या जो समुदाय संघ बनाने के इच्छुक हों वे इतने संगठित और सशक्त भी हों कि संघीय व्यवस्था का सफलता के साथ निर्वहन कर सकें।" अतः संघात्मक शासन की निम्नलिखित आवश्यक शर्तें हैं।

(1) भौगोलिक सामीप्य—संघात्मक शासन के लिए यह बात बड़ी आवश्यक है कि संघ निर्माण करने वाले राज्यों में परस्पर भावनात्मक एकता पाई जाये। परन्तु यह तभी सकता है कि वह सारा क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से एक क्षेत्र लगे। बड़े बड़े पहाड़ों, विशाल

जंगलों अथवा जल से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की निकटता में रुकावट उत्पन्न न हो। तभी उनमें राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक समस्यायें एक समान पाई जायेंगी और उनके समाधान के लिए वे एकजुट होकर कार्य करने की भावना रख सकेंगे। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "दूरी से केन्द्रीय और स्थानीय सरकार दोनों में उपेक्षा और कठोरता उत्पन्न हो जाती है। जहाँ लोग एक दूसरे से बहुत दूर हों, वहाँ राष्ट्रीय एकता प्राप्त करना कठिन है।"[1]

(2) समान संस्कृति—संघ निर्मित लोगों में संस्कृति, इतिहास, धर्म, भाषा रक्त, जाति, आर्थिक राजनीतिक सामाजिक आदि की समानता होनी चाहिए। मिल ने लिखा है, "संघ निर्माण की अनिवार्य अनुकूलता जाति, भाषा, धर्म और राजनीतिक स्वार्थों की अनुकूलता है।" प्रो. ह्वीयर ने भी लिखा है, "इस प्रकार की असमानताओं से संघीय सरकार का निर्माण कठिन हो जाता है। अतः जहाँ तक हो सकता है इस प्रकार की असमानता से बचना चाहिए। जहाँ के लोगों में सामाजिक क्षेत्रों में बहुत अधिक असमानताएं विद्यमान हैं, वहाँ के लोग मिल-जुलकर काम नहीं कर सकते।"

(3) समान राजनीतिक संस्थाएं—संघीय सरकार की इकाइयों में समान राजनीतिक संस्थाएं भी होनी चाहिए। प्रो. ह्वीयर ने लिखा है, "जिन लोगों में समान राजनीतिक संस्थायें विद्यमान थी या जो समान राजनीतिक संस्थाओं के बीच विद्यमान थे, उन्हीं में संघ निर्माण की इच्छा पैदा हुई है।"

(4) सदस्य राज्यों में समानता—संघीय सरकार के राज्यों में बहुत बड़े पैमाने में विषमता नहीं होनी चाहिए अर्थात् जनसंख्या, क्षेत्रफल, धन, उत्पादन, ऐतिहासिक परम्पराओं आदि की दृष्टि से उनमें अधिक विषमता नहीं होनी चाहिए। मिल ने लिखा है, "संघवाद का सार यह है कि संघ में कोई एक राज्य अन्य की अपेक्षा इतना अधिक शक्तिशाली न हो कि अन्य कई के योग से भी वह बड़ा या सम्पन्न हो क्योंकि ऐसी स्थिति में वह अन्य एककों को दबायेगा और केन्द्रीय सरकार को भी प्रभावित करने का प्रयत्न करेगा।" प्रो. ह्वीयर ने भी लिखा है, "छोटे और बड़े एककों में सन्तुलन होना चाहिए ताकि छोटे एकक अपने अधिकार क्षेत्रों की मर्यादा की रक्षा कर सकें और बड़े एकक छोटे को परेशान न कर सकें।"

संघात्मक शासन के गुण

संघात्मक शासन व्यवस्था आधुनिक युग की एक प्रथा बन गई है। कहा जाता है कि "जिस प्रकार मध्य युग में एक सामान्य प्रवाह सामन्त प्रथा की ओर था या पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में निरंकुश स्वेच्छाचारिता की ओर था, उसी प्रकार आजकल प्रवाह संघवाद की ओर है।" सिजविक ने लिखा है, "जब हम भूत से भविष्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो शासन व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें संघ व्यवस्था के विकास

1. "Distance leads of carelessness or callousness on the part of both central and local government. National Unity is difficult to attain where the people are too far apart." —Gilchrist.

की सबसे अधिक संभावना प्रतीत होती है।"[1] प्रो. लास्की ने तो सम्पूर्ण समाज को संघवाद प्रणाली पर आधारित माना है। मिल ने लिखा है, "यदि कार्य-कुशलता एवं स्था संघात्मक व्यवस्था को आवश्यक दशाएं विद्यमान हों तो इस प्रकार के संगठनों की जित संख्या होगी संसार के लिए उतना ही अच्छा होगा।"[2] अतः संघात्मक व्यवस्था निम्नलिखि गुणों के कारण विश्व की एक महत्वपूर्ण प्रणाली मानी जाती है।

(1) आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद—संघात्मक शासन आर्थिक दृष्टि से भी लाभप्र है। इस व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्य दोनों ही मिलकर आर्थिक उत्थान में सहयोग प्रदा करते हैं। इसके अतिरिक्त सामूहिक सुरक्षा व व्यवस्था के कारण व्यय भी कम पड़ता है विशाल क्षेत्र होने से व्यापार का दायरा बढ़ जाता है किसी क्षेत्र के अभाव की पूर्ति हो में आसानी रहती है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व आर्थिक नियोजन के लिए भी सुवि संभावना रहती है।

(2) राष्ट्रीय एकता व क्षेत्रीय स्वाधीनता का अद्भुत मेल—इस प्रणाली के अन्त गंत राष्ट्रीय एकता व क्षेत्रीय स्वाधीनता का मेल होता है। छोटे बड़े राज्य मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं तथा साथ ही वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी कायम रखते हैं। इस प्रथा के द्वारा अनेक राज्य परस्पर एक सूत्र में बंधते हैं। इससे विभिन्नता में एकता स्थापित होती है। डायसी ने लिखा है कि संघ राज्य एक ऐसा राजनीतिक उपाय है जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति को राज्य अधिकारों के साथ-साथ समन्वित किया जाता है।

(3) विशाल देशों के लिये उपयुक्त—संघवाद उन विशालकाय देशों के लिए भी उपयुक्त प्रणाली है जहाँ विभिन्न धर्म, जाति, भाषायें, संस्कृति आदि के लोग निवास करते हैं। इसीलिए अमेरिका, रूस, भारत जैसे विशाल देशों ने इस प्रणाली को अपनाकर अपनी सुदृढ़ता का परिचय दिया।

(4) प्रशासनिक कुशलता—बड़े-बड़े राज्यों के लिए यह सर्वोत्तम प्रणाली है। क्योंकि एकात्मक शासन प्रणाली में स्थानीय हितों की उपेक्षा होने से प्रशासनिक कुशलता स्थापित नहीं हो सकती है।

(5) विश्व संघ की ओर—इस प्रणाली से विशाल मानव जाति को बड़े पैमाने पर शांति व सुरक्षा प्राप्त होती है। उनमें परस्पर सहयोग उत्पन्न होता है और सार्वजनिक हित में वृद्धि होती है। इससे विश्व संघ की स्थापना के संकेत भी मिलते हैं कि यदि सभी राज्य अपना-अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करके विश्व संघ बनायें तो बन सकता है।

---

1. "When we turn our gaze from the past to future an extension of federation seems to me the most probable of the political properties relating to the form of government." —Sidgwick.

2. "When the conditions exist for the formation of efficient and favourable federal unions, the multiplication of them is always a benefit to the world." —J. S. Mill.

(6) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा--संघ राज्य अनेक राज्यों के मेल से बनता है जिसमें सभी राज्यों की शक्ति एकत्रित हो जाती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी प्रतिष्ठा व ख्याति बढ़ जाती है।

(7) मानव हितकारी--संघात्मक शासन प्रणाली ने यह सिद्ध कर दिया कि अपने तुच्छ स्वार्थों का परित्याग करके मानव हित की दृष्टि से व्यापक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है। यदि यही दृष्टिकोण कुछ और आगे बढ़कर विश्वसंघ में परिणित हो जाय तो विश्व की सम्पूर्ण मानव जाति अभावों व कष्टों से मुक्त हो जाये तथा युद्ध की लपेटों से बच जाये।

(8) निरंकुशता व अधिनायकवाद का विरोधी--केन्द्रीय सरकार निरंकुश व स्वेच्छाचारी बन जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता से बचने का यह उपयुक्त तरीका है। केन्द्र तथा सदस्य राज्यों के बीच अधिकारों का स्पष्ट विभाजन रहता है तथा संविधान और न्यायपालिका उनका कठोरता से पालन कराती है। ब्राइस ने भी लिखा है कि संघीय सरकार के निरंकुश होने की कम गुंजाइश रहती है।

संघात्मक सरकार के दोष--उपरोक्त गुण होते हुए भी संघात्मक सरकार में अनेक दोष हैं जो मुख्यतया निम्नलिखित हैं।

(1) परस्पर संघर्ष की सम्भावना--संघात्मक सरकार में पृथकतावादी भावनाओं के उभरने का भय सदैव बना रहता है। प्रत्येक सदस्य राज्य की पृथक् पृथक् कार्य पालिका व विधान सभा होती है अतः कभी-कभी उनमें स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त करने की भावना उग्र हो जाती है। जिसका अन्तिम परिणाम गृह युद्ध होता है। सन् 1862 मे अमेरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी भागों का युद्ध इसका इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण है।

(2) रूढ़िवादी--संघात्मक व्यवस्था मे संविधान सरलता से परिवर्तित होने वाला नही होता है अतः प्रगतिशीलता के मार्ग में रुकावट पैदा होती है।

(3) कमजोर शासन--डायसी का कहना है कि एकात्मक शासन की अपेक्षा संघात्मक शासन दुर्बल होता है। शक्ति विभाजन और विकेन्द्रीकरण के कारण सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं हो पाती है। साथ ही निर्णय में शीघ्रता, एक रूपता व दृढ़ता नहीं आ पाती है। संकटकालीन परिस्थितियों में केन्द्र को राज्यो के अनुग्रह और सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है।

(4) कानूनी सत्ता का अनावश्यक महत्व--संघीय शासन में कानूनी सत्ता को अनावश्यक रूप से महत्व दिया जाता है। संविधान के संरक्षक के रूप में उसे प्रतिष्ठित किया जाता है जिसके कारण कभी कभी वह अनावश्यक लाभ भी उठाती है।

(5) दोहरा खर्च--संघात्मक सरकार मे दोहरी शासन प्रणाली के कारण दोहरा व्यय होता है और कभी-कभी अपव्यय की भी संभावना रहती है।

(6) अकुशल शासन--संघात्मक सरकार मे द्वैध शासन प्रणाली के कारण शासन में दक्षता व कुशलता नहीं आ पाती है और परस्पर उत्तरदायित्व हीनता की भावना बढ़ जाती है।

अन्त में, भारत के राज्यों में संघात्मक सरकार के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—(1) कमजोर परराष्ट्र नीति (2) संघ सरकार का राज्यों तथा नागरिकों पर दुर्बल-प्रभाव (3) राज्यों के पृथक होने का भय (4) सदस्य राज्यों की आपसी गुटबन्दी (5) संघ की विधि निर्मात्री शक्ति पर नियंत्रण (6) शासन और कानून में एकरूपता का अभाव और (7) अधिक खर्च, कष्ट तथा देरी।

एकात्मक और संघात्मक शासन में अन्तर

दोनों शासन प्रणालियों में निम्नलिखित अन्तर है।

एकात्मक	संघात्मक
(1) प्रान्त तथा प्रशासकीय इकाइयाँ सरकार पर पूर्णतः आश्रित होती हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है।	(1) संघ सरकार की इकाइयाँ उन विषयों में पूर्ण स्वतंत्र होती हैं जो उनके अधिकार की होती हैं।
(2) शक्ति का विभाजन नहीं होता है।	(2) केन्द्र तथा सदस्य राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन रहता है।
(3) सरकार केन्द्रीभूत होती है उसका एक ही समूह रहता है।	(3) सरकार के केन्द्र और राज्य दो स्पष्ट समूह होते हैं।
(4) संविधान की सर्वोच्चता नहीं होती है बल्कि उसमें जब चाहे परिवर्तन किया जा सकता है।	(4) संविधान की सर्वोच्चता होती है। केन्द्र तथा सदस्य राज्य संविधान के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा उसमें परिवर्तन सरलता से नहीं किया जा सकता है।
(5) सरकार का केन्द्रीयकरण रहता है। सारे निर्णय केन्द्र द्वारा ही लिये जाते हैं।	(5) संघ सरकार विकेन्द्रीकरण पर आधारित होती है। सारी शक्ति केन्द्रीभूत न होकर इकाइयों में विभाजित रहती है।
(6) संविधान के संरक्षण हेतु सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता नहीं होती है तथा जो भी न्यायपालिका होती है उसे संसद के नियमों को अक्षरंश पालन करना होता है। वह उन्हें अवैध घोषित नहीं कर सकती है।	(6) सर्वोच्च न्यायालय का अत्यधिक महत्व होता है जो संविधान के अनुसार चलता है अर्थात् संविधान का संरक्षक होता है तथा संविधान विरोधी संसदीय कानूनों को अवैध घोषित कर सकता है।
(7) सरकार पूर्ण रूप से एकात्मक होती है। प्रान्त पूर्णतः नियंत्रित और आज्ञापालक होते हैं।	(7) संघीय सरकार में एकता और विभिन्नता का अपूर्व सामंजस्य होता है।
(8) देश का विभाजन प्रशासनिक दृष्टि से होता है न कि समझौते के आधार	(8) प्रत्येक इकाई का अपना अधिकार होता है। अतः केन्द्र किसी भी इकाई

पर। अतः जब चाहे इसे समाप्त या इसमें रद्दोबदल किया जा सकता है।	को समाप्त अथवा उसमें परिवर्तन अपनी स्वयं की इच्छा से नहीं कर सकता है।
(9) एकात्मक सरकार मितव्ययी होती है। उसमें व्यय कम और कार्यकुशलता अधिक होती है।	(9) दोहरी शासन प्रणाली होने से व्यय अधिक होता है और फिर भी कार्य-कुशलता में संशय बना रहता है।
(10) एकात्मक शासन प्रणाली प्रगतिशील होती है क्योंकि उसके नियम लचीले और आसानी से परिवर्तित हो सकते हैं।	(10) संविधान लिखित होता है जिसमें परिवर्तन करने के लिये एक प्रक्रिया विशेष का सहारा लेना पड़ता है। अतः समय के अनुकूल प्रगतिशील प्रशासन प्रदान नहीं किया जा सकता है।
(11) एकात्मक शासन प्रणाली छोटे देशों के लिए उपयुक्त होती है।	(11) संघात्मक शासन विशालकाय देशों के लिए उत्तम रहता है।
(12) एकात्मक शासन प्रणाली में केन्द्र और प्रान्तों में संघर्ष की संभावना नहीं रहती है क्योंकि प्रान्त पूर्णतः केन्द्र के अधीन होते हैं।	(12) संघात्मक शासन प्रणाली में केन्द्र और सदस्य राज्यों में संघर्ष का भय बना रहता है। कभी-कभी सदस्य राज्य अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए लाला-यित हो उठते हैं और विद्रोह करने का प्रयास करते हैं।
(13) इकहरी नागरिकता होती है।	(1) दोहरी नागरिकता होती है।
(14) पृथक्करण की भावना का कोई स्थान नहीं होता है, राष्ट्रीय भावना का खूब विकास हो जाता है।	(14) राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा स्थानीय और पृथक्करण की भावना का भय हमेशा बना रहता है।
(15) स्थानीय गुणों तथा स्वायत्तता का विकास नहीं होता है।	(15) स्थानीय गुणों व स्वायत्तता को पूर्ण प्रोत्साहन मिलता है।
(16) कानून में समरूपता बनी रहती है।	(16) केन्द्र तथा राज्यों के पृथक-पृथक अर्थात् दोहरे कानून होते हैं।
(17) एकात्मक शासन में स्थानीय सम-स्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता है।	(17) संघीय शासन में विकेन्द्रीकरण होने से स्थानीय समस्याओं का स्थानीय समाधान आसानी से हो जाता है।
(18) केन्द्र में निरंकुश सत्ता होती है।	(18) संघात्मक सरकार में संविधान की सर्वोच्चता होती है अतः सरकार के निरंकुश होने की संभावना नहीं रहती है।

संघवाद का भविष्य
(Future of Federation)

संघात्मक शासन की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर उन्मुख है। सैट (Salt) ने लिखा है, "राज्य विकास के क्रम में नीचे से ऊपर की ओर प्रगति कर रहे हैं। राज्य से पहले एक समझौते का स्वरूप था। समझौते से परिसंघ तथा परिसंघ से संघ का रूप बना। अब में, संघ से राज्यों का एकात्मक संगठन बना। इस प्रकार राज्य के विकास इन उत्तरोत्तर क्रमों को जैविक क्रमों के रूप में देखा जा सकता है।" प्रो. विलोबी ने लिखा है, "संघ की स्थापना होते ही संघ की इकाइयां पृथक होना प्रारम्भ हो जाती है।"[1] प्रो. सिजविक ने संघात्मक प्रणाली को एक क्षणिक स्थिति ही स्वीकार किया है। प्रो. ह्वीयरे ने लिखा है, "केवल केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में ही वृद्धि नहीं हुई है, साथ में प्रान्तीय सरकार की शक्तियों में भी विकास हुआ है सभी संघों में प्रान्तीय सरकारें अब वे कार्य करती हैं जो संघ की स्थापना के समय या तो बिल्कुल करती ही न थीं अथवा बहुत ही कम रूप में करती थीं।" लिप्सन ने कहा है, "बीसवीं शताब्दी में राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान के दबाव में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्थाएं समाप्त हो रही हैं, चाहे वह व्यवस्था एकात्मक सरकार में स्थानीय स्वराज के रूप में थी अथवा संघीय राज्यों के अधिकार के रूप में आधुनिक समाज में। लगभग सभी प्रवृत्तियां केन्द्रीकरण की दिशा में संगठित हो रही है अर्थात् आधुनिक समाज तेजी से केन्द्रीकरण की नीति को अपना रहा है।"[2] अन्य आलोचक कहते हैं, "आर्थिक नियोजन और संघवाद का मेल नहीं है। आर्थिक नियोजन का स्वरूप राष्ट्रीय होता है और यह एकता का परिचायक है जबकि संघ की स्थापना विभाजन और विभेदों के आधार पर की जाती है।" परन्तु इन विद्वानों ने जो क्षणिक माना है वह भ्रमपूर्ण विचारधारा पर आधारित है, वास्तविकता कुछ इसके विपरीत है। प्रो. ह्वीयर ने लिखा है, "संघीय सरकार का भविष्य उतना अन्धकारमय नहीं है जितना कि वे लोग समझते हैं जो यह कहते हैं कि केन्द्रीय सरकारें राज्यों के अधिकार छीन कर मोटी होती जा रही हैं। प्रत्येक संघ में अधिकतर राज्य आज भी संघ के पक्ष में हैं। इसी लिए अभी तो यह नहीं कहा जा सकता है कि संघीय सरकारें नहीं रहेंगी और उनका स्थान एकात्मक सरकारें ले लेंगी।"[3] अतः

1. "From the moment the system of multiple government is adopted the tendency is for efforts to be made to get away from the consequences of the decisions that have been made." —Willoughby
2. "Older patterns of decentralisation whether in the form of local outonomy under a unitary system or of states rights in a federal union were doomed to dissolve in the corrosine acids of twentieth century politics, economics and technology virtually all the great driving forces in mordern society combine in a centralist direction." —Lipson.
3. "The prospect of federal government is not so short as is suggested by those who concentrate entirely on the tendency of the central government to encrease at the expense of the regions. Federal government is still desired by some regions in all the federations. There is no conclusive evidence that federal government is to be no more then a stage in the process towards unitary government." —Wheare.

इनसे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संघवाद का भविष्य उज्ज्वल है क्योंकि यही एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा आधुनिक युग में जहाँ प्रत्येक देश में विभिन्न संस्कृतियां, भाषायें, धर्म आदि पाये जाते हैं वहाँ इसके द्वारा एकता स्थापित की जा सकती है। प्रो. विलोबी ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है, "हमको यह मानना पड़ेगा कि संघात्मक शासन प्रणाली के विकास के भूतकाल में भी हमको लाभ पहुंचाया था और भविष्य में भी इसके द्वारा एक साँझी सरकार के नीचे अनेक ऐसे लोग शरण लेंगे जो कुछ भावावेशी कारणों से अपनी प्रादेशिक स्वतन्त्रता त्यागने को तैयार नहीं हैं यद्यपि उनके समान राजनैतिक हित हैं।"[1] अन्त में ह्वीयर के शब्दों में कह सकते हैं, "वह एकता के सूत्र में अनेक राज्यों को पिरोता है। जहाँ एकता की आवश्यकता होती है वहाँ संघवाद के द्वारा एकता प्राप्त की जा सकती है। यही नहीं, सब बात इस बात की गारण्टी देता है कि जिन बातों में एकता और समानता की निताःत आवश्यकता नहीं है वहाँ वह भिन्नता और स्वतंत्रता की भी रक्षा करता है।"[2]

संसदीय शासन और अध्यक्षात्मक शासन
(Parliamentary government and Presidential government)

शासनों का एक वर्गीकरण संसदीय सरकार और अध्यक्षात्मक सरकार के नाम से किया गया है। यह वर्गीकरण सरकार के प्रमुख अंग व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। बेजहॉट ने संक्षेप में ही यह लिख दिया है कि "व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक दूसरे से स्वतंत्रता अध्यक्षात्मक सरकार का विशिष्ट लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से संयोग तथा घनिष्टता संसदीय सरकार का।"[3]

संसदीय सरकार का अर्थ—जब कार्यपालिका, व्यवस्थापिका या संसद के प्रति उत्तरदायी होती है तो उसे संसदीय सरकार कहा जाता है। इसीलिए इसे उत्तरदायी सरकार तथा मंत्रि मंडलात्मक सरकार भी कहते हैं। इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का एकीकरण होता है। दोनों अंग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। इसमें कार्य पालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है तथा राज्याध्यक्ष नाम मात्र का प्रधान होता है

1. "We should not close our eyes to the immense service which the development of the idea of multiple government has rendered in the past and may still render in knitting together under a common government people whose political interests are largely identical but which for sentimental reasons are unwilling wholly to surrender their political autonomy." —W. F. Willoughby.
2. "Federal government, does not stand for multiplicity alone. It stands for multiplicity in unity. It can provide unity where unity is needed, but it can ensure also that there is variety and independence in matters where unity and uniformity is not essential." —Wheare.
3. "The independence of the legislative and executive powers is the specific feauture of the presidential government just as fusion and combination is the precise prinicipla of the cabinet government." —Bagehot.

जबकि वास्तविक शक्ति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद के हाथ में होती है। गार्नर ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है, "संसदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्य पालिका (मंत्रि मंडल) विधान मंडल या उसके एक सदन (प्राय:लोक प्रिय सदन) के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति। अन्तिम रूप से अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहती है, जबकि राज्याध्यक्ष जो कि नाम मात्र की कार्य पालिका होती है, अनुत्तरदायित्व की स्थिति में रहता है, अर्थात् वह मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है।"[1] शुल्ज ने लिखा है, "संसदीय प्रणाली में मंत्रि मंडल की स्थिति विधान मंडल पर निर्भरता की होती है और विधान मंडल उसके नेतृत्व को अस्वीकार करके उसे पद से पृथक होने के लिए विवश कर सकता है।"[2] प्रो. सी. एफ. स्ट्रांग (C. F. Strong) ने लिखा है कि कार्य पालिका पद्धति का सार है कि अन्तिम विश्लेषण में मंत्रि मण्डल संसद की एक समिति है और लोक तन्त्र की बढ़ती हुई प्रगति के साथ लोक सभा की भी एक समिति है। जानमैरियट (Marriot) ने संसदीय सरकार में संसद के महत्व पर बल देते हुए कहा है कि इस प्रणाली में कार्यपालिका को विधान मंडल तथा सामूहिक रूप से जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व अनुभव करने के लिए विवश किया जा सकता है। व्यवस्थापिका का विश्वास खो देने पर उसके लिये वैधानिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से अपने पद पर आसीन रहना लगभग असम्भव हो जाता है। संसदीय प्रणाली में व्यवहार और सिद्धान्त में अन्तर होता है। कहने को तो राज्याध्यक्ष के नाम से ही सारे कार्य होते हैं। भारत का राष्ट्रपति नाम मात्र का शासक है तथा इंगलैंड की साम्राज्ञी स्वर्णयुक्त शून्य कही जाती है जबकि दोनों देशों में वास्तविक रूप से सत्ता का प्रयोग प्रधानमंत्री करता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है।

संसदीय प्रणाली के लक्षण

संसदीय प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

संवैधानिक प्रधान(Constitutional head)—संसदीय सरकार का एक प्रधान होता है चाहे वह राष्ट्रपति, सम्राट, साम्राज्ञी, गवर्नर-जनरल आदि कोई भी हो। इस प्रधान के पास सिद्धान्त: बहुत सी शक्तियां होती है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसकी शक्तियों का प्रयोग मंत्रि मण्डल करता है। बेजहॉट के अनुसार इंगलैंड में महारानी के पास

1 "Cabinet government system is that system in which the real executive-the cabinet or ministry-is immediately and legally responsible to the legislature or one branch of it (Usually the more popular chamber) for its political policies and acts, and mediately or ultimately responsible to the electorate, while the titular or nominal executive the chief of state occupies a position of irresponsibility."
—Dr Garner

2 "The status of the cabinet under parliamentary system is one of dependency on the legislature which may force the downfall of the cabinet by refusing to follow its leadership."
—E. B. Schulz

व्यवहार में अपने मंत्रियों को सलाह देने, प्रशासन के विषय में सूचना प्राप्त करने, मंत्रियों को चेतावनी देने और प्रोत्साहन करने आदि नाम मात्र की शक्तियां होती हैं। भारत के राष्ट्रपति की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। मंत्रि मंडल प्रशासन का सारा कार्य प्रधान के नाम पर चलाते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में सारा दायित्व उनका स्वयं का ही होता है, प्रधान का कोई दायित्व नहीं होता।

(2) स्पष्ट तथा स्थायी बहुमत (Clear and stable majority)—संसदीय शासन प्रणाली में बहुमत दल का शासन होता है। राज्याध्यक्ष संसद के निचले सदन में बहुमत दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है। बहुमत दल का नेता प्रधानमंत्री बनता है और फिर उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति होती है। इस प्रकार गठित मन्त्रि मंडल अपने पद पर तब तक ही आसीन रहता है जब तक संसद में उनके पीछे बहुमत कायम रहता है।

(3) सामूहिक दायित्व (Collective Responsibility)—संसदीय शासन प्रणाली में मन्त्रि मंडल सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। किसी भी विभाग के प्रशासन और नीति के लिए सारा मंत्रि मण्डल सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। किसी भी एक मंत्री के विरुद्ध पारित अविश्वास के प्रस्ताव से सारे मन्त्रिमंडल को त्याग पत्र देना पड़ता है।

(4) व्यक्तिगत दायित्व (Individual Responsibility)—जहां मन्त्रियों का सामूहिक दायित्व होता है वहां उनका व्यक्तिगत दायित्व भी होता है। संसद के सदस्य उनके विभाग से संबन्धित प्रश्न पूछ सकते हैं उनके विभाग की आलोचना कर सकते हैं। भयंकर भूल होने पर उन्हें त्यागपत्र देने के लिये बाध्य किया जा सकता है। यदि कोई मंत्री त्यागपत्र न दे और उसके विरुद्ध संसद में अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाए तो उसे मन्त्रि मण्डल से हटना पड़ता है।

(5) संसद की सदस्यता (Membership of the Parliament)—प्रत्येक मंत्री को संसद सदस्य होना आवश्यक है। यदि कोई मंत्री संसद का सदस्य न हो तो निश्चित अवधि में चुनाव कराकर उसका सदस्य हो जाना पड़ता है। परन्तु यदि वह ऐसा न करा सके तो उसे अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ता है। भारत में यह अवधि छः माह की है।

(6) प्रधान मंत्री का नेतृत्व (Leadership of the Prime Minister)—सारा मंत्रिमंडल प्रधान मंत्रि के नेतृत्व में कार्य करता है। संसद के निचले सदन में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह सदन का भी नेता होता है। उसी की सलाह से राज्याध्यक्ष मंत्रियों की नियुक्ति करता है और वही मंत्रि मंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। यद्यपि वह मंत्रि मंडल के परामर्श से कार्य करता है परन्तु विवादास्पद प्रश्नों पर उसका निर्णय अन्तिम होता है। अन्य मंत्री उसकी इच्छा तक ही मंत्री पद पर रह सकते हैं। उसके त्याग पत्र देने पर सारे मंत्रि मंडल को पदत्याग होना पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मंत्रि मंडल के कार्य प्रधान मंत्री के कार्य होते हैं।

(7) गोपनीयता (Secrecy)—मंत्रि मंडल की समस्त कार्यवाहियाँ गुप्त रखी जाती है। सभी मंत्री गोपनीयता की शपथ लेते हैं। इतना ही नहीं अपितु अपनी मत विभिन्नता को भी वे जनता के समक्ष नहीं रख सकते हैं।

(8) राजनीतिक सजातीयता (Political Homogeneity)—राजनीतिक सजातीयता का अभिप्राय है सभी मंत्री एक ही विचारधारा और सिद्धांत के पोषक होने चाहिए जिससे उसकी एकता, सामूहिक उत्तरदायित्व और कार्रवाई की गोपनीयता को बल मिले।

(9) प्रभावशाली विरोधी दल (Effective Opposition)—प्रो. लास्की ने संसदीय प्रणाली में प्रभावशाली विरोधी दल का महत्व बतलाते हुए लिखा है कि विरोधी दल की अनुपस्थिति में संसदीय शासन तंत्र की चर्चा पाखंडपूर्ण है। विरोधी दल सत्तारूढ़ दल को सचेत रखता है एवं निरंकुश बनने से रोकता है। इसीलिए कहा जाता है कि प्रधानमंत्री अपनी पत्नी से अधिक विरोधी दल के नेता को जानता है। लावेल ने लिखा है, "इंग्लैंड का विरोधी दल संसदीय प्रणाली की सरकार की एक महान उपलब्धि है।"

संसदीय सरकार के गुण
(Merits of Parliamentary Government)

संसदीय सरकार एक लोकप्रिय शासन प्रणाली है। इसकी लोकप्रियता के नि लिखित कारण हैं:—

(1) संसद और मंत्रिमण्डल में परस्पर सहयोग (Co-operation betw Parliament and Cabinet)—सह अस्तित्व और सहयोग जो मानवीय गुण हैं वह प्रणाली में स्पष्ट दिखलाई देता है। संसद के समस्त कार्यों का सम्पादन मंत्रि मंडल द्व होता है संसद में विरोध होने पर अभूतपूर्व एकता दिखलाई देती है। बेजहॉट ने लिख कि मंत्रि मंडल सरकार के दो प्रतिद्वन्द्वी अंगों को जोड़ने वाला जोड़ चिन्ह है। प्रो. विलो ने भी कहा है कि शक्तियों के सामंजस्य से वास्तविक उत्तरदायित्व एक ही भाग में एक किया जा सकता है जो उत्तरदायित्व निर्देशन तथा शक्ति की एकता का प्रतीक होता है

(2) लोकतन्त्र की व्यापकता (Deep respect of Public opinion)—लो तांत्रिक व्यवस्था में लोक मत का महत्व होता ही है फिर भी संसदीय लोकतंत्र में इस विशेष महत्व रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि संसदीय प्रणाली में मंत्रि मंडल लो मत की अवहेलना करके अधिक समय तक पदासीन नहीं रह सकता है।

(3) राज्याध्यक्ष की निष्पक्ष सलाह (Impartial opinion is provided b head of the state)—राज्याध्यक्ष चाहे सम्राट हो चाहे राष्ट्रपति या राज्यपाल व राष्ट्रीय एकता का प्रतीक होता है। सरकारें प्रायः बदलती रहती हैं परन्तु वह यथावत् ब रहता है। अतः वह जो भी सलाह देता है वह लाभदायक होती है। इसीलिए उसके प का बड़ा महत्व होता है। ब्राइस ने लिखा है, "वह शासन की उस मशीन का प्रतिनिधि होता है जो सरकार के परिवर्तनों के बावजूद शांति पूर्वक चलती रहती है।"

(4) जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व (Representation is givin to public opinion)—लोकतंत्रात्मक शासन में चाहे कोई भी शासन की पद्धति हो लोकमत का महत्व होता है परन्तु संसदीय प्रणाली में तो इसका विशेष महत्व होता है। डायसी ने लिखा है, "स्थिति की आवश्यकता के अनुसार संसदीय मंत्रि मंडल को संसदीय विचारों के प्रति सूक्ष्म रूप से सचेतन एवं उत्तरदायित्व पूर्ण रहना पड़ता है।"[1] मंत्रि मंडल जनता की इच्छा व उसकी आलोचना की उपेक्षा नहीं कर सकता है। उसे यथाशीघ्र ध्यान देना पड़ता है क्योंकि उसकी इच्छा पर ही उसका अस्तित्व है।

(5) शिक्षाप्रद प्रणाली (Educative System)—लोकतंत्र की अन्य पद्धतियों की अपेक्षा शिक्षा की दृष्टि से संसदीय प्रणाली अधिक महत्वपूर्ण है। विभिन्न दल अपनी विचार धारा से जन साधारण को परिचित कराते रहते हैं। इससे उनके दृष्टिकोण में व्यापकता व निर्णय करने की क्षमता में वृद्धि होती है। आये दिन चुनाव होते रहते हैं। सरकार की नीतियों की आलोचना प्रत्यालोचना होती रहती है। इससे जनता में राजनीतिक चेतना आती है और उसे समस्या के हर पहलू का ज्ञान हो जाता है इस प्रकार इस प्रणाली से जनता को राजनैतिक शिक्षा मिलती रहती है।

(6) योग्य तथा व्यवसायी व्यक्तियों को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर (Capable and Energetic people get apportunities to show their telents)—लास्की ने कहा है कि कामन सभा दोषपूर्ण क्यों न हो पर यह भी सत्य है कि, "इसने अपने चुने हुए कार्यों को बहुत ही अच्छी तरह पूर्ण किया है। इसने योग्यता एवं चरित्र का प्रमाण दिया है।"[2]

(7) वैकल्पिक शासन व्यवस्था (Provision for an alternative government)—डा. जैनिंग्स ने लिखा है, "विरोधी दल का नेता प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करने वाला एक वैकल्पिक नेता होता है।" संसदीय शासन प्रणाली में वैकल्पिक शासन की सुविधा रहती है। सत्ताधारी दल के हटते ही राजाध्यक्ष को विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि विरोधीदल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है।

(8) विद्रोह का भय नहीं (No danger of Revolution)—इस प्रणाली का एक बड़ा लाभ यह है कि इसमें विद्रोह का भय नहीं रहता है। जनता में असन्तोष व्याप्त हो इससे पूर्व संविधान में परिवर्तन हो जाता है।

(8) शक्ति शाली नीति की क्षमता (Capacity of Powerful Policies)—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार एक शक्ति शाली नीति अपना सकती है क्योंकि सरकार

1. "A parliamentary cabinet must from the necessity of the case be intensly sensitive and amenable to the fluctuations of parliamentary opinion." —Dicey
2. "Whatever may have been the defects of the house of commons, what has been called its selective functions, have been amazingly well done. It has prooed its character as well as telent." —Laski

संसद के बहुमत पर टिकी होती है अतः यदि उसका बहुमत है तो फिर उसे अपनी नीतियों को शक्तिशाली तरीके से मनवाने में कोई भय नहीं रहता है।

सिडनी लो की दृष्टि में संसदीय प्रणाली के लाभ

(Benefits of Parliamentary System according to Sidney low)

सिडनी लो के अनुसार संसदीय प्रणाली के लाभ मुख्यतया निम्नलिखित हैं :—

(1) प्रजातन्त्रीय सिद्धांतों की रक्षा

(2) जन इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वालों पर शासन का भार

(3) मंत्रिमंडल का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उत्तरदायित्व

(4) आलोचना का अधिकार सरकार को सतर्क रखता है।

(5) जनता के पास सर्वोच्च सत्ता रहती है।

(6) कार्यपालिका तथा विधान मंडल में सम्बन्धों को समन्वय तथा संवैधानिक विरोधों का अभाव

संसदीय शासन के दोष

(Demerits of Parliamentary Government)

आधुनिक युग संसदीय शासन प्रणाली का युग है। विश्व के अधिकांश देशों में यही शासन प्रणाली प्रचलित है। यह सब कुछ होते हुए भी इसमें कुछ अवगुण है, जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं।

(1) राजनीतिक दलबन्दी—संसदीय शासन प्रणाली में अनावश्यक रूप से राजनीतिक दलबंदी को प्रोत्साहन मिलता है। एक दल सत्तारूढ़ हो जाता है तो विरोधी दल उसे पदच्युत करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार सदा ही अशान्ति, संघर्ष और मतभेद का वातावरण बना रहता है। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही लिखा है, "यह प्रथा दलबन्दी की भावना को बढ़ाती है और इससे सदैव उबलती रहती है। जब राष्ट्र के सामने कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं होता है तो पदों की प्राप्ति के लिए विरोधी दलों में संघर्ष चलता रहता है, मानो रक्त में लाल-श्वेत कीटाणुओं का संघर्ष चल रहा हो।"

(2) सत्ताधारी दल द्वारा शक्ति का दुरुपयोग—संसदीय शासन प्रणाली में सत्ताधारी दल द्वारा अपनी तानाशाही स्थापित की जा सकती है क्योंकि उसे सदैव व्यवस्थापिका में बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। अपने बहुमत की शक्ति द्वारा सत्ताधारी दल अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है एवं नीतियों को लागू कर सकता है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका जिसे कि सिद्धांततः व्यवस्थापिका की आज्ञाकारी सेवक माना जाता है, व्यवहार में व्यवस्थापिका की स्वामी बन जाती है।

(3) अधिक दलों के होने पर सरकार का अस्थाई होना—संसदीय व्यवस्था में स्थाई सरकार तब ही संभव होती है जबकि राज्य में सुसंगठित दो या तीन दल हों तथा किसी एक दल का निश्चित बहुमत हो परन्तु दलों की संख्या जितनी अधिक होती है मंत्रि मण्डल अस्थाई होते हैं। अधिक दलों के होने पर प्रायः मिले जुले मंत्रि मण्डल बनते हैं जो किसी भी

होता है। इस प्रणाली के अनुसार राष्ट्रपति नाममात्र का शासक नहीं होता बल्कि शक्ति का वास्तविक प्रयोग करने वाला होता है। उसमें राष्ट्राध्यक्ष और कार्यपालिकाध्यक्ष दोनों ही शक्तियाँ निहित होती हैं। इसमें मन्त्रिमण्डल नहीं होता है। गार्नर ने अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की परिभाषा करते हुए लिखा है, "अध्यक्षात्मक सरकार वह होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्याध्यक्ष तथा उसके मंत्री संविधान की दृष्टि से विधान मण्डल के प्रति अपनी अवधि के बारे में अनुत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार की पद्धति में राज्याध्यक्ष नाममात्र का कार्यपालक नहीं होता वरन् वास्तविक अधिशासक होता है और जो संविधान एवं कानून से प्राप्त शक्तियों का वास्तविक रूप में प्रयोग करता है।"[1]

अध्यक्षात्मक प्रणाली की विशेषताएँ

(1) शक्तियों का पृथक्करण—संसदीय प्रणाली की भाँति अध्यक्षात्मक सरकार में शक्तियों का समन्वय नहीं होता वरन् सरकार के तीनों अंगों-कार्यपालिका, विधान मण्डल एवं न्याय पालिका को पृथक रखा जाता है। कार्यपालिका के सदस्य न तो विधान मण्डल के सदस्य होते हैं और न उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं। विधान मण्डल का कार्य कानून बनाना और कार्यपालिका का कार्य कानून को लागू करना है। इस प्रकार सभी का कार्य स्वतन्त्र और पृथक है। विधान मण्डल कार्यपालिका को भंग नहीं कर सकती है। और न उस पर उसके अविश्वास और कटौती के प्रस्तावों का ही प्रभाव पड़ता है। इसमें न्याय पालिका भी पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। इस प्रकार इस व्यवस्था में सरकार के अंग परस्पर अधीन नहीं होते हैं बल्कि समकक्ष होते रहते हैं।

(2) उत्तरदायित्व का अभाव—संसदीय प्रणाली के विपरीत अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। विधान सभा न तो उससे प्रश्न कर सकती है और न अविश्वास के द्वारा उसे पदच्युत किया जा सकता है।

(3) मन्त्रि मण्डल का अभाव—अध्यक्षात्मक प्रणाली में संसदीय प्रणाली की तरह मन्त्रि मण्डल नहीं होता है। राष्ट्रपति को सहयोग तथा सलाह देने के लिए कुछ सचिवों की नियुक्ति की जाती है। अतः वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उसकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं और जब तक वह चाहता है तब तक अपने पद पर आसीन रहते हैं।

(4) राज्याध्यक्ष की स्थिति—इस व्यवस्था में राष्ट्रपति राज्य और सरकार दोनों का प्रधान होता है। वह राष्ट्र का प्रतीक होने के साथ साथ उसकी शक्तियां भी वास्तविक होती हैं। वह निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है तब तक उसे महाभियोग के अतिरिक्त किसी भी प्रकार से अपदस्थ नहीं किया जा सकता है।

1. "Presidential governmet is that system in which the executive (including both the head of the state and his ministers) is constitutionally responsible to it for his political policies. In Such a system the chief of the state is not merely the titular executive but he is real executive and actually exercises the power which the constitution and laws confer upon him."

—J. W. Garner : Politica Sci. Govt. P. 1.

अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण

इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं।

(1) स्वतन्त्र कार्यपालिका की प्रशासनिक उपयोगिता—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में मंत्रि मंडल व्यवस्थापिका से पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं अतः न उन्हें अपने विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास होने का डर रहता है और न उसे अपनी सुरक्षा के लिए लम्बे चौड़े भाषण तैयार करने पड़ते है और न ही अपने विभाग के पक्ष मे प्रोपेगेण्डा करना पड़ता है। उसका कार्यकाल निश्चित होता है। उन्हें विधेयक भी तैयार नहीं करना पड़ता है। अत. वे अपना सारा ध्यान प्रशासकीय कार्यों में लगा देते हैं। वे केवल राष्ट्रपति के उत्तरदायी होते हैं अतःउनका सारा समय प्रशासनीय दृष्टि से उपयोगी होता है।

(2) दल बन्दी का अभाव—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोषों से मुक्त रहता है। राजनैतिक दल के चुनावों के समय ही सक्रिय रहते हैं। चुनाव समाप्ति के बाद दलबन्दी समाप्त हो जाती है। इस प्रणाली में अनावश्यक रूप में विरोधी दल नहीं होते हैं। इतना ही नहीं राष्ट्रपति के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने दल की नीति का अनुसरण करे। वह चाहे तो स्वतंत्र नीति से भी प्रशासकीय कार्य चला सकता है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक प्रणाली में दलबन्दी से उत्पन्न दोष नहीं पाये जाते हैं।

(3) राज्य के प्रधान का उपयोगी स्थान—अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति पूरे राष्ट्र का सर्वसर्वा होता है। उसकी निश्चित अवधि होती है अतः वह पूर्व आत्म विश्वास के साथ अपनी नीतियों का अनुसरण कर सकता है।

(4) स्थायी शासन—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में सरकार स्थायी होती है। उन्हें राजनैतिक दलों या विधान मंडलों की कृपा पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता है। संसदीय प्रणाली की तरह इस व्यवस्था मे आये दिन सरकार नहीं बदलती है। अतः निर्भय होकर अपने अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाती है। मैरियट ने इसी कारण अध्यक्षात्मक प्रणाली की प्रशंसा करते हुए दो लाभों की चर्चा की है। "प्रथम, यह कि इस व्यवस्था में मंत्रियों को बार-बार व्यवस्थापिका में नहीं जाना पड़ता है। इससे वे अपने शासन संबंधी कार्यों को अच्छी तरह करते हैं। दूसरी ओर व्यवस्थापिका के भी सदस्य पूर्ण रूप से अपना मस्तिष्क कानून बनाने में ही लगाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने विशेष कार्य से ही मतलब रहता है।"[1]

(5) विशाल राष्ट्रों के लिए उपयोगी—विशालकाय राष्ट्र जिसमें विभिन्न धर्मावलम्बी, विभिन्न भाषायें और संस्कृतियों का संगम हो वहां के लिए संसदीय प्रणाली की अपेक्षा यह प्रणाली अधिक उपयुक्त है।

(6) संकटकालीन परिस्थितियों में उपयुक्त—संकटकालीन स्थितियो का सामना करने के लिए तत्परता से निर्णय लेना पड़ता है। इस व्यवस्था में कार्य पालिका को संपूर्ण

1. "In this form of government there is a real gain of efficiency of administration because ministers are not distracted by the necessity of constant attendence in the legislative and inefficiency of legislation because the minds of the legislatures are concentrated upon their especial function." —J. A. R. Marriot.

शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती है अतः वह शीघ्र निर्णय लेकर संकट का सामना करने में सक्षम रहता हैं ।

(7) विद्रोह की सम्भावना नहीं— इस प्रणाली में राजनैतिक दलों के पास संघर्ष की पर्याप्त सामग्री नही रहती है अतः विद्रोह की सम्भावना भी कम रहती हैं ।

(8) तानाशाह का अभाव—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित है । इससे सारी शक्ति केन्द्रित होने की अपेक्षा विभाजित रहती है अतः निरंकुशता का भय नही रहता हैं और नागरिकों के अधिकारों की भी पूर्ण रक्षा होती हैं ।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में जहां अनेक गुण हैं वहाँ इसमें दोष भी कई हैं जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

(1) अनुत्तरदायी निरकुश शासन—आलोचकों का कहना है कि यह प्रणाली 'निरंकुश, गैर जिम्मेदार तथा खतरनाक' है । इसमे राष्ट्रपति बिना किसी की सलाह माने अपनी इच्छानुसार शासन कर सकता है । गैर जिम्मेदार इसलिए कि संसद उन्हें पदच्युत नहीं कर सकती है और खतरनाक इसलिए कहा जा सकता है कि इसमे सत्ताधारियों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है ।

(2) एक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व—इस प्रणाली के अनुसार राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है और उसी पर शासन का पूरा भार होता है । वह शासन शक्ति का गलत रूप से व स्वार्थ साधन के लिए प्रयोग कर निरंकुश बन सकता है । इसीलिये बैजहोट ने लिखा है, "आप अपनी सरकार को पहले से ही निश्चित कर देते हैं । यह आपके लिए उपयुक्त है अथवा नहीं, यह ठीक प्रकार से कार्य करती है या नहीं, यह आपकी इच्छा के अनुकूल है या नहीं इस बात से अब आपको कोई सम्बन्ध नहीं—कानून के अनुसार इसे आपको रखना ही होगा ।"

(3) कार्य पालिका तथा विधान मंडल के मध्य गंभीर मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं-कभी-कभी ऐसा भी होता है कि राष्ट्रपति जिस राजनैतिक दल का होता है उस दल का विधान मंडल मे बहुमत नहीं होता है । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक तो नहीं है कि दोनों में विशेष मतभेद हों और नही यह मतभेद संसद के मतभेद की भांति विशेष महत्व रखता है फिर भी इस मतभेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । राष्ट्रपति जो नियुक्तियाँ करता है अथवा विदेशों से सन्धियां करता है उसको उसे सीनेट से स्वीकृति लेनी पड़ती है । राष्ट्रपति को वोटों का अधिकार प्राप्त है । फिर भी इन मतभेदों का प्रभाव प्रशासन पर पड़ता है । 1919 में सीनेट के विरोध के कारण राष्ट्रपति विल्सन प्रयत्न करने पर भी अमेरिका को राष्ट्रसंघ का सदस्य न बना सके । लास्की ने लिखा है, "सन्धि का सीनेट में जाना एक बैल का अखाड़े में उतरने के समान है । कोई नहीं कह सकता है कि अन्तिम प्रहार कब और कैसे होगा—लेकिन एक बात निश्चित रहती है कि बहु अखाड़े से बाहर ही में जिन्दा वापिस आयेगा ।"

(4) सहयोग का अभाव--अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित है जिसमें कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। वे एक दूसरे की समस्या को नहीं समझ पाती हैं। इससे उनमें परस्पर सहयोग का अभाव रहता है जिससे शासन में गतिरोध और मतभेद पैदा हो जाता है।

(5) कठोर शासन प्रणाली—यह प्रणाली अपरिवर्तनशील होती है क्योंकि प्रथम तो इसमें शासन सम्बन्धी सभी बातें संविधान द्वारा पूर्व निश्चित होती हैं। दूसरा जब संविधान संबंधी कोई भी विवाद खड़ा होता है तो न्यायालय द्वारा निर्णय होता है जो संविधान के आधार पर निर्णय किया जाता है। तीसरा संविधान मे परिवर्तन के लिए भी अत्यन्त जटिल प्रक्रिया का अनुसरण करना पड़ता है जिससे संविधान में कोई भी परिवर्तन सरलता से नहीं किया जा सकता है।

(6) शासन में शिथिलता—शक्ति के पृथक्करण के कारण न तो कार्यपालिका समयानुसार आवश्यक कानूनों का निर्णय करा सकती है न व्यवस्थापिका कानूनों की आवश्यकता का अनुभव कर सकती है ऐसी स्थिति में पारस्परिक खींचा तानी के कारण शासन में शिथिलता आ जाती है।

(7) न्यायपालिका का अनावश्यक हस्तक्षेप—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में न्यायपालिका का अत्यधिक हस्तक्षेप बढ़ जाता है। इसमें सदेह नहीं कि न्यायपालिका को महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है क्योंकि उसे सविधान का संरक्षण स्वीकार करना होता है किन्तु जिस अनुपात में उसका न्यायिक हस्तक्षेप बढ़ जाता है वह असहनीय है। इसी हस्तक्षेप को देखकर उसे तृतीय सदन की संज्ञा दी जाती है।

(8) राजनैतिक दलों की महत्वहीनता—राजनैतिक दल देश में राजनैतिक चेतना को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं परन्तु शक्ति के पृथक्करण, कार्यपालिका के निश्चित कार्यकाल एवं सविधान में संशोधन की जटिल प्रक्रिया के कारण राजनैतिक दलों में निष्क्रियता आ जाती है और इनका प्रभाव क्षीण होने लगता है।

संसदीय एवं अध्यक्षात्मक सरकार की तुलना

(1) शासन शक्ति की दृष्टि से—संसदीय सरकार शक्ति संयुक्तता पर आधारित है जबकि अध्यक्षात्मक सरकार शक्ति पृथक्करण पर आधारित है।

(2) राज्य के प्रधान की दृष्टि से—संसदीय शासन प्रणाली मे राज्य का प्रधान नाममात्र का होता है जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे राज्य का प्रधान शासन का वास्तविक प्रधान होता है।

(3) सरकार के अंगों की दृष्टि से—संसदीय प्रणाली मे कार्यपालिका और विधान मण्डल में सहयोग और सामंजस्य रहता है जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे दोनों पृथक-पृथक और स्वतंत्र होती है। दोनो का कार्यक्षेत्र स्पष्ट रूप से विभाजित रहता है।

(4) सरकार के स्थायित्व की दृष्टि से—संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका विधान मंडल के विश्वास पर्यन्त ही अपने पद पर बनी रह सकती है जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका का समय निश्चित होता है।

(5) मंत्रियों के उत्तरदायित्व की दृष्टि से—संसदीय प्रणाली में मंत्री विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(6) राजनैतिक दलों की दृष्टि से—संसदीय शासन प्रणाली में राजनैतिक दलों का बहुत बड़ा महत्व होता है। सत्ताख्ड़ दल की नीतियों को ही मंत्रिमंडल अपने कार्यकाल में अपनाता है। दल की नीतियों की उपेक्षा का साहस प्रधानमंत्री भी नहीं कर सकता है जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल पूर्व निश्चित होता है अतः ये दल की परवाह नहीं करते हैं। वे प्रशासकीय समस्याओं के समाधान के प्रति विशेष रुचि रखते हैं। राष्ट्रपति भी चाहे तो अपने दल की नीतियों की उपेक्षा कर सकता है।

(7) न्यायिक हस्तक्षेप की दृष्टि से—संविधान जहाँ और जिस प्रणाली में सर्वोपरि माना जाता है वहाँ हस्तक्षेप वांछनीय है हो फिर भी संसदीय शासन प्रणाली की अपेक्षा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में न्यायिक हस्तक्षेप अधिक पाया जाता है।

(8) नागरिक स्वतंत्रता की दृष्टि से—संसदीय प्रणाली में बहुमत का विशेष महत्व होता है अतः अल्पसंख्यकों को बहुमत के आगे झुकना पड़ता है। बहुमत दल संसद में जो चाहे कर सकता है। वह संविधान में परिवर्तन कर सकता है जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में इस प्रकार का कोई भय नहीं रहता है।

(9) कार्य कुशलता की दृष्टि से—संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका को व्यवस्थापन एवं विधि सम्बन्धी कार्य करने पड़ते हैं। उन्हें पूरक प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में शक्ति पृथक्करण के कारण कार्यपालिका इन सब चिन्ताओं से मुक्त होकर प्रशासकीय कार्यों को करती है अतः वह अधिक कुशलता से अपना कार्य चलाती है।

(10) संकटकालीन स्थिति की दृष्टि से—संकटकाल में तत्परता और शीघ्रता से निर्णय लेने पड़ते हैं संसदीय प्रणाली में इसके लिए कार्यपालिका को संसद पर निर्भर रहना पड़ता है जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति स्वयं परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता रखता है।

अन्त में, डायसी के शब्दों में कहा जा सकता है कि संसदीय प्रणाली के जो गुण हैं वे अध्यक्षात्मक प्रणाली के दोष हैं; और जो अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण हैं वे संसदीय प्रणाली के दोष हैं। शांतिकाल के लिए संसदीय सरकार उत्तम है तो संकटकाल के लिए अध्यक्षात्मक सरकार; संसदीय व्यवस्था में अध्यक्षात्मक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को नेतृत्व प्राप्त होता है; संसदीय सरकार में शासन के विभिन्न अंगों के बीच संघर्ष की संभावना बनी रहती है लेकिन अध्यक्षात्मक सरकार में ऐसे संघर्ष आये दिन देखने को मिलते हैं, संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका के निरंकुश होने का भय नहीं रहता है जबकि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में ऐसी संभावना सदैव बनी रहती है।

अध्याय 8

सरकार के अंग

(Organs of Government)

(1) विषय प्रवेश
(2) व्यवस्थापिका
 (1) व्यवस्थापिका से अभिप्राय
 (2) व्यवस्थापिका के कार्य
 (3) व्यवस्थापिका का संगठन
 (4) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका
 (5) द्वितीय सदन के पक्ष में तर्क
 (6) द्वितीय सदन के विपक्ष में तर्क
(3) कार्य पालिका
 (1) कार्य पालिका से अभिप्राय
 (2) कार्य पालिका का निर्माण
 (3) कार्य पालिका के विभिन्न प्रकार
 (4) कार्य पालिका के कार्य
(4) न्याय पालिका
 (1) न्यायपालिका से अभिप्राय
 (2) न्यायपालिका के कार्य
 (3) न्यायपालिका की स्वतंत्रता
 (4) विधि का शासन
 (5) प्रशासकीय विधि
(5) शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त
 (1) शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत
 (2) सिद्धान्त की आलोचना
 (3) अवरोध और संतुलन का सिद्धान्त

सरकार के अंग

सरकार राज्य का अनिवार्य मूल तत्व है। इसी के द्वारा राज्य की इच्छा निर्धारित व्यक्त और कार्यान्वित होती है। सरकार के अभाव में राज्य के अस्तित्व की कल्पना तक करना भी असंभव है इसीलिये इसे राज्य की आत्मा कहा जाता है। राज्य एक सूक्ष्म धारणा है और सरकार ही उसका वास्तविक स्वरूप है। यह राज्य का वह शस्त्र है जिस पर राज्य के कानून बनाने, उनमें लागू करने और पालन न करने वालों के लिए दंड की व्यवस्था करने का दायित्व होता है। इन्हीं कार्यों की दृष्टि से सरकार की को शक्ति तीन मार्गों में विभाजित किया जा सकता है। ड्यूग्वी ने व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के रूप में सरकार के दो ही अंग बतलाये हैं जबकि विलोबी ने सरकार के पांच अंग बतलाए हैं—(1) निर्वाचक गण (2) शासन प्रबन्ध कर्त्ता (3) व्यवस्थापिका, (4) कार्यपालिका और (5) न्यायपालिका। परन्तु आधुनिक युग में सरकार में अधिकांश विद्वानों सरकार के तीन अंगों वाला वर्गीकरण ही मान्य है। ये अंग निम्नलिखित हैं।

(1) व्यवस्थापिका (Legislature)

(2) कार्यपालिका (Executive)

(3) न्यायपालिका (Judiciary)

(1) व्यवस्थापिका (Legislature)

सरकार के उपर्युक्त तीन अंगों में व्यवस्थापिका का सर्वोच्च स्थान है। यही राज में कानूनों का निर्माण करती है जिसके अनुसार कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका निर्णय देती है। उसकी सर्वोच्चता स्वीकार करते हुए प्रो. गिलक्राइस्ट ने ठीक लिखा है, "विधान पालिका शक्ति का अधिक भाग है। न्यायपालिका कम और कार्यपालिका निष्कर्ष है।"

प्राचीन काल में व्यवस्थापिका का कार्य राजा स्वयं करता था। तथापि वह एक सलाहकार परिषद का निर्माण करता था चाहे उसमें उसके मंत्री ही हों जो उसकी नीतियों का पूर्ण समर्थन करते रहें। यह परिषद राजा को समय समय पर महत्वपूर्ण परामर्श देती थी। राजा यद्यपि अपनी स्वेच्छा से शासन करता था फिर भी वह देश की आन्तरिक और बाह्य समस्या पर इस परिषद का परामर्श अवश्य लेता था। धीरे धीरे इस परिषद ने अपनी शक्ति इतनी सुदृढ़ बना ली कि राजा कोई भी नया कर इस परिषद की अनुमति बिना नहीं लगा सकता था। कालान्तर में यही परामर्शदात्री परिषदें राष्ट्रीय परिषदों के रूप में विकसित हुईं। प्रारम्भ में इसके सदस्यों का निर्वाचन नहीं होता था अपितु वे मनोनित किये जाते थे फिर भी इसमें धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सैनिक, असैनिक आदि सभी वर्गों के लोगों को प्रतिनिधित्व दिया जाता था। जन-साधारण इन्हीं

सदस्यों के द्वारा अपनी कठिनाइयों को प्रार्थना के रूप में शासक के तक पहुँचाता था। आगे चलकर ये प्रार्थनायें ही विधेयक के रूप में रखी जाने लगी। इन परिषदों मे पादरियों और सामन्तों के प्रतिनिधित्व का बाहुल्य था। कालान्तर मे इन्होंने अपनी बैठक पृथक रूप से करना प्रारम्भ कर दी। इसी से इंगलैंड में दो सदनों का गठन हुआ।

आज व्यवस्थापिका का निर्माण जनता के चुने गये प्रतिनिधित्व से मिलकर होता है तथा फिर वह नेता अपने मंत्रियों का चुनाव स्वय कर लेता है। व्यवस्थापिका राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है जो उसकी इच्छा एवं स्वरूप का निर्माण करता है। व्यवस्थापिका वह शक्ति है जिसके आधार पर शासन के दूसरे अग कार्य करते हैं। मुख्यतया इसकी इच्छा एवं स्वरूप पर ही कार्यपालिका एवं न्यायपालिका कार्य करती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नियमों को कार्यपालिका लागू करती है और न्यायपालिका उन कानूनों के आधार पर न्याय करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका का स्थान शासन के अंगों मे सर्वश्रेष्ठ है। अतः शासन का प्रमुख कार्य भी इसी के हाथ में है। अधिकतर देशों में व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं। पहला निचला सदन (Lower House) जो वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता का प्रत्यक्ष रूप मे प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा, उच्च सदन (Upper House) जिसमें व्यापारियों, जमींदारों ट्रेड यूनियनों, कलकारों, साहित्यकारों तथा विशेष समूहों का प्रतिनिधित्व विशेष रूप से रहता है। अधिकतर देशों में निम्न सदन को ही अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा मंत्रि मंडल का गठन भी उसी मे से होता है। भारत में भी व्यवस्थापिका के दो सदन रखे गये हैं जिनमें नीचले सदन को लोकसभा और उच्च सदन को राज्यसभा कहते हैं जिसमें लोकसभा को ही सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। इंगलैंड में भी उच्च सदन प्रायः नाम मात्र का है। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इसका अपवाद है क्योंकि वहाँ उच्च सदन (सीनेट) को भी निम्न सदन के बराबर की शक्तियां अपितु कुछ कार्यों में उससे भी अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

प्रजातंत्र में दोनों सदनों से शासन का कार्य चलता है। परन्तु जटिल प्रश्न यह उठता है कि इन दोनो सदनों में पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का हो। दोनों जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, इस कारण इनमें मतभेद की सम्भावना सदैव बनी रहती है। ब्रिटेन में 1911 के पूर्व दोनों सदनों के समान कार्य थे और दोनों को ही समान शक्तियाँ प्राप्त थीं। केवल आर्थिक मामलों मे निम्न सदन को कुछ अधिक शक्तियां मिली हुई थीं। परन्तु उच्च सदन की रूढ़िवादिता व स्वार्थी भावना ने अपने आप ही धीरे धीरे उसके अधिकारों में कमी कर दी। जैसे जैसे जनता का विश्वास बढ़ता गया वैसे ही वैसे निम्न सदन अधिक शक्तिशाली होता गया। आर्थिक बिलों पर से तो उच्च सदन का नियंत्रण बिल्कुल हट गया है और साधारण बिलों में भी पास होने में कुछ विलम्ब के अतिरिक्त यह सदन कुछ विशेष कार्य नहीं कर पाता है यही बात भारत में भी लागू होती है। व्यवस्थापिका के सदस्य कभी स्थायी नहीं होते हैं तथा निश्चित समय के पश्चात् इनके स्थान पर जनता से फिर मत लिये जाते हैं व नई व्यवस्थापिका की संरचना होती है।

अधिकांश विद्वानों का विचार है कि व्यवस्थापिका का कार्यकाल बहुत अधिक लम्बा नहीं होना चाहिये। भारत में लोकसभा के लिए जनता के प्रतिनिधियों के चुनाव प्रति पांच वर्ष के बाद होते हैं। यद्यपि 1971 में हुए मध्यावधि चुनाव चार वर्ष के भी पूर्व हुए हैं।

व्यवस्थापिका के कार्य
(Functions of Legislature)

यह तो निर्विवाद रूप से मान्य है कि व्यवस्थापिका का स्थान शासन के अंगों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः प्रमुख कार्य भी इसी के हाथ में है। व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों का मुख्यतया कार्यकारिणी व न्यायपालिका में समावेश होता है। परन्तु प्रत्येक देश में इसके कुछ कार्य पृथक-पृथक होते हैं। परतंत्र एवं तानाशाही शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका का महत्व नहीं होता किन्तु संसदीय प्रणाली वाले प्रजातंत्रवादी राज्यों में व्यवस्थापिका के महत्व को भली-भांति समझा जाता है तथा इसका महत्व दूसरे अंगों से अधिक माना जाता है। व्यवस्थापिका के सदस्यों के विश्वास पर ही मंत्रिगण कार्य करते हैं और वे उसी समय तक कार्य करते हैं जब तक उनमें व्यवस्थापिका के सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। व्यवस्थापिका के मुख्यतया निम्न कार्य होते हैं।

(1) वैधानिक कार्य—आधुनिक विचारधारा के अनुसार कानून को मनुष्यों की इच्छा व विचार को अभिव्यक्ति माना गया है। जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर भेजती है और व्यवस्थापिका कानून बनाने के समस्त साधनों को अपने में मिला लेती है। इस प्रकार कानून बनाने का प्रमुख स्रोत व्यवस्थापिका सभा ही होती है।

(2) विमर्शात्मक कार्य— कानून की जटिलता प्रत्येक सदस्य के समझ के बाहर होती है। अतः कानून बनाने का कार्य विशिष्ट समिति को सौंपा जाता है। जनमत में कानून समाज का पथ प्रदर्शक व दर्पण बनकर रहे अतः यह बात आवश्यक है कि कानून जल्दी में न बनाये जायें। वैसे संसद का अर्थ ही है वह स्थान जहाँ परस्पर परामर्श किया जा सके।

(3) आर्थिक कार्य—कानून बनाना तथा उससे सम्बन्धित बातों पर विचार विमर्श करना ही आजकल संसद का कार्य नहीं है अपितु व्यवस्थापिका का कार्य, राजस्व को नियंत्रित करना तथा खर्चे की स्वीकृति देना भी है। राज्य की आय जनता से प्राप्त होती है अतः जनता के सच्चे प्रतिनिधियों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसका उपयुक्त प्रबन्ध करें जिससे उनका अधिकतम लाभ जनता को प्राप्त हो।

(4) प्रशासनिक कार्य—प्रत्यक्ष रूप से तो ऐसा लगता है कि व्यवस्थापिका प्रशासनिक कार्य में भाग नहीं लेती है, परन्तु संसदीय व्यवस्था में मंत्रिमंडल उसके विश्वास प्राप्ति तक ही कार्य कर सकता है। इस प्रकार मंत्रिमंडल पर नियंत्रण रखकर वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रशासनिक कार्यों में भी भाग लेती है क्योंकि जब तक प्रशासनिक कार्यों का लेखा जोखा पास न होगा तब तक वह मंत्रिमंडल पर नियंत्रण नहीं रख सकती है।

(5) न्याय सम्बन्धी कार्य—व्यवस्थापिका सभा की प्रायः दो शाखायें होती है जिसमें एक को उच्च सदन कहते है तथा दूसरी को निम्न सदन। कई देशों में उच्च सदन न्याय सम्बन्धी कार्य करता है। उदाहरणार्थ इंगलैड मे उच्च सदन ही देश के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में अपील सुनता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का अधिकार संसद के दोनों सदनों को ही प्राप्त है। इस प्रकार व्यवस्थापिका को न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं।

व्यवस्थापिका का संगठन
(Organisation of the Legislature)

आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की जटिलता को ध्यान में रखते हुए अधिकांश देशों ने अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र प्रणाली अपनाई है जिसमें समाज के लिए कानूनों के निर्माण का कार्य जनता के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के संगठन अर्थात् व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है। इसीलिए व्यवस्थापिका को सम्पूर्ण समाज का मस्तिष्क (Brain of the Society) कहा जाता है। यह जनमत को कानून का जामा पहनाने का कार्य करती है। इसके द्वारा निर्मित कानून किसी वर्ग विशेष के हित में न होकर सार्वजनिक हित में होते है। अतः इस उपयोगी संस्था के संगठन पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। संगठन की दृष्टि से व्यवस्थापिका के दो स्वरूप पाये जाते हैं। प्रथम एक सदनात्मक व्यवस्थापिका (Unicameral Legislative) और द्वितीय द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bicameral Legislative)

एक सदनात्मक व्यवस्थापिका
(Unicameral Legislative)

एक सदनात्मक व्यवस्थापिका की प्रणाली अठारहवीं के अन्त से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अत्यधिक प्रचलित रही है। यह काल लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रारम्भिक काल था। उस समय सर्वसाधारण के महत्व को प्रतिस्थापित करने के प्रति अत्यधिक जोश था अतः सम्प्रभुता को सर्वसाधारण में स्थान दिलाने हेतु एक ही सदन को महत्व दिया गया था। बेन्जामिन ने इसके महत्व को व्यक्त करते हुए लिखा है कि किसी भी व्यवस्थापिका में द्वितीय सदन का अस्तित्व अनावश्यक है। अर्थात् दो सदनों का रहना ठीक वैसे ही है, जैसे किसी गाड़ी में दोनों ओर विपरीत दिशा में घोड़े जोत दिये जायें, आगे और पीछे दोनों ओर से घोड़े अपनी-अपनी तरफ गाड़ी को खींचें और वह किसी भी तरफ आगे नहीं बढ़ सके। सीयेज ने भी लिखा है कि कानून लोगों की इच्छा का फल है। लोग एक ही समय में एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएं नहीं रख सकते हैं। इसीलिए कानून निर्मात्री सभा भी, जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है, अनिवार्यतः एक ही होनी चाहिए।

फ्रांस में 1791 तथा 1848 और इंगलैण्ड में 1851 में एक सदनीय व्यवस्था लागू की गई थी परन्तु वे असफल रही अतः वहां द्विसदनात्मक व्यवस्था को लागू किया गया। परन्तु नेपाल, इक्वेडोर, मैक्सीको, ग्रीस, पुर्तगाल, पीरू, यूनान, इस्थोनिया, युगोस्लाविया, स्पेन,

बल्गेरिया, कोस्टारिका, लक्जमबर्ग, फिनलैंड, लैटविया आदि देशों में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली अपनाई है यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इन देशों का विशेष महत्व नहीं है। अतः विश्व के अधिकांश महत्व पूर्ण राष्ट्रों ने द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली अपनाई है। इनमें विशेष उल्लेखनीय राष्ट्र है—ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत रूस, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैंड, जापान, अफगानिस्तान, श्रीलंका, मिस्र, दक्षिणी अफ्रीका, बेल्जियम, आयरलैंड आदि। इसका कारण यह है कि देश के लिए जो स्थायी और कल्याणकारी कानूनों के निर्माण का जो कार्य व्यवस्थापिका को सौंपा गया है वह उत्तेजना, जल्दबाजी और अस्थिरता में नहीं बनना चाहिए। अतः फाइनर (H. Finer) ने द्विसदनात्मक प्रणाली का समर्थन करते हुए लिखा है कि इस प्रणाली को अपनाये जाने के दो प्रमुख कारण है—संघवाद तथा एक सदन की उद्दण्डता पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका (Bicameral Legislative)

ब्रिटेन की संसद विश्व में सबसे प्राचीन है। यह संयोग वश ही द्विसदनात्मक हो गई है। अतः द्विसदनात्मक प्रणाली को ऐतिहासिक और संयोग का ही प्रतिफल कहा जा सकता है। विलोबी ने लिखा है, "यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद संसार की अन्य व्यवस्थापिकाएं भी द्विसदनात्मक नहीं होतीं।"[1] पोलस्की ने लिखा है कि "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंगलैंड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और उसी का अनुकरण अन्य देशों ने किया है।"

इस द्विसदनात्मक प्रणाली में एक उच्च या द्वितीय सदन (Upper or second Chamber) और दूसरा निम्न या प्रथम सदन (Lower or First Chamber) कहलाता है। निम्न सदन सर्व साधारण का प्रतिनिधित्व करता है जबकि द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गों संस्थाओं और स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु द्वितीय सदन के संगठन के सम्बन्ध में सार्व भौमिक सिद्धान्त नहीं है विभिन्न देशों में विभिन्न आधारों पर इसका संगठन मिलता है। इंगलैंड में लार्ड सभा वंश परम्परा पर आधारित है। इटली, जापान और कनाडा में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों द्वारा इसका निर्माण होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील और पोलैंड में इसके सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है तो भारत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन।

द्वितीय सदन के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Second Chamber)

लोक तांत्रिक पद्धति की रक्षा और विभिन्न स्वार्थों और हितों के प्रतिनिधित्व के लिए द्वितीय सदन अत्यावश्यक है। सर हेनरी मेन ने भी इसकी आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है। इसके पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं:—

1. "It is safe to say that had it (The English Parliament) not assumed this form there is little likelihood that this mode of organisation would now be so prevalant." —Willoughby

(1) द्वितीय सदन प्रथम सदन की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता को रोकती है—जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रथम सदन के सदस्य प्राय: भावुक और अदूरदर्शी होते हैं। वे भावी परिणामों पर विचार किये बिना ही नवीन सुधारों को लागू करने की उतावली करते हैं। साथ ही बार-बार निर्वाचित होने से प्राप्त शक्ति मनुष्य को घमंड, महत्वाकांक्षा और स्वेच्छाचारिता की ओर अग्रसर कर देती है। इसके फलस्वरूप अनुत्तरदायी और स्वेच्छाचारी कानूनों के निर्माण को बल मिलता है। अत: स्टोरी ने लिखा है कि "व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का यही उपाय है कि उसके कार्यों का विभाजन कर दिया जाये, स्वार्थ के विरुद्ध, महत्वकांक्षा के विरुद्ध दूसरे सदन का वैसा ही गठबंधन एवं प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाये।"[1] लीकॉक ने लिखा है, "एक सदनात्मक व्यवस्थापिका निरंकुश तथा अनुत्तरदायी होती है और भावावेश तथा भाषणों के प्रभाव में बह जाती है।"[2]

लैकी ने लिखा है कि "शासन के उन समस्त रूपों में से, जिनका ज्ञान मनुष्य के लिए सम्भव है, मैं किसी ऐसे शासन को नहीं जानता जो एक अकेले सर्वशक्तिशाली लोकतंत्रीय सदन के शासन से बुरा हो।"[3] गार्नर ने भी द्वितीय सदन को स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध सुरक्षा तथा स्वतंत्रता की गारंटी बताया है।

(2) जल्दबाजी पर रोक—एक संसदात्मक व्यवस्थापिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं अत: प्राय: वे जनता की क्षणिक भावना और आवेश से प्रभावित रहते हैं। वे प्रतिनिधि स्वयं विधि निर्माण में अनुभव की कमी के साथ ही साथ भावुकता से प्रभावित होकर बिना भावी परिणामों को सोचे ही विधि का निर्माण कर देते हैं। वे प्राय: नवीन सुधारों को लागू करने की उतावली करते हैं। इससे एक पक्षीय और तर्कहीन कानून के निर्माण की आशंका रहती है जो कभी-कभी जनहित के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। लैकी ने लिखा है कि नियंत्रण करने, संशोधन करने तथा रुकावट लगाने में जो कार्य द्वितीय सदन करता है उससे उसकी आवश्यकता स्वयं सिद्ध है। जार्ज वाशिंगटन ने कहा था कि द्वितीय सदन वह प्लेट है जिसमें प्रथम सदन की उबलती हुई चाय ठंडी की जाती है। प्रो. बेरेन ने लिखा है, "दो सदनों के रहने से विचार विमर्श में सतर्कता एवं सुन्दर और अधिक सावधानी से विश्लेषित एवं संग्रहीत व्यवस्थापन की प्राप्ति होती है।"

1. "The only effective barrier against oppression is to separate its operations, to balance interest against interest, 'ambition against ambition, the combinations and spirit of dominion of one body against the like combination and spirit of another."
—Story.

2. "A single Legislative House ....proves itself rash and irresponsible, it is swayed emotions, by passions, by the influence of oratory, it is liable to sudden excess of extravagance."
—Leacock.

3. "Of all the form of government, that are possible among mankind, I do not know any which is likely to be worse than government of a single omnipotent democratic chamber."
—Lecky.

(3) संघात्मक के लिए आवश्यक—संघात्मक शासन व्यवस्था में द्वितीय सदन का होना आवश्यक है क्योंकि संघात्मक शासन में दो तत्वों का प्रतिनिधित्व रहता है प्रथम तत्व जनता और द्वितीय संघीभूत इकाइयों का। अतः जनता के प्रतिनिधित्व के लिए प्रथम सदन और संघीभूत इकाइयों के लिए द्वितीय सदन अनिवार्य है। इतना ही नहीं इससे संघीभूत इकाइयों की प्रादेशिक समानता भी बनी रहती है अन्यथा बड़ी एवं अधिक शक्तिशाली इकाइयां छोटी इकाइयों के व्यक्तित्व को ही समाप्त कर दे। मैरीयट एवं इसी प्रकार फाइनर ने भी इसी कारण द्वितीय सदन को अनिवार्य बतलाया है।

(4) प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का पोषक—प्रजातांत्रिक प्रणाली का महत्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा है। अतः यह बात आवश्यक है कि सम्प्रभु शक्ति का विकेंद्रीकरण कर दिया जाए और यह तभी संभव है कि एक सदन में शक्ति केंद्रित करने की अपेक्षा दो सदनों में विभाजित कर दी जाए।

(5) विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व—प्रथम सदन में बहुमत प्रतिनिधि होते हैं। अतः अल्प संख्यक प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाता है। साथ ही अनुभवी और योग्य व्यक्ति चुनाव के झमेले में नहीं पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यह बात बड़ी आवश्यक है सभी वर्गों और विशिष्ट हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए द्वितीय सदन का प्रयोग किया जाए अर्थात् बुद्धि, ज्ञान, परम्परा, राजनीतिक अनुभव जन सेवा, कला आदि दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को इसमें स्थान दिया जाय। जे. एस. मिल ने लिखा है, "यदि निम्न सदन जनता के प्रतिनिधियों का सदन है तो उच्च सदन राजनीतिज्ञों और कलाकारों का सदन है।" हमारे देश के संसद के उच्च सदन राज्य सभी में कुछ सदस्य को इसी आधार पर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है। इतना ही नहीं कुछ तो लोकतन्त्र की सफलता के लिए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व आवश्यक भी मानते हैं। ब्लटंश्ली ने लिखा है, "हम राज्य की जनसंख्या में कुलीनतंत्रीय और लोकतंत्रीय तत्वों में भेद करने की उपेक्षा नहीं कर सकते और विधान मंडल में दूसरे तत्व से अन्याय किये बिना एक तत्व का प्रतिनिधित्व करने की आज्ञा नहीं दे सकते।"

(6) पुनरावलोकन—द्वितीय सदन से प्रथम सदन द्वारा किये गये कार्य का पुनरावलोकन हो जाता है। निम्न सदन जब एक विधेयक पारित करता है तो वह फिर द्वितीय सदन में जाता है। इस बीच एक तो उस विधेयक पर जनमत ज्ञात हो जाता है। दूसरा द्वितीय सदन प्रथम सदन द्वारा कोई त्रुटि उस विधेयक में रह गई हो तो उसे ठीक कर देता है। में ब्लुंशली ने ठीक कहा है कि इसमें संदेह नहीं है कि दो आँखों से चार आँखें अच्छी होती है अतःएक सदन से दो सदन अधिक लाभदायक होते हैं।

(7) विवेक और अनुभव का घर—द्वितीय सदन में प्रायःअपेक्षाकृत अधिक विवेकी और अनुभवी व्यक्ति होते हैं। इस सदन का गठन ही विशिष्ट ज्ञानी और योग्य व्यक्तियों द्वारा होता है अतःये व्यक्ति निम्न सदन के सदस्यों से अधिक अनुभवी योग्य और दूरदर्शी होते हैं। सर हेनरीमेन ने लिखा है, "प्रायः कोई भी द्वितीय सदन न होने की अपेक्षा एक

कारण से अच्छा है कि भलि भांति निर्मित द्वितीय सदन विपक्षी भ्रांति होने की अपेक्षा अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करता है।"

द्वितीय सदन के विपक्ष में तर्क
(Arguments against Second Chamber)

द्वितीय सदन में जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ उसमें दोष भी अनेक हैं। अतः अनेक विद्वानों ने इसे अनुपयोगी और अनावश्यक बतलाते हुए इसकी आलोचना की है फ्रांस के एक विद्वान् अब्बे सीएज ने लिखा है कि "द्वितीय सदन की क्या आवश्यकता है ? यदि वह प्रथम सदन से साथ सहमत होता है तो उसका कोई उपयोग नहीं है और यदि वह सहमत नहीं होता तो वह केवल शैतानी करेगा।"[1] बेन्थम ने लिखा है, "द्वितीय सदन प्रथम से सहमत है तो निरर्थक है और यदि असहमत है तो अनैतिक है।"[2] संक्षेप मे द्वितीय सदन के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(1) जन इच्छा को दो भागों में विभाजत करना अनुचित—जनतंत्र में सम्प्रभुता जनता में निहित होती है जिसका प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका द्वारा होता है। सम्प्रभुता अखंड अथवा अविभाजित होती है अतः उसका प्रतिनिधित्व भी एक ही सदन द्वारा होना चाहिए। अब्बे सीयेज ने ठीक लिखा है, "कानून लोगों की इच्छा है, लोग एक ही समय में एक विषय के लिए दो भिन्न इच्छाएं नहीं रख सकते।"[3] अतः द्वितीय सदन अनावश्यक है।

(2) प्रगतिशील विधि के निर्माण में बाधक—द्वितीय सदन के सदस्य अपेक्षाकृत अधिक आयु वाले होने के कारण उनका अनुभव तो अधिक होता है किन्तु उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी होने के कारण संकीर्ण बन जाता है अतः वे प्रगतिशील विधि को बनाने से प्रायः कतराते हैं।

(3) विभाजित उत्तरदायित्व—द्विसदनात्मक पद्धति में उत्तरदायित्व विभाजित हो जाता है अतः उनमें से यह ज्ञात करना कठिन है कि व्यवस्थापिका की क्या इच्छा है और निश्चित कानून के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी कौन है ?

(4) खर्चीली प्रणाली—द्विसदनात्मक प्रणाली अत्यधिक खर्चीली है। अतः प्रो. लास्की ने ठीक लिखा है, "आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक सदनीय व्यवस्थापिका में ही हो सकती है क्योंकि द्विसदनीय व्यवस्थापिका में काम की पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।"

(5) कानून निर्माण के लिए द्वितीय सदन अनावश्यक—प्रथम सदन में जनता के प्रतिनिधि होते हैं जो क्षणिक भावावेश और उतावलेपन में कानून पास कर सकते हैं अतः

1. "If the second chamber agrees with the first, it is superfluous and if it disagrees, it is mischievous." —Abe Sieyes.
2. "If the second chamber agrees with the first, it is useless and if it is disagrees, it immoral." —Bentham.
3. "Law is the expression of people's will people can't have two different wills at the same time on the same issue." —Abe Sieyes.

इस जल्दबाजी को रोकने के लिए द्वितीय सदन की आवश्यकता है पर यह उचित नहीं है। प्रो. लास्की ने कहा है कि कम से कम इस आधार पर दूसरे सदन का समर्थन तो नहीं किया जा सकता है कि किसी भी विषय को कानूनी रूप देने के लिये प्रथम सदन में लम्बे समय तक विचार विमर्श चलता रहता है। तब तक समाचार पत्रों आदि के द्वारा उसके सम्बन्ध में लोकमत भी ज्ञात हो जाता है।

(6) संघात्मक शासन के लिये अनुपयोगी—संघात्मक शासन प्रणाली में अल्प संख्यकों और संघी भूत इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व देने तथा उनके हितों की सुरक्षा के लिए द्वितीय सदन आवश्यक बतलाया गया है, पर यह भी उचित नहीं है क्योंकि संघा॰ त्मक व्यवस्था में उनके अधिकारों की रक्षा वैधानिक संरक्षणों और स्वतंत्र न्यायालयों से होती है, न कि द्वितीय सदन से।

(7) संगठन सम्बन्धी अनिश्चितता—द्वितीय सदन का संगठन का सिद्धांत सर्व॰ मान्य और निश्चित नहीं है। विभिन्न देशों में इसके संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त विभि प्रकार से मिलते हैं। इसी प्रकार इसके अधिकारों के सम्बन्धों में भी एक रूपता न मिलती है।

उपर्युक्त तर्कों से सिद्ध होता है कि आधुनिक युग में द्वितीय सदन के विरुद्ध वाता वरण निर्मित बनता जा रहा है। उन्नीसवीं सदी में इसके पक्ष में वातावरण था परन्तु अ विरोधी वातावरण बनता जा रहा है। नये संविधानों में इस पद्धति को स्थान कम से क मिल रहा है और जहाँ पर यह प्रणाली पहले से चली आ रही है वहाँ पर द्वितीय सदन व अपेक्षा प्रथम सदस्य को अधिक अधिकार दिये जा रहे हैं। गेटेल ने ठीक लिखा है, "भविष एक सदनीय प्रणाली का ही साथ देगा और दो सदनों की प्रणाली तो राजनीतिक विका की केवल एक अस्थायी दशा है।" इतना होने पर भी इस प्रणाली की अच्छाई या बुराई के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सकता है अपितु यह तो प्रत्येक देश की परिस्थितियों पर निर्भ करता है। उदाहरणार्थ अमेरिका की शासन व्यवस्था में सीनेट का प्रमुख हाथ है जबकि अनेक देशों में द्वितीय सदन को समाप्त भी कर दिया जाए तो कोई अन्तर नहीं आयेगा।

कार्यपालिका
(Executive)

कार्यपालिका सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। कार्यपालिका का अर्थ उन सदस्यों से होता है जो देश में निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करते हुए देश का शासन संचालित करें। गार्नर ने लिखा है, "व्यापक और सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेन्सियाँ आ जाती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा, जिसे व्यवस्थापिका ने निर्धारित कानून के रूप में व्यक्त किया है, को कार्य रूप

में परिणत करना है।"[1] गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "कार्य कारिणी सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य रूप में परिणत करती है।"[2] किसी ने कहा है, "यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन यंत्र घूमता है।"[3] शुल्ज के अनुसार विश्व में सरकार के प्रत्येक स्तर पर कार्य पालिका का बढ़ता हुआ महत्व एक सामान्य लक्षण है। नीति निर्धारण तथा उनके क्रियान्वयन में मुख्य कार्यपालक तथा उनके अगणित प्रशासकीय अधीनस्थ कर्मचारी इतने प्रभावशाली बनाते जा रहे हैं कि लोकतंत्र तक में ये व्यवस्थापिकायें प्रशासकीय प्रक्रिया का नेतृत्व करने के स्थान पर एक सहायक के रूप में अपना अनुदान दे रही हैं।

कार्यपालिका के मुख्यतया दो भाग होते हैं। एक राजनैतिक कार्य पालिका और दूसरी स्थायी लोक सेवायें। कार्यकारिणी से अर्थ उन सब सदस्यों से होता है जो व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये कानूनों को कार्य रूप में परिणित करते हैं। कार्यपालिका वह धुरी है, जिसके आस पास राज्य का वास्तविक प्रशासन चक्र घूमता है। व्यापक रूप में कार्य पालिका उन सब ऐजेन्सियों तथा कार्य कर्त्ताओं के योग से बनती है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छाओं को कार्य रूप में परिणित करते हैं। कार्य पालिका के अंतर्गत राज्य के उच्च से उच्च कर्मचारी (प्रधान मंत्री) से लेकर चपरासी तक आ जाता है। जो भी व्यक्ति राज्य के विभिन्न कानूनों को तोड़ता है वह कार्य पालिका द्वारा पकड़ा जाता है और न्यायपालिका द्वारा दंडित किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा दिये गये दंड को भी कार्य पालिका ही कार्य रूप में परिणित करती है।

कार्य पालिका का निर्माण
(Formation of Executive)

कार्य पालिका का निर्माण विभिन्न देशों में विभिन्न तरीकों से होता है। इस संबंध में निम्नलिखित चार तरीके प्रमुख हैं:—

(1) वंशानुगत कार्यपालिका—इस प्रणाली के अनुसार वंश विशेष का व्यक्ति ही कार्य पालिका का सदस्य अथवा प्रधान होता है। उसका उत्तराधिकारी जेष्ठाधिकार के अनुसार बनता है। इसकी पदावधि अजीवन होती है। इंगलैंड में इसी प्रकार की व्यवस्था है। बेल्जियम में भी इसी व्यवस्था का अनुसरण किया गया है। आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में यह प्रथा समयानुकूल नहीं है। इसीलिए जहाँ यह व्यवस्था पाई जाती है वहाँ वास्तविक शक्ति शासक के हाथ में न होकर जनता के प्रतिनिधियों अर्थात् मंत्र मण्डल के हाथ में निहित होती है।

1. "In a broad and collective sense, the executives are concerned with the execution of the will of the state as formulated and expressed in terms of law by the legislature" —Garner.
2. "The executive is that branch of government which carries out or executes the will of the people as formulated in law." —Gilchrist.
3. "It is the pivot around which the actual administration of the state revolves and includes all officials engaged in administration."

(2) जनता द्वारा निर्वाचित—कुछ देशों में कार्य पालिका का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन से भी होता है। अनेक देशों में उनके राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होता है। इससे जनता में राजनीतिक चेतना बनी रहती है तथा जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति में जनता का पूर्ण विश्वास बना रहता है। परंतु जहाँ एक ओर इस पद्धति में लाभ है वहाँ दूसरी ओर इससे जनता में अनावश्यक रूप से उथल-पुथल व अव्यवस्था भी उत्पन्न होती है।

(3) निर्वाचित निर्वाचक-मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—प्रत्यक्ष निर्वाचन के उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए कुछ देशों में कार्य पालिका के निर्वाचन में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति अपनाई जाती है। इससे जनता के द्वारा कार्य पालिका का प्रत्यक्ष निर्वाचन करने के बजाय अध्यक्ष के निर्वाचन के लिए कुछ लोगों का निर्वाचन कर देती है। यह पद्धति संयुक्त राज्य अमेरिका, स्पेन आदि देशों में प्रयोग की जाती है।

(4) व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्वाचन—इसके अनुसार व्यवस्थापिका के सदस्य कार्य पालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन में यही पद्धति प्रयुक्त की गई है। इससे राज्याध्यक्ष का निर्वाचन थोड़े और अपेक्षाकृत योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहता है तथा कार्य पालिका और व्यवस्थापिका में परस्पर सहयोग बना रहता है। इससे देश व्यापी अनावश्यक उथल पुथल भी बच जाती है। परन्तु इसमें कार्य पालिका व्यवस्थापिका की कठपुतली बन जाती है। साथ ही यह पद्धति शक्ति परीक्षण सिद्धान्त के विपरीत है।

कार्यपालिका के विभिन्न प्रकार
(Types of the Executive)

कार्य पालिका के निम्नांकित विभिन्न स्वरूप प्रमुख हैं:—

(1) नाम मात्र का मुख्य कार्यपालक तथा वास्तविक मुख्य कार्यपालक
(The Titural chief Executive and the Real chief Executive)-

संसदात्मक शासन व्यवस्था में मुख्य कार्यपालक दो प्रकार के होते हैं, प्रथम नाममात्र का मुख्य कार्यपालक तथा द्वितीय, वास्तविक मुख्य कार्यपालक। उदाहरणार्थ भारत का राष्ट्रपति नाममात्र का मुख्य कार्यपालक है तथा प्रधान मंत्री सहित मन्त्रि मंडल वास्तविक कार्यपालक है। ऐसी स्थिति में प्रशासकीय शक्ति तो नाम मात्र के मुख्य कार्यपालक के पास होती है परन्तु वह उसका उपयोग अनिवार्य रूप में वास्तविक मुख्य कार्यपालिका की सलाह के आधार पर ही कर सकता है। इंगलैंड में इसी प्रकार नाम मात्र की मुख्य कार्यपालिक साम्राज्ञी है जबकि मंत्रि मंडल वास्तविक कार्यपालिका है। संघात्मक शासन व्यवस्था में राज्य सरकारों में राज्यपाल (Governor) नाम मात्र के मुख्य कार्यपालक है। परंतु अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति ही वास्तविक मुख्य कार्यपालक होता है, जैसा कि अमेरिका में है।

(2) सोवियत रूस की कार्यपालिका
(The Soviet Executive)

यह कार्यपालिका मिश्रित प्रकार की है तथा इसमें संसदात्मक व अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार के प्रशासनों की कार्यपालिका के लक्षण पाये जाते हैं। यहाँ की मुख्य कार्यपालिका मंत्रि मण्डल से मिलती जुलती है तथा इसका चुनाव सर्वोच्च (Supreme Soviet) के द्वारा होता है। वास्तव में यह चुनाव नाम मात्र का होता है क्योंकि यहाँ के मंत्रि मंडल का वास्तविक चुनाव साम्यवादी दल के द्वारा ही होता है। यह मन्त्रि मंडल औपचारिक रूप से सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी होता है परन्तु वास्तव में वह साम्यवादी दल के प्रति उत्तरदायी होता है। वहाँ मन्त्रि मण्डल के प्रत्येक मन्त्री की एक सलाहकार समिति होती है जिसके पास कभी कभी सलाह देने से भी अधिक शक्ति होती है। यहाँ पर राष्ट्रपति के रूप में मुख्य कार्यपालक नहीं होता है। केन्द्रीय कार्यपालिका समिति का अध्यक्ष (The chairman of the central Executive Committee) ही मुख्य कार्यपालक होता है।

3. स्विट्ज़रलैंड की बहुल कार्यपालिका
(The Collegial Executive of Switzerland)

यह कार्यपालिका संसदात्मक और अध्यक्षात्मक प्रकार की शासन व्यवस्था की कार्यपालिकाओं का मिश्रित रूप है। संसदात्मक प्रणाली के समान यह एक व्यक्ति में निहित न होकर सात सदस्यों की एक समिति होती है। इसमें कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होता है जो कि संसदात्मक कार्यपालिका के प्रधान मंत्री के समान स्थिति रखता हो। इसके सभी सदस्य स्थिति में समान होते हैं। कार्यपालिका के ये सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं तथा अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। साथ ही अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के समान बहुल कार्यपालिका के सदस्यों का चुनाव व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के द्वारा एक निश्चित अवधि तक के लिए होता है। जब व्यवस्थापिका कार्यपालिका की किसी नीति को अस्वीकृत करदे तो कार्यपालिका के सदस्यों के लिए त्यागपत्र देना अनिवार्य नहीं है अपितु आज्ञाकारी अनुचर की तरह वे अपनी नीति में व्यवस्थापिका की इच्छा के अनुसार परिवर्तन कर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

कार्यपालिका के इन विभाजनों को हम मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं—एकल कार्यपालिका और बहुसंख्यक कार्यपालिका। एकल कार्यपालिका व्यवहारिक दृष्टि से ऐसी कार्यपालिका होती है जो प्रायः अधिक शक्तिशाली होती है जबकि बहुसंख्यक कार्यपालिका के निर्णयों में शिथिलता, उद्देश्यों की एकता का अभाव एवं शक्ति की कमी रहती है और इसमें सदैव परस्पर मतभेद और संघर्ष की संभावना भी बनी रहती है। परन्तु इस प्रणाली में किसी एक व्यक्ति के निरंकुश बनने अथवा उसके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की आशंका प्रायः नहीं रहती है। इतना होने पर भी अधिकांश लेखकों ने एकल कार्यपालिका का ही समर्थन अधिक किया है। नेपोलियन ने लिखा है, "दो अच्छे जनरलों

की अपेक्षा एक बुरा जनरल अच्छा होता है।" अमेरिकन न्यायाधीश स्टोरी ने इसकी सराहना करते हुए लिखा है, "कार्यपालिका को एकात्मक और व्यवस्थापिका को बहुसंख्यक होना चाहिए।"[1] वुल्जे ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "एक व्यक्ति की कार्यपालिका के काम स्पष्ट हैं, वह सरकार में एकता और योग्यता लाने की क्षमता रखती है और अकेला होने के कारण वह या उसका मंत्रिमंडल उत्तरदायी होता है। किन्तु इसके विपरीत जहाँ दो प्रधान होंगे वे यदि भिन्न दलों के होंगे तो एक दूसरे के अवरोध होंगे और यदि उसी दल के होंगे तो ईर्ष्यालु और प्रतिद्वन्दी होंगे।"[2]

कार्यपालिका के कार्य
(Functions of the Executive)

सैद्धान्तिक दृष्टि से कार्यपालिका का कर्तव्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करना है परन्तु आधुनिक युग में कार्यपालिका का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। यहाँ तक की सरकार शब्द का प्रयोग भी उसी के लिए किया जाता है। इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:—

(1) प्रशासन—प्रशासन की नीति निर्धारण करना, कार्य रूप में परिणित करना तथा राज्य के दैनिक कार्यों का प्रबन्ध करना प्रत्येक कार्यपालिका का प्रमुख कार्य है। प्रशासन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसे विभिन्न विभागों में विभाजित किया जाता है प्रत्येक विभाग का एक मंत्री होता है तथा उसकी सहायता के लिए अन्य सचिव तथा कर्मचारी रहते हैं। शासन की सुप्रबन्धता कार्यकारिणी की क्षमता की सबसे बड़ी कसौटी है।

(2) कूटनीतिक कार्य—कूटनीतिक कार्यों से अभिप्राय: परराष्ट्र नीति से है। इसमें विदेशी दूतावास, राजदूतों की नियुक्ति आदि कार्यों का समावेश होता है। अपने यहाँ विदेशी राजदूतों के रहने का प्रबन्ध एवं राजनैतिक, धार्मिक और व्यापारिक संधियाँ करना आदि अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति के अधिकार होते हैं परन्तु संसदात्मक पद्धति में ये कार्यकारिणी के ही कार्य होते हैं।

(3) सैनिक कार्य—कुशल सैनिक व्यवस्था भी कार्यकारिणी का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए मंत्रि मंडल में रक्षा मंत्री होता है। देश के बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने एवं शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए सेना की आवश्यकता होती है क्योंकि सेना के स्तर और संगठन पर ही देश की स्वतंत्रता की रक्षा और विकास निर्भर है।

1. "There ought to be a single executive and numerous legislature." —Story
2. "The advantage of a single chief are obvious; he is able to bring unity and efficiency into the government and being alone, he or his ministry is responsible, where as two presidents would be apt to checkmate one another if they were of different parties & would be jealous and rivals, if they were of the same party." —Woolsey

(4) न्याय सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य देश में न्याय व्यवस्था की स्थापना करना तथा न्यायधीशों की नियुक्ति करना होता है। कार्यपालिका को प्रायः क्षमादान करने का भी अधिकार होता है। कार्यपालिका इस बात का पूरा ध्यान रखती है कि न्यायाधीश अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करने लगे। नये कानूनों के विषय में सम्मति देना भी कार्यपालिका का कार्य है।

(5) वित्तसम्बन्धी कार्य—देश के शासन पर करोड़ों रुपये वार्षिक व्यय होते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए कर लगाने पड़ते हैं तथा अन्य साधनों से धन कमाना पड़ता है। आय व्यय का ब्यौरा तैयार करने का उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका पर ही है। सैद्धान्तिक रूप से वित्त की स्वीकृति व्यवस्थापिका की होती है क्योंकि बजट व्यवस्थापिका में पास के बाद स्वीकृत माना जाता है, परन्तु व्यवहार में सम्पूर्ण बजट का निर्माण कार्यपालिका द्वारा किया जाता है तथा वित्त मंत्री इसे व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करता है और इसि वर्ष बजट की स्वीकृति सदन में ली जाती है।

(6) वैधानिक कार्य—कार्यपालिका का कार्य केवल मात्र कानूनों को लागू करना ही नहीं है बल्कि कानून के निर्माण में भी व्यवस्थापिका को सहयोग देना है। संसदात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका की वैधानिक शक्ति बहुत ही विस्तृत होती है। इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाना उन्हें स्थगित अथवा भंग करना भी कार्यपालिका का ही कार्य है।

(7) अन्य कार्य—इन कार्यों के अतिरिक्त अनेक देशों में उपाधियां वितरण करने का अधिकार भी कार्यपालिका का होता है। कुछ देशों में विशिष्ट सेवा के बदले पेन्शन या अन्य सहायता देने का अधिकार भी कार्यपालिका का होता है। अब व्यक्तिवादी पुलिस राज्य का अन्त हो चुका है और दिन प्रतिदिन समाजवाद के प्रभाव में प्रत्येक देश की कार्यपालिका का कार्य क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है।

न्यायपालिका
(Judiciary)

न्यायपालिका कानूनों की व्याख्या करती है और कानून भंग करने वालों को दण्ड देती है। अतः शासन के ढाँचे को बनाये रखने के लिए न्यायपालिका की अत्यन्त आवश्यकता है। देश में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की व्यवस्था कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, परन्तु यदि न्याय करने में पक्षपात किया जाता है या विलम्ब होता है तो जन जीवन सुखी नहीं रह सकता है। डॉ. गार्नर ने ठीक लिखा है, "न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई भी समाज बिना विधान मंडल के रहता है, वह एक सभ्य समाज हो सकती है; लेकिन ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका या न्यायाधिकरण की व्यवस्था न हो।" लास्की ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है, "विधान पालिका की अनुपस्थिति में तो एक समाज की कल्पना की जा सकती है किन्तु बिना न्यायपालिका के अस्तित्व के ही किसी सभ्य राज्य की कल्पना

जा सकता है।"[1] यह ठीक भी है कि उचित न्याय व्यवस्था से ही नागरिक अधिकारों की रक्षा हो सकती है। राले ने लिखा है, "अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए, अपराधियों को दंड देने के लिए तथा निर्बलों की अत्याचार से रक्षा करने के लिए न्याय विभाग अत्यन्त आवश्यक है।"[2]

ब्राइस ने इसके महत्व को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है, "न्यायिक प्रशासन की उत्तमता से बढ़कर सरकार की कार्य कुशलता एवं योग्यता को मापने का अन्य कोई माध्यम नहीं है।....यदि न्याय का दीपक अंधकार से आवृत हो जाय तो उससे उत्पन्न अंधकार का अनुमान लगाना कठिन है।" इस स्थान पर यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में राज्य में विधि के शासन (Rul of Law) की मान्यता का सिद्धांत लागू है जिसका अर्थ है कि राज्य के सभी व्यक्ति उच्च पद पर आसीन व्यक्ति से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी कानून की नजरों में समान हैं अर्थात् कानून सभी पर समान रूप से लागू होता है। अन्य शब्दों में कानून का उल्लंघन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दंडित किया जा सकता है। इस स्थिति में न्यायपालिका का महत्व और भी बढ़ जाता है तथा उसकी निष्पक्षता पर ही कानून का शासन व्यवहार में स्थापित हो पाता है।

न्यायपालिका के कार्य
(Functions of the Judiciary)

न्यायपालिका के अनेक कार्य हैं जो संक्षेप में निम्नानुसार हैः—

(1) अभियुक्तों के निर्णय सम्बन्धी कार्य

जनता को सही न्याय देना तथा कानून को तोड़ने वालों को दंड देना और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना इसके अन्तर्गत आता है न्याय पालिका व्यक्तियों के पारस्परिक दीवानी, फौजदारी झगड़ों का निपटारा करती है। इस प्रकार यह वह संस्था है जो बिना पक्षपात के कानून को सर्वोपरि रखकर उसके अनुसार अभियुक्त को सजा सुनाती है।

(2) कानूनों की व्याख्या करना

न्यायलयों द्वारा कानूनों की व्याख्या कर उनका स्पष्टीकरण किया जाता है ताकि कानून बनाने वाली संस्था उनके अनुभवों का लाभ उठाकर कोई ऐसा कानून नहीं बनाएं जिससे गलत व्यक्तियों को लाभ पहुँच सके। इसके अतिरिक्त कानूनी अड़चनों को सरल रूप में रखना भी उनका कार्य है। कानून की व्यवस्था करते हुए न्यायालय कानूनों का निर्माण भी करते हैं क्योंकि जब किसी विषय पर कानून निश्चित नहीं होता है तो औचित्य, धर्म न्याय के आधार पर ही न्यायालय द्वारा निर्णय लिया जाता है।

1. "A society without legislative organ is conceivable.........but a civilized state without judicial organs is hardly conceivable." —Bryce.
2. "It is indispensable that there should be judicial department to ascertain, and decide rights, to punish crimes to administer justice and protect the innocent from injury and usurption." —Roule.

(3) संविधान की व्याख्या तथा संरक्षण

न्यायालय देश के विधान की पवित्रता तथा उसमें लिखित व्यवस्था की रक्षा करता है। यदि किसी राज्य का संविधान लिपिबद्ध है और कानून इससे विपरीत बन जाता है तो न्यायपालिका संविधान के अनुसार निर्णय देकर उसकी रक्षा करती है। इसी प्रकार यदि व्यवस्थापिका संविधान के विपरीत कानून बना देती है तो उसे न्यायपालिका अवैध घोषित कर देती है। शासन के विभिन्न अंगों के सम्बन्धों के विषय में भी न्यायपालिका निर्णय देती है।

(4) परामर्श सम्बन्धी कार्य

किसी कानून में उलझन हो तो कार्यपालिका उसके सम्बन्ध में राय जानने के लिए न्यायपालिका के पास भेज देती है। इस प्रकार कानूनी परामर्श देने का कार्य भी न्यायपालिका करती है।

(5) घोषणात्मक निर्णयों का कार्य

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यवस्थापिका जाने या अनजाने में ऐसे कानून बना डालती है जो अस्पष्ट या पूर्व निर्धारित कानून के विरुद्ध होते हैं। ऐसे नियमों पर न्यायालय को घोषणात्मक निर्णय देने का अधिकार होता है। इस प्रकार के विवादास्पद मामलों का कानूनी निर्णय तो न्यायालय करते ही हैं साथ ही कानूनों के अर्थ व उनके सही रूप को भी स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं।

(6) अन्य विविध कार्य

न्यायालय इन कार्यों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे बड़े कार्य करते हैं, जैसे वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। अवयस्कों के संरक्षकों की नियुक्ति करते हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी आदि नियुक्त करते हैं। पुराने मामलों में वसीयत की खाना-पूरी करके उसे रजिस्टर्ड करते हैं। लावारिस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध करते हैं। अवैध कार्यों पर रोक लगाते हैं। परमादेश आदि के द्वारा राज्य कर्मचारियों को उन कार्यों के करने हेतु बाध्य करते हैं जिनको वे नहीं करना चाहते हैं अथवा रोकते हैं जिनको वे गैर कानूनी रूप से करने के लिए उत्सुक हैं।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता
(Independence of the Judiciary)

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के लिए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता से अभिप्रायः है कि न्यायाधीश अपने कर्तव्य पालन में किसी से भी प्रभावित न हों। प्रो. गार्नर ने उचित ही लिखा है कि "यदि न्यायाधीशों में ईमानदारी, कुशलता और निर्णय देने की स्वतंत्रता न हो, तो न्यायाधिवर्ग का यह सारा ढांचा खोखला प्रतीत होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।" हैमिल्टन ने भी लिखा है, "किसी भी देश का कानून ... ही संगत

जा सकता है।"[1] यह ठीक भी है कि उचित न्याय व्यवस्था से ही नागरिक अधिकारों की रक्षा हो सकती है। रॉल ने लिखा है, "अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए, अपराधियों को दंड देने के लिए तथा निर्बलों की अत्याचार से रक्षा करने के लिए न्याय विभाग अत्यन्त आवश्यक है।"[2]

ब्राइस ने इसके महत्व को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है, "न्यायिक प्रशासन की उत्तमता से बढ़कर सरकार की कार्य कुशलता एवं योग्यता को मापने का अन्य कोई माध्यम नहीं है।....यदि न्याय का दीपक अंधकार से आवृत्त हो जाय तो उससे उत्पन्न अंधकार का अनुमान लगाना कठिन है।" इस स्थान पर यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में राज्य में विधि के शासन (Rul of Law) को मान्यता का सिद्धांत लागू है जिसका अर्थ है कि राज्य के सभी व्यक्ति उच्च पद पर आसीन व्यक्ति से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी कानून की नजरों में समान है अर्थात् कानून सभी पर समान रूप से लागू होता है। अन्य शब्दों में कानून का उल्लंघन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दंडित किया जा सकता है। इस स्थिति में न्यायपालिका का महत्त्व और भी बढ़ जाता है तथा उसकी निष्पक्षता पर ही कानून का शासन व्यवहार में स्थापित हो पाता है।

न्यायपालिका के कार्य
(Functions of the Judiciary)

न्यायपालिका के अनेक कार्य हैं जो संक्षेप में निम्नानुसार है:—

(1) अभियुक्तों के निर्णय सम्बन्धी कार्य

जनता को सही न्याय देना तथा कानून को तोड़ने वालों को दंड देना और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना इसके अन्तर्गत आता है न्याय पालिका व्यक्तियों के पारस्परिक दीवानी, फौजदारी झगड़ों का निपटारा करती है। इस प्रकार यह वह संस्था है जो बिना पक्षपात के कानून को सर्वोपरि रखकर उसके अनुसार अभियुक्त को सजा सुनाती है।

(2) कानूनों की व्याख्या करना

न्यायलयों द्वारा कानूनों की व्याख्या कर उनका स्पष्टीकरण किया जाता है ताकि कानून बनाने वाली संस्था उनके अनुभवों का लाभ उठाकर कोई ऐसा कानून नहीं बनावे जिससे गलत व्यक्तियों को लाभ पहुँच सके। इसके अतिरिक्त कानूनी अड़चनों को सरल रूप में रखना भी उनका कार्य है। कानून की व्यवस्था करते हुए न्यायालय कानूनों का निर्माण भी करते हैं क्योंकि जब किसी विषय पर कानून निश्चित नहीं होता है तो औचित्य, धर्म न्याय के आधार पर ही न्यायालय द्वारा निर्णय लिया जाता है।

1. "A society without legislative organ is conceivable.........but a civilized state without judicial organs is hardly conceivable." —Bryce.
2. "It is indispensable that there should be judicial department to ascertain, and decide rights, to punish crimes to administer justice and protect the innocent from injury and usurpation." —Roule.

(3) संविधान की व्याख्या तथा संरक्षण

न्यायालय देश के विधान की पवित्रता तथा उसमें लिखित व्यवस्था की रक्ष
है। यदि किसी राज्य का संविधान लिपिबद्ध है और कानून इससे विपरीत बन जा
न्यायपालिका संविधान के अनुसार निर्णय देकर उसकी रक्षा करती है। इसी प्रक
व्यवस्थापिका संविधान के विपरीत कानून बना देती है तो उसे न्यायपालिका अवैध
कर देती है। शासन के विभिन्न अंगों के सम्बन्धों के विषय में भी न्यायपालिक
देती है।

(4) परामर्श सम्बन्धी कार्य

किसी कानून में उलझन हो तो कार्यपालिका उसके सम्बन्ध में राय जानने
न्यायपालिका के पास भेज देती है। इस प्रकार कानूनी परामर्श देने का
न्यायपालिका करती है।

(5) घोषणात्मक निर्णयों का कार्य

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यवस्थापिका जाने या अनजाने में ऐ
बना डालती है जो अस्पष्ट या पूर्व निर्धारित कानून के विरुद्ध होते हैं। ऐसे वि
न्यायालय को घोषणात्मक निर्णय देने का अधिकार होता है। इस प्रकार के वि
मामलों का कानूनी निर्णय तो न्यायालय करते ही हैं साथ ही कानूनों के अर्थ व उ
रूप को भी स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं।

(6) अन्य विविध कार्य

न्यायालय इन कार्यों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे बड़े कार्य करते हैं, जैसे
अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। अवयस्कों के संरक्षकों की नियुक्ति
सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी आदि नियुक्त करते हैं। पुराने मामलों में वसीयत व
पूर्ति करके उसे रजिस्टर्ड करते हैं। लावारिस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध करते हैं
कार्यों पर रोक लगाते हैं। परमादेश आदि के द्वारा राज्य कर्मचारियों को उन
करने हेतु बाध्य करती है जिनको वे नहीं करना चाहते हैं अथवा रोकते हैं जिन
कानूनी रूप से करने के लिए उत्सुक हैं।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

(Independence of the Judiciary)

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के लिए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालि
श्यक है। न्यायपालिका का स्वतंत्रता से अभिप्राय: है कि न्यायाधीश अपने कर्त
में किसी से भी प्रभावित न हों। प्रो. गार्नर ने उचित ही लिखा है कि "यदि न्याय
प्रतिभा, सरलता और निर्णय देने की स्वतंत्रता न हो, तो न्यायाधिकर्म का यह स
खोखला प्रतीत होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसक
किया गया है।" हैमिल्टन ने भी लिखा है, "किसी भी देश का कानून कितना

क्यों न हो, एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्याय विभाग के बिना निष्प्राण है।"[1] न्यायपालि की स्वतंत्रता की स्थापना में निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाना अनिवार्य है।

(1) न्यायाधीशों की योग्यता—न्यायाधीशों के पद पर उन्हीं व्यक्तियों की नियु की जानी चाहिये जो इस पद के योग्य गुण और योग्यताएँ रखते हों। यह किसी विचा धारा विशेष या राजनैतिक दल से प्रभावित नहीं होना चाहिए बल्कि स्वतंत्र और निष्प विचारधारा के व्यक्ति को ही न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

(2) न्यायाधीशों की नियुक्ति—न्यायपालिका की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लि न्यायाधीशों की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका से प्रभाव रहित निष्पक्ष नियुक्ति होनी चाहिए। न्यायाधीशों की नियुक्ति में प्रायः निम्न तीन तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं।

(1) जनता द्वारा निर्वाचन—इस प्रणाली का सर्व प्रथम प्रयोग फ्रांस में किय गया था। उसके बाद सोवियत रूस के गणराज्यों, स्विट्जरलैंड के कुछ प्रदेशों तथा अमेरिक के कुछ राज्यों में भी न्यायाधीशों की नियुक्ति जनता के निर्वाचन द्वारा होती है। परन्‍ यह पद्धति ठीक नहीं है क्योंकि इससे न्यायाधीशों का राजनीति में भाग लेना संभव हो जाता है और उनका निर्वाचन उनकी योग्यता और न्यायिक प्रवृत्ति पर न होकर राजनीतिक दलबन्दी की भावना पर होता है। अतः प्रो. लास्की ने अनुचित ठहराते हुए लिखा है "नियुक्ति के जितने भी तरीके हैं, उनमें जनता के निर्वाचन द्वारा नियुक्ति सबसे बुरी है।"

(2) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—न्यायाधीशों की नियुक्ति का व्यवस्थापिक द्वारा निर्वाचन दूसरा तरीका है। रूस में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सुप्रीम सोवियत के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन द्वारा व स्विट्जरलैंड में संघीय न्यायालय के न्यायाधीश केन्द्रीय विधान मंडल द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। अमेरिका में भी इस प्रणाली को अपनाया था परन्तु बाद में त्याग दिया गया। इस प्रणाली में भी अनेक दोष हैं। इससे भी न्यायपालिका दलीय भावना से पूर्णतः प्रभावित हो जाती है जिससे निष्पक्ष न्याय की संभावना कम हो जाती है। साथ ही विधायकों के पास भी न्याय विशेषज्ञों की परख की क्या कसौटी है? अतः केन्ट (Kent) ने लिखा है, "न्याय प्रशासन की प्राप्ति और उस साध्य की समीचीन पूर्ति के लिए ऐसे विभिन्न अवसर पर प्रलोभन उपस्थित होंगे जब षड्यंत्र, दलीय वर्ग और केवल स्थानीय हित की भावना का ही बोलबाला होगा।"

(3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—न्यायपालिका के न्यायाधीशों की नियुक्ति का यह तीसरा तरीका है। इस पद्धति के अनुसार न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य के प्रधान या राष्ट्रपति द्वारा योग्यता के आधार पर की जाती है। भारत और अमेरिका में उच्चतम न्याय लय के न्यायाधीशों की नियुक्ति सीनेट के समर्थन सहित राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। परन्तु राष्ट्रपति उन्हें उनके पद से पृथक नहीं कर सकता है। भारत में उच्च-

1. "Laws are a dead letter without courts to expound and define their true meaning." —Hamilton

तंम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और
परामर्श से अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है।

यह पद्धति भी पूर्णतः दोष रहित नहीं है। इस पद्धति में भी दलीय दोष
व्यक्तिगत पक्षपात का समावेश रहता है। कार्यपालिका द्वारा की गई न्यायाधीश
नियुक्तियां दल की स्वार्थ सिद्धि की प्रेरणा से होती है। स्वयं डा. गार्नर ने इसके स
में लिखा है, "अमेरिका में ऐसे दृष्टान्त कम नहीं हैं जहां न्यायाधीशों की नियुक्ति किसी
की सेवा के उपलक्ष में न हुई हो।" अतः लास्की ने इस दोष को दूर करने का सुझा
हुए लिखा है, "न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल कार्यपालिका के द्वारा नहीं चाहिए
उनकी नियुक्ति न्यायाधीशों की स्थायी समिति की राय से न्याय मंत्री द्वारा
चाहिए।

(4) न्यायाधीशों की कार्यविधि—न्यायाधीशों की कार्यविधि सुनिश्चित होनी चा
यह पदावधि इतनी कम भी नहीं होनी चाहिए कि वह अपने पद का दुरुपयोग कर अ
लाभ उठाये। अतः सर्वमान्य विधि यही है कि उनको लम्बे समय तक अपने पद बना
देना चाहिए परन्तु चरित्र और आचरण की शुद्धता के साथ। हेमिल्टन ने लि
"सदाचार पर्यन्त पद पर बने रहने के लिए निश्चित रूप से यह बहुमूल्य प्रगति है। र
में यह राजा की निरंकुशता के विरुद्ध सबसे बढ़िया नियन्त्रण है। लोकतन्त्र में यह सं
बहुमत के अतिक्रमण और दमन के विरुद्ध सबसे बढ़िया नियन्त्रण से कम नहीं है। य
सर्वोत्तम उपाय है जिसका किसी भी सरकार में कानूनों को स्थिर, सही तथा
प्रशासन की उपलब्धि के लिए आश्रय लिया जा सकता है।" लास्की ने कार्यविधि के
में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है, "मैं समझता हूं कि अपने कार्यकाल में पहले
वर्षों में न्यायधीश को लगभग यह विश्वास रहता है कि कठिन मामलों में उसके अ
विचार गलत होते हैं। अगले पांच वर्षों में उसे इतना ही विश्वास इस बात का हो ज
कि उसके विचार ठीक हैं और उसके बाद चाहे वे विचार ठीक हों या गलत, उसका य
बना रहता है। जब यह गाम्भीर्य उसकी आदत बन जाय तो यह समझ लेना चाहि
उनके सेवा निवृत्त होने का समय आ पहुंचा है।"

(5) न्यायाधीशों का वेतन—न्यायाधीश को उसकी स्थिति और गौरव के
वेतन मिलना चाहिये। पर्याप्त वेतन उसे पतनोन्मुख और भ्रष्ट होने से बचाये रख
है। हेमिल्टन ने ठीक लिखा है कि "यह मानव स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आज
की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न है उसके पास संकल्प-शक्ति का भी बड़ा बल होता है।
न्यायालय की स्वतंत्रता और निष्पक्षता के लिए न्यायाधीशों को अच्छा वेतन मिलन
श्यक है। ब्राइस ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है, "न्यायाधीश की पवित्र
योग्यता, ईमानदारी तथा स्वतन्त्रता उसके पद की संभावित उन्नति एवं उसके अ
पर अवलम्बित रहती है। अपर्याप्त वेतन पाने वाला न्यायाधीश निःसंदेह अनुचित
से आकर्षित होगा। अतः न्यायाधीश को काफी अच्छा वेतन मिलना चाहिए।"

विधि का शासन
(Rule of Law)

[illegible] (i) विधि ही सर्वोच्च है। (ii) सभी व्यक्ति विधि के अधीन हैं और (iii) विधि का [illegible] है।

डायसी द्वारा व्याख्या—डायसी ने इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए तीन विचार रखे हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) न तो किसी को दण्ड दिया जा सकता है, न किसी को शारीरिक कष्ट अथवा हानि पहुँचाई जा सकती है जब तक कि कोई व्यक्ति स्पष्टतः विधि के विरुद्ध आचरण न करे और वह विधि विरुद्ध आचरण देश के साधारण न्यायालय में सिद्ध न हो जाये।[2] इस तात्पर्य यह है कि दोष सिद्ध होने पर ही किसी व्यक्ति को दण्ड दिया जा सकता है।

(2) कोई व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका पद अथवा स्थिति कुछ भी हो, देश के साधारण कानून से शासित होता है तथा सामान्य ट्रिब्यूनलों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रहता है। जो एक आदमी के लिए कानून है वह समस्त नागरिकों के लिए कानून है।[3]

(3) ब्रिटिश संविधान के सामान्य सिद्धांत उन न्यायिक निर्णयों के परिणाम हैं जिनमें न्यायालय ने विशेष अभियोगों में साधारण नागरिकों के अधिकारों को निश्चित किया है।[4] यह बात उल्लेखनीय है कि विधि के शासन द्वारा न्यायाधीशों ने व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

---

1. "Rule of Law means supremacy or dominance of Law, as distinguished from mere arbitrariness or some alternative mode which is not law of determining or disposing of the right of individual." —Lard Hewart.

2. "No man is punishable or can be lawfully made to suffer in body or goods except for a distinct branch of law established in the ordinary legal manner before the ordinary courts." —A. V. Dicey.

3. "No man is above law but that every man, what so ever his rank, or condition, is subject to the ordinary law of the realm and amenable to the jurisdiction of ordinary tribunals. What is law, legal rights and obligations for one must hold equally as such for all citizens." —A. V. Dicey.

4. "The general principles of the constitution are the result of judicial decisions determining the rights of private persons in particular cases brought before the courts." —A. V. Dicey.

प्रशासकीय विधि
(Administrative Law)

यह फ्रांस की न्यायिक व्यवस्था की विशेषता है। साधारणतया सभी देशों में एक ही प्रकार की न्यायिक व्यवस्था पाई जाती है परन्तु फ्रांस में दो प्रकार की न्यायिक व्यवस्था पाई जाती है। प्रथम दीवानी कानून (Civil Law) जो सामान्य जनता पर लागू होते हैं और द्वितीय प्रशासकीय नियम हैं जो सरकारी कर्मचारियों पर लागू होते हैं।

प्रशासकीय विधि की विभिन्न विद्वानों ने परिभाषा दी है जो मुख्यतया निम्न प्रकार से है:—

(1) प्रो. डायसी—फ्रांस की प्रशासकीय विधि शासन अधिकारियों के अधिकार और कर्त्तव्यों के वे सिद्धांत हैं जिनके आधार पर राष्ट्र सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में राज्य कर्मचारियों और जनता के पारस्परिक व्यवहार का निर्णय और नियंत्रण होता है।

(2) डा. जेनिंग्स—प्रशासकीय कानून केवल शासन से सम्बन्धित नियम है। इन नियमों के द्वारा शासन अधिकारियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान और निर्णय होता है।

(3) प्रो. रेने डेविड—प्रशासकीय कानून ऐसे उपनियमों की संहिता है जिनसे सार्वजनिक प्रशासन की व्यवस्था और कर्त्तव्यों का निर्णय और प्रशासकीय कर्मचारियों के राज्य नागरिकों के प्रति सम्बन्धों का नियंत्रण होता है।[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं से प्रशासकीय विधि के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें निश्चित होती हैं।

(1) प्रशासकीय विधि से सरकारी कर्मचारियों और सामान्य जनता के सम्बन्ध निर्धारित होते हैं।

(2) सरकार या सरकारी कर्मचारियों और जनता के मध्य किसी प्रकार का विवाद हो तो उसका निर्णय प्रशासकीय न्यायालय करते हैं।

(3) सरकारी कर्मचारी के दोषों की जाँच के लिए विशिष्ट प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की जाती है।

शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त
(Theory of Separation of Powers)

सरकार के तीनों अंगों का अध्ययन करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से ही यह प्रश्न पैदा होता है कि इनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिए। यद्यपि तीनों अंग अपना कार्य पृथक रूप से करते हैं परन्तु एक ही सरकार के अंग होने के नाते उनमें परस्पर सम्बन्ध होना अनिवार्य है परन्तु कुछ विद्वानों ने इन तीनों अंगों के पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यद्यपि यह सिद्धान्त आधुनिक काल में प्रसिद्ध मोंटेस्क्यू

1. "Droit Administrative can be defined in France as the body of rules which determine the organisation and duties of Public Administration and which regulate the relation of the administrative authorities towards the citizens and the state." —Rene David.

विद्वान् मोंटेस्क्यू (Montesquieu) का सिद्धान्त कहा जाता है परन्तु उनके पूर्व भी क प्राचीन विद्वानों ने आंशिक रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

राजनीति शास्त्र के पिता स्वयं अरस्तू ने अपनी पुस्तक "राजनीति" (Politics में सरकार की तीन शाखाओं (Branches) का वर्णन किया है—(i) व्यवस्थापिक (Deliberative), (ii) कार्यकारिणी (Executive) और (iii) न्यायपालिका (Judicial) तत्पश्चात् लॉक ने अपनी पुस्तक (Civil Govt.) में इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किय कि प्रत्येक राज्य में व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और विदेशी सम्बन्धों के तीन पृथक अधिकार क्षेत्र हैं जिनमे कार्यकारिणी और विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्र का एकीकरण किया जा सकता है परन्तु कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का एकीकरण अनुचित है। सोलहवीं शताब्दी में बोदां (Bodin) ने न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने पर अधिक बल दिया।

परन्तु चूंकि आधुनिक युग में विद्वान् लेखक मोन्टेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक सुन्दर विवेचन किया, यह सिद्धान्त प्रायः उसी के नाम से संबोधित किया जाता है। मोन्टेस्क्यू अठारहवीं शताब्दी में उन दिनों फ्रांस में हुए जब वहां लुई चौदहवें (Louis XIV) का राज्य था जो प्रायः यह कहता था कि मैं ही राज्य हूँ (I am the State) जिसका अभिप्राय था कि राजा निरंकुश है और सारी शक्तियां उसमे निहित है। ऐसे वातावरण मे नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्ही दिनों सन् 1726 में मोन्टेस्क्यू ने इगलैंड में भ्रमण किया तो वह वहाँ पर नागरिकों की स्वतंत्रता से अत्यधिक प्रभावित हुआ क्योंकि इंगलैंड मे न्यायपालिका स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करते हुए नागरिक अधिकारों की रक्षा कर रही थी। अतः मोन्टेस्क्यू ने सन् 1758 मे अपनी पुस्तक 'कानूनों की आत्मा' (Spirit of the Laws) मे शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस स्थान पर यह बात उल्लेखनीय है कि मोन्टेस्क्यू ने इंगलैंड में विकासमान मन्त्रीमंडलीय पद्धति (Cabinet System) की ओर अधिक ध्यान दिया जिसके अन्तर्गत कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका शक्तियो का एकीरण हो रहा था।

मोन्टेस्क्यू के विचार—उसने अपने विचारों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है:—

"यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियां एक ही मनुष्य या मनुष्यों के समूह के हाथों में एकत्रित हो जाए तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि ऐसी स्थिति में सदैव यह भय बना रहता है कि कहीं वह राजा (कार्यकारिणी) या सीनेट (व्यवस्थापिका) अत्याचारी कानून न बनाये और अत्याचारी ढंग से ही पालन न करवाये।"

"यदि न्यायपालिका शक्ति व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका से पृथक न की गई तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। अगर न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के साथ मिला दिया गया तो लोगों के जीवन और स्वतन्त्रता पर निरंकुश नियंत्रण हो जायेगा क्योंकि न्यायाधीश कानून निर्माता बन जायेगा।"

"यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ मिला दिया गया तो यह संभव है कि न्यायाधीश हिंसात्मक और अत्याचार पूर्ण व्यवहार करे।"

"यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों काम करने लगे अर्थात् कानून बनाये, सार्वजनिक प्रस्तावों को लागू करें और मुकदमों का फैसला करने लगे, तो सब चीजों का अन्त हो जायेगा अर्थात् स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जायेगी और स्वेच्छाचारी (arbitrary) राज्य स्थापित हो जायेगा।"

मौन्टेस्क्यू के उपरोक्त कथनों का अभिप्राय यह है कि सत्ता का सदैव दुरुपयोग होने की संभावना बनी रहती है अतः जितनी अधिक सत्ता जिसको भी प्राप्त होगी वह उसका उतना ही अधिक दुरुपयोग करेगा अतः सत्ता का विभाजन होना अनिवार्य है जो शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाने से ही संभव है। परन्तु मौन्टेस्क्यू के सिद्धान्त में यह बात भली भाँति स्पष्ट नहीं है कि उसने पूर्ण शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया अथवा आंशिक शक्ति पृथक्करण का। इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का मत है कि ब्रिटिश शासन प्रणाली का अवलोकन करने के कारण मौन्टेस्क्यू शक्तियों के आंशिक पृथक्करण का ही समर्थक था क्योंकि वह तो मुख्य रूप से शक्तियों के केन्द्रीकरण को रोकना चाहता था। डा. फाईनर के मतानुसार मौन्टेस्क्यू केवल यही बात चाहता था कि सरकार के प्रत्येक अंग की शक्ति पर नियंत्रण लगा रहे ताकि उनमें संतुलन स्थापित रहे। इसी संदर्भ में निरोध और संतुलन का सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है जिसे व्यवहारिक रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में अपनाया गया है जिसका विवेचन हम आगे कर रहे हैं।

ब्लेकस्टोन (Blackstone) के विचार—प्रसिद्ध अंग्रेज विधिवेत्ता (Jurist) ब्लेकस्टोन ने भी सन् 1775 में मौन्टेस्क्यू के विचारों का समर्थन करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये, "जहाँ कानून निर्माण करने एवं उसे लागू करने का अधिकार एक ही शक्ति में है, वहाँ स्वतंत्रता नहीं रह सकती है...........जहाँ न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के साथ मिला दिया जाता है वहाँ लोगों का जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथ में आ जाते हैं...........और जहाँ न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ मिला लिया जाता है, दोनों का एकीकरण व्यवस्थापिका की अपेक्षा अधिक भारी हो जाता है।"[1]

इस संबंध में अमेरिकन विद्वान् मेडीसन ने भी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं, "व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियां एक ही हाथों में केन्द्रित होना, चाहे वह एक व्यक्ति हो, थोड़े हो या ज्यादा और स्वयं नियुक्त हो, वंशानुगत अथवा निर्वाचित हो, अत्याचार की परिभाषा है।"[2]

1. "Where the right of making and enforcing Law is vested in the same body, there can be no liberty.........where the (judicial power is joined with the legislature., the life, liberty and property of the subjects would be in the hands of arbitrary judges.........where the judiciary is joined with the executive, the Union might be an over balance of the Legislature." —Blackstone.
2. "The accumulation of all powers, legislative, executive and judicial in the same hands, whether of one, few or many and whether hereditary, self orppointed or elected may justly be pronounced the very definition of Tyranny." —Madison.

विश्व के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेन्टाइना, ब्राजील, मैक्सिको, चीन के संविधानों में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परन्तु जहाँ तक न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने का प्रश्न है यह प्रायः सभी देशों के संविधानों में दृष्टिगोचर होता है जिसका अभिप्राय यह हुआ कि आंशिक रूप से शक्ति पृथक्करण तो प्रायः सम्पूर्ण विश्व में ही व्याप्त है अन्यथा नागरिकों द्वारा स्वतंत्रता का उपभोग ही संभव नहीं है।

सिद्धान्त की आलोचना—विद्वानों द्वारा शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की गई है:—

(1) पूर्ण पृथक्करण असम्भव (Absolute Separation Impossible)—विद्वान लेखक बार्कर और गैटील के मतानुसार पूर्ण पृथक्करण असंभव एवं अवांछनीय है क्योंकि राज्य एक जीवधारी की भाँति होने के कारण उसके विभिन्न अंग प्रत्यंग परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं, मेकाईवर का मत है कि शक्ति पृथक्करण की आंशिक आवश्यकता सरकार के विभिन्न अंगों में समन्वय स्थापित करने हेतु रहती है।

(2) किसी अंग का पूर्ण पृथक्करण असम्भव (No Isolation of any organ possible) सरकार के विभिन्न अंगों या विभागों में किसी प्रकार का पृथक्करण या अलगाव संभव नहीं है क्योंकि सरकार का प्रत्येक अंग कुछ ऐसे भी कार्य करता है जो कार्य उसके नहीं है। उदाहरण के लिए एक न्यायाधीश कानून की न केवल व्याख्या करता है अथवा उसका निर्णय करता है। परन्तु ऐसा करते हुए कई बार नये कानून का निर्माण करता है। इसी प्रकार कार्यपालिका को संकट काल में अध्यादेश लागू करने का अधिकार स्पष्ट रूप से व्यवस्थापिका संबंधी अधिकार है और न्यायाधीशों की नियुक्ति करने अथवा क्षमा प्रदान करने का अधिक वस्तुतः न्यायपालिका संबंधी अधिकार है।

(3) ऐतिहासिक दृष्टि से गलत सिद्धांत (Historically false Theory)—ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो मोन्टेस्क्यू के यह सिद्धांत ही गलत धारणाओं पर आधारित है क्योंकि ब्रिटेन में शक्ति पृथक्करण आंशिक रूप में ही विद्यमान है जिसके अवलोकन के आधार पर मोन्टेस्क्यू ने अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया है। वस्तुतः ब्रिटेन में मंत्रिमंडलीय प्रणाली तो शक्ति पृथक्करण का निषेध है क्योंकि इसमें कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का संयोग है तथापि ब्रिटेन में नागरिकों को स्वतन्त्रता उपलब्ध है जो अन्य किसी देश विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रता से कम जहाँ यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण लाभदायक है तथापि अनिवार्य नहीं है। ब्रिटिश संविधान की दृष्टि से तो हमें इतनी बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि नागरिक स्वतन्त्रता हेतु न्यायपालिका स्वतन्त्र एवं पृथक अवश्य होनी चाहिए।

(4) सरकार के सारे अंग समान नहीं है, व्यवस्थापिका अधिक महत्वपूर्ण है (All organs not co-ordinate and equal, Legislature more powerful)—विद्वान लेखक ब्लंशली का मत है कि शक्ति पृथक्करण तब ही लागू हो सकता है जबकि

सरकार के सभी अंगों को समान शक्तियाँ प्राप्त हो परन्तु प्रजातन्त्र की वृद्धि के साथ प्रायः व्यवस्थापिका के अंग को संवैधानिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है और कार्यपालिका का दर्जा उसके अधीनस्थ (Subordinate) का माना जाता है।

(5) व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दृष्टि से (According to Individual Freedom Point view)—व्यक्तिगत स्वतंत्रता सरकारी कार्यों के विभाजन पर इतनी अवलम्बित नहीं है जितनी संविधान पर। इंग्लैंड में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिक मिली हुई है फिर भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता किसी भी देश से कम नहीं है।

इस सिद्धांत की उपर्युक्त आलोचना होते हुए भी यह सिद्धांत उपयोगी है। सरकार के तीनों अंगों के बीच थोड़ा बहुत अधिकार विभाजन से शासन में अच्छाई बनी रहती है।

अवरोध और सन्तुलन सिद्धान्त (Theory of checks and Balances)—शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को लागू करने के साथ सदैव इस बात का प्रयास करना आवश्यक होता है कि शक्तियों पर अन्य अंगों की शक्तियों का नियंत्रण रहे ताकि परस्पर संतुलन बना रहे। इसीलिए व्यवहार में अवरोध और सन्तुलन का सिद्धांत भी लागू किया जाता है।

व्यवस्थापिका–सामान्यतया व्यवस्थापिका सार्वभौमिक है तथापि निम्न नियंत्रण लगाये जाते हैं।

1. (a) लिखित संविधान (b) द्वितीय सदन का नियंत्रण (c) न्यायिक पुनरीक्षण और (d) स्वीट्जरलैंड जैसे राज्य में जनमत संग्रह, आरंभिकी आदि का नियंत्रण।
2. प्रायः सभी प्रजातांत्रिक देशों में व्यवस्थापिका को सर्वोच्च माना जाता है तथापि वहाँ कार्यपालिका को उस पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त है। उदाहरणार्थ (a) ब्रिटेन और भारत में कार्यपालिका को इच्छानुसार संसद को अवधि के पूर्व भंग करवा कर मध्यावधि चुनाव की आज्ञा देने का अधिकार है। (b) संयुक्त राज्य अमेरिका में भी राष्ट्रपति कुछ विधेयकों पर निषेधाधिकार प्रयोग कर सकता है। (c) भारत के राष्ट्रपति को एक बार किसी विधेयक को पुनःविचारार्थ लौटाने का अधिकार है आदि। उपर्युक्त कारणों से व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सन्तुलन स्थापित रहता है।
3. न्यायधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है परन्तु उनको पदच्युति करने का अधिकार व्यवस्थापिका को प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय को व्यवस्थापिका के कानून को संविधान विरुद्ध घोषित करने का अधिकार है।

कार्यकारिणी–कानूनों को लागू करने का कार्य कार्यकारिणी करती है। पर इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि इसका व्यवस्थापिका से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यवस्थापिका इस पर निम्न नियन्त्रण रखती है।

(1) उसकी नीति सम्बन्धी प्रश्न करके, और (2) उसके प्रति अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उसे पदच्युत करके।

न्यायपालिका–न्याय पालिका अभियुक्तों को दंड देकर अथवा दंड मुक्त करके कार्यकारिणी पर नियंत्रण रखती है। कार्यकारिणी भी न्यायधीशों की नियुक्ति करके न्यायपालिका पर नियंत्रण रखती है।

अन्त में सत्ता में शक्ति पृथक्करण होना चाहिए अर्थात् सरकार के विभिन्न कार्य अलग अलग शक्तियों द्वारा किये जाने चाहिए परंतु उनके बीच सामंजस्य और सहयोग भी होना चाहिए।

अध्याय 9

नागरिकता, अधिकार और कर्त्तव्य

(Citizenship Rights and Duties)

नागरिकता
(Citizenship)

नागरिकता राजनीति शास्त्र का महत्वपूर्ण विषय है। नागरिकों से ही राज्य का निर्माण होता है। प्राचीन काल में नागरिकता कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित थी। प्राचीन यूनान में प्रशासनिक कार्यों में भाग लेने वालों को ही नागरिक माना जाता था। अन्य व्यक्ति दास की श्रेणी में आते थे। रोमन साम्राज्य में नागरिकता का अधिकार स्वतन्त्र लोगों (Patricians) तक सीमित था, शेष जिन्हें (Plebian) कहा जाता था, नागरिकता के अधिकार से वंचित थे।

कालान्तर में राष्ट्रीय राज्यों के उदय के साथ नागरिकता की सीमा मे भी व्यापकता आई। राष्ट्र की एकता, दृढ़ता और देश के प्रति भक्ति भाव बढ़ाने के लिए देश में निवास करने वालों में से अधिकांश को नागरिकता के अधिकार प्रदान किये गये। आधुनिक युग की लोक तांत्रिक प्रणाली में तो इसका और भी विस्तार हुआ और प्रत्येक वयस्क को ही नागरिकता का अधिकार प्रदान किया जाने लगा है।

नागरिक शब्द का अर्थ सामान्य रूप में 'नागरिक' शब्द का अर्थ 'नगर निवासी' से समझा जाता है। राजनीति शास्त्र में नागरिक से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो राज्य का सदस्य हो और जिसे राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हों।

नागरिक शब्द की परिभाषा—नागरिक शब्द की अनेक विद्वानों ने परिभाषा दी है जिनमें से कुछ मुख्य परिभाषायें निम्नलिखित हैं।

(1) अरस्तू—नागरिक वह व्यक्ति है जो राज्य के शासन मे भाग लेता है तथा राज्य से प्राप्त होने वाले लाभों को प्राप्त करता है।

(2) वटल—नागरिक किसी समाज के सदस्य होते हैं, तथा उस समाज के प्रति एक समान कर्त्तव्यों से बंधे रहते हैं। वे एक सत्ता के अधीन रहते हैं और उस सत्ता से प्राप्त होने वाले लाभों में समान रूप से भागीदार होते हैं।

(3) अमेरिका का उच्चतम न्यायालय—नागरिक एक राजनीतिक समाज का सदस्य होता है। उन्हीं से राज्य का संगठन होता है और सामूहिक रूप से ये लोग एक राज्य के अधीन होते हैं ताकि उनके वैयक्तिक तथा सामूहिक हितों की रक्षा हो सके।

(4) श्री निवास शास्त्री—नागरिक राज्य का एक ऐसा सदस्य होता है जो राज्य के अन्तर्गत अपने पूर्ण व्यक्तित्व के विकास करने का प्रयत्न करता है। साथ ही उसे इस बात का भी सदैव ध्यान रहता है कि राज्य का अधिकतम कल्याण कैसे होगा।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार नागरिक के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं।

(1) राज्य की सदस्यता—नागरिक बनने के लिये व्यक्ति का किसी भी ए का सदस्य होना आवश्यक है। यदि वह किसी भी राज्य का सदस्य नहीं है तो न रिक नहीं कहा जा सकता है।

(2) राज्य के प्रति भक्ति—नागरिक के लिए राज्य के प्रति भक्ति भावना भी आवश्यक है।

(3) सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों का उपभोक्ता—राज्य में निवास से ही राज्य का नागरिक नहीं हो सकता है अपितु उसे उस राज्य विशेष के क अनुसार सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के उपभोग का अधिकार प्राप्त चाहिए।

नागरिकता (*Citizenship*)

नागरिकता नागरिक शब्द से ही बना है। इसके अन्तर्गत नागरिक से सम अर्थात् राज्य की सदस्यता, अधिकारों की प्राप्ति एवं कर्त्तव्यों का पालन आदि सभी आ जाते है। कुछ विद्वानों ने नागरिकता की परिभाषा निम्नानुसार की है।

(1) लास्की—अपनी शिक्षित बुद्धि को लोकहित के लिए प्रयोग कर नागरिकता है।

(2) गेटल—नागरिकता किसी व्यक्ति की उस स्थिति को कहते हैं जिसके अ वह अपने राज्य में साधारण तथा राजनीतिक अधिकारों का उपभोग कर सकता है अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए सदैव तैयार रहता है।

नागरिकता प्राप्त करने की विधियां
(Method of acquiring Citizenship)

नागरिक दो प्रकार के होते हैं—एक जन्मजात अर्थात् जन्म से ही वे उस दे नागरिक होते हैं। दूसरे राज्यकृत नागरिक अर्थात् जन्म तो वे दूसरे देश में लेते हैं प अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर अथवा जो इस सम्बन्ध में शर्तें होती हैं उन्हें करके वे वहां की नागरिकता ग्रहण कर लेते हैं। इनका विस्तृत वर्णन निम्नानुसार है

जन्मजात नागरिक—जन्मजात नागरिकता के निर्धारण के निम्नलिखित 2 आधार हैं।

(1) रक्त सम्बन्ध (Jus Sanguinus)—इस नियम के अनुसार किसी भी ब को उसके माता-पिता के देश की ही नागरिकता प्राप्त होगी चाहे उसका जन्म अन्य रा में ही क्यों न हो।

(2) जन्म स्थान (Jus Soli)—इस सिद्धांत के अनुसार जिस राज्य में बच्चे जन्म हो वह उस राज्य का नागरिक माना जायेगा। चाहे उसके माता-पिता की नागरिक अन्य राज्य की क्यों न हो।

कुछ देशों में इन दोनों नियमों को मान्यता मिली हुई है। परिणाम स्वरूप कभी कभी एक ही व्यक्ति को दो देशों की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ अमेरिकन दम्पत्ति के ब्रिटेन में कोई सन्तान उत्पन्न होती है तो उसे जन्म स्थान के आधार पर ब्रिटेन की और रक्त सम्बन्ध के आधार पर अमेरिका की नागरिकता प्राप्त होगी। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय और राज्यों के नियमानुसार वह केवल एक ही देश का नागरिक रह सकता है अतः उसे दूसरे देश की नागरिकता का त्याग करना पड़ता है।

इन सिद्धांतों के गुण दोषों के अनुसार यदि नागरिकता का निर्धारण जन्म जात सिद्धांत के आधार पर माना जाए तो इससे नागरिकता निश्चित करने में सरलता रहती है परन्तु इसमें दोष यह है कि इस निर्धारण में उस व्यक्ति के संस्कारों, सांस्कृतिक आधारों एवं राजनीतिक विचारों को महत्व नहीं दिया जाता है। इस दृष्टि से रक्त सम्बन्ध का सिद्धांत उत्तम है परन्तु उसमें कभी कभी व्यक्ति के माता पिता का ठीक ठीक पता लगाने में कठिनाई होती है।

एक सा सिद्धांत न होने से कभी कभी एक नवजात शिशु को किसी भी देश की नागरिकता प्राप्त नहीं होती है। उदाहरणार्थ अर्जेन्टाइना में जन्म जात का सिद्धांत माना जाता है तो जर्मनी में रक्त सिद्धांत। अतः अर्जेंटाइना के नागरिक के जर्मनी में सन्तान उत्पन्न होती है तो उसे कहीं की भी नागरिकता प्राप्त न होगी। इस समस्या के समाधान हेतु उसे वयस्क होने पर किसी भी एक देश की नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(ख) राज्य कृत नागरिकता (Naturalised Citizens)—नागरिकता प्राप्ति के उपर्युक्त तरीकों के अतिरिक्त राज्यकृत तरीका भी होता है। राज्य अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार कुछ नियम बनाता है जिन्हें पूरा करने पर किसी व्यक्ति को उक्त देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में सामान्य आधार निम्नलिखित हैं:—

(i) निवास—कोई विदेशी किसी देश में एक निश्चित अवधि तक निवास करले जैसे इंगलैंड में 5 वर्ष और फ्रांस में 10 वर्ष है।

(ii) सम्पत्ति—यदि कोई विदेशी किसी देश में भूमि एवं सम्पत्ति खरीद ले।

(iii) नौकरी या राज्य सेवा—यदि कोई विदेशी किसी देश में नौकरी या राज्य सेवा करे।

(iv) विवाह—यदि कोई विदेशी किसी देश के नागरिक स्त्री या पुरुष से विवाह करले।

(v) एक देश की नागरिकता का त्याग कर दूसरे को स्वीकार करना—अपने देश की नागरिकता का त्याग करके दूसरे देश की नागरिकता को प्राप्त करले।

(vi) राज्य भक्ति की शपथ—नये देश के प्रति राजभक्ति की शपथ ग्रहण करने पर।

इसके अतिरिक्त किन्हीं देशों में नैतिक आचरण का अच्छा होना, राष्ट्र भाषा का ज्ञान आदि शर्तें भी होती हैं। जब कोई देश किसी से पराजित हो जाता है तो उस देश के नागरिकों को विजेता देश की नागरिकता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

नागरिकता का लोप (Loss of Citizenship)

नागरिकता प्राप्त करने के साथ साथ कोई व्यक्ति अपनी नागरिकता खो भी दे है जैसे—

(i) लम्बी अवधि तक विदेश में निवास करने से।

(ii) विदेशी स्त्री या पुरुष से विवाह करने पर।

(iii) विदेश में स्थायी नौकरी करने से।

(iv) विदेश में स्थायी सम्पत्ति खरीदने पर।

(v) स्वेच्छा से नागरिकता का परित्याग करने से।

(vi) राज्यद्रोह या लड़ाई के मैदान से भाग खड़े होने पर।

(vii) भयंकर अपराधों के करने के फलस्वरूप।

(viii) किसी विदेशी पदवी या उपाधि ग्रहण करने से।

(ix) बुरे आचरण के कारण।

(x) राज्य द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करने से।

आदर्श नागरिक के गुण
(Qualities of Good Citizen)

लार्ड ब्राइस के अनुसार एक अच्छे नागरिक में बुद्धि (Intelligence), आत्म संयम (Self Control) और अंतःकरण (Conscince) ये तीन गुण आवश्यक हैं अर्थात् अच्छा नागरिक वह है जो अपनी बुद्धि और शक्तियों का उपयोग समाज के अधिकतम हित हेतु करता है। अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्यागने की भावना उसमें प्रमुख होनी चाहिये। लास्की का यह कथन सत्य है कि "नागरिकता जनता के हित के लिए व्यक्ति का योगदान है।"[1] डा. ह्वाईट के विचारों में एक अच्छे नागरिक में व्यावहारिक बुद्धि (Common Sense), ज्ञान (Knowledge) और भक्ति (Devotion) ये तीन गुण आवश्यक हैं।

विद्वानों के मतानुसार आदर्श नागरिक में मुख्यतया निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है:—

(i) विवेक—अच्छे नागरिक के लिये यह आवश्यक है कि उसमें अच्छे बुरे में भेद करने की क्षमता होनी चाहिये। साथ ही उसमें विनम्रता तथा कर्त्तव्य-परायणता के गुण होने चाहिए ताकि वह दूसरों को भय से नहीं अपितु प्रेम से आकर्षित कर सके।

(ii) राज्य के प्रति भक्ति—अच्छे नागरिक में राज्य के प्रति पूर्ण भक्ति होनी चाहिए। उसमें ऐसी भावना हो जिससे समाज और राष्ट्र की उन्नति के कार्यों में सहायता मिल सके। संकीर्ण भावना से दूर जन कल्याण में सुख का अनुभव करना भी एक अच्छे नागरिक का लक्षण है।

(iii) सामाजिक भावना—अच्छे नागरिक में प्रबल सामाजिक भावना होनी चाहिए। मनुष्य समाज की देन है। अतः उसे समाज के प्रति अपने समस्त उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य

1. "Citizenship is the contribution of instructed judgement to Puclic good." —H. J. Laski.

पूरे करने चाहिये। इस दृष्टि से अच्छे नागरिक में सहानुभूति, सेवा, निःस्वार्थ त्याग और सहयोग की भावनाओं का होना आवश्यक है।

(iv) सुशिक्षा—सुशिक्षा आदर्श नागरिकता की आधार शिला है क्योंकि इससे अन्धकार, कट्टरता, अंधविश्वास आदि बुराइयां दूर हो जाती हैं। अशिक्षित या कुशिक्षित मनुष्य का आदर्श नागरिक बनना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है।

(v विचारों की उदारता एवं आत्म संयम— अच्छे नागरिक बनने के लिए उदार विचार अत्यन्त आवश्यक है। नागरिक जीवन की सफलता आपसी व्यवहारों मे उचित सामंजस्य स्थापित करने पर ही निर्भर है। विचारों की उदारता के बिना हम दूसरों के साथ आवश्यक सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। विचारों की उदारता अधिकांशतः आत्म संयम पर निर्भर है। आत्म संयम से हम यह सीखते हैं कि हमारे कार्य ऐसे न हों जो दूसरों को हानि पहुँचाए। यह हमें 'जीओ और जीने दो' (Live and Let Live) के सिद्धांत की ओर आगे ले जाता है।

(vi) दूरदर्शिता—यह भी अच्छे नागरिक का आवश्यक गुण है। अपने सम्मुख अच्छे उद्देश्य रखकर काम करना प्रत्येक नागरिक का सुलक्षण है। नागरिक में जब तक दूरदर्शिता नहीं है, उसका जीवन ही संकुचित बन जायेगा।

(vii) आचारों में शिष्टता और अच्छी आदतें—शिष्ट व्यवहार सभ्यता का प्रतीक है। श्रेष्ठ नागरिक वही बन सकेगा जिसमें व्यावहारिक शिष्टता है। राष्ट्रीय जीवन में बलिदानों के अवसर आते रहते हैं। अच्छी आदतें होने पर हम इतने योग्य बन सकते हैं। छोटी-मोटी आदतें जैसे घर तथा आसपास की सफाई, महिलाओं से सुयोग्य व्यवहार, विनम्रभाषा आदि भी अच्छे नागरिक जीवन के निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से बड़ी सहायता देती है।

(viii) मताधिकार का उचित प्रयोग—आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में नागरिक के लिए मताधिकार का बड़ा महत्व है। उनकी सरकार अच्छे कानून तथा जनहितकारी दृष्टिकोण से सरकार का संचालन नागरिकों के मताधिकार के उचित प्रयोग पर ही बहुत कुछ निर्भर है। मताधिकार नागरिकों की एक बड़ी जिम्मेदारी है जिसका उचित प्रयोग करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है। स्वार्थ वश अथवा अन्य किसी प्रलोभन से मताधिकार का अनुचित प्रयोग समस्त राज्य के लिये घातक प्रमाणित हो सकता है। जाति-पाँति, पारिवारिक बंधन, धार्मिक अंधविश्वास इत्यादि संकीर्ण मनोवृत्तियाँ मताधिकार के उचित प्रयोग में बाधक बन जाती हैं। अच्छे नागरिकों का कर्तव्य है कि वह ऐसी प्रवृत्तियों से अलग रहकर निष्पक्षता एवं योग्यता के ही आधार पर अपने मताधिकार का प्रयोग करें।

(ix) कर्तव्यों का उचित क्रम निर्धारण—अच्छी नागरिकता भक्तियों के उचित क्रम-निर्माण पर भी आधारित है (Citizenship consists in the right ordering of loyalties)। कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद ही अच्छे नागरिक के लिये पर्याप्त नहीं है वरन् विशेष परिस्थितियों में कर्तव्यों का उचित क्रम निश्चित करना भी बहुत जरूरी है।

अच्छे नागरिक का बड़े हित के लिये छोटे हित का परित्याग करना एक आवश्यक
व्यक्ति की अपेक्षा परिवार, परिवार की अपेक्षा गाँव-नगर तथा गाँव-नगर की अपेक्ष
का हित ध्यान में रखना अच्छे नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

अधिकार
(Rights)

अधिकार मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। अधिकारों के अ
एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता। यदि नकारात्मक दृष्टि से
अधिकार वे अवस्थाएं हैं जिनके बिना मनुष्य वास्तविक लाभों से वंचित रह जा
स्वतन्त्रता का पोषण करने वाले प्रत्येक सिद्धान्त ने अधिकारों का समर्थन किया है।
ने तो अधिकारों के महत्व को व्यक्त करते हुए यहां तक कहा है कि 'जो राज्य
नागरिकों को जैसे अधिकार प्रदान करता है, उन्हीं अधिकारों को देखकर उस राज
अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।"[1]

अधिकारों की परिभाषा
(Definition of Rights)

अधिकार की विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषा दी है जो मु
निम्नलिखित हैं।

(1) वाइल्ड—"अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने हेतु स्वतन्त्रता की वि
पूर्ण माँग है।"[2]

(2) हालैंड—"अधिकार एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के कर्तव्यों को समा
मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।"[3]

(3) सामंड—"सत्य (न्याय) के नियम द्वारा रक्षित हित का नाम अधिकार
कोई भी हित जिसका आदर करना कर्तव्य हो और जिसका अतिक्रमण अनुचित हो, अ
कार कहलाता है।"[4]

(4) मैकने—"अधिकार समाज के हितार्थ कुछ लाभदायक परिस्थितियाँ है
नागरिक के वास्तविक विकास के लिए अनिवार्य है।"[5]

(5) ग्रीन—"अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोककल्याण के लिए ही माँग
जाती है और मान्यता भी प्राप्त होती है।"[6]

---

1. Every state is known by the rights that is maintains." —Lask
2. "A right is a reasonable claim to freedom in the exercise of certain activities."
3. "Rights imply one man's capacity of influencing the acts of another by means o the opinion and the force of the society" —Holland
4. "A right is an interest protected by a rule of right (Justice) It is an interest th respect for which is a duty and the violation of which wrong" —Salmond
5. "Rights are certain advantageous conditions of social well being indispensable to the true development of the citizen" —Maccuon
6. "A right is a power claimed and recognised as contributroy to common good." —T. H. green

(6) लास्की—"अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना साधारणतः कोई मनुष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता।"[1]

(7) बोसांके—"अधिकार वह मांग है जिसे समाज मान्यता देता है और राज्य लागू करता है।"[2]

अन्त में, एक अन्य लेखक के अनुसार अधिकार वह है जो कि वास्तव में उन भौतिक परिस्थितियों को बनाये रखने के लिए आवश्यक है जो कि मानव अस्तित्व एवं उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

अन्त में, अधिकार वह प्रत्याशा है जिसकी हम दूसरों से अपेक्षा रखते हैं। अतः प्रथम तो, यह समाज की देन है। राज्य तो इन पर केवल अपनी मोहर लगाता है। लास्की ने भी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि राज्य अधिकारों की सृष्टि नहीं करता, उन्हें प्रदान करता है तथा किसी भी समय किसी राज्य के स्वरूप को समाज द्वारा प्रदत्त अधिकारों की मान्यता के आधार पर ही समझा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि समाज के बाहर अधिकारों की कोई मान्यता नहीं है। जंगल या गुफाओं के एकान्तवासी मनुष्य के लिए अधिकारों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। साथ ही कोई भी मांग समाज की स्वीकृति पर ही अधिकारों का रूप धारण कर सकती है परन्तु बलपूर्वक मनवाने पर वह शक्ति कहलायेगी अधिकार नहीं कहला सकती है। तीसरी बात यह है कि अधिकार का आधार सामाजिक हित है। मेक्न ने ठीक लिखा है कि "अधिकार सामाजिक हितार्थ कुछ लाभदायक परिस्थितियां हैं जो नागरिकों के विकास हेतु अनिवार्य हैं।"

अधिकार की विशेषताएं

अधिकारों के माध्यम से ही स्वतंत्रता और समानता में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है अधिकारों का मूल्य समाज में ही है। उसके बाहर इनका कोई अस्तित्व नहीं है। यदि कोई व्यक्ति एकान्त वन में अधिकारों की मांग करे तो व्यर्थ है। बारकर ने लिखा है कि "अधिकार औचित्य अथवा न्याय की उस सामान्य प्रणाली का परिणाम है जिस पर राज्य और कानून आधारित हैं।" कानून अधिकारों का पोषक है। अधिकारों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

(1) अधिकार का आधार समाज है—समाज के बिना अधिकारों की कल्पना करना व्यर्थ है। समाज में ही मनुष्य अपनी मांगें मनवाकर अनुकूल परिस्थितियों द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं अर्थात् अधिकार समाज की सदस्यता से ही संभव है।

---

1. "Rights are those conditions of social life without which no man can seek, in general, to be himself at his best." —Laski.

2. "A right is a claim recognised by society and enforced by the state." —Bosanquet.

(2) अधिकारों का आधार नैतिकता है—नैतिक एवं सदाचरण पूर्ण ही अधिकार का रूप धारण कर सकता है। असामाजिक कृत्य कभी भी अधिका धारण नहीं कर सकते हैं।

(3) अधिकारों और कर्त्तव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध है—अधिकार के सा जुड़ा हुआ है क्योंकि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्त्तव्य के बिना असम्भव है।

(4) अधिकार में सार्वजनिक हित निहित है—अधिकार व्यक्ति की स्वार्थ साधन नहीं है अपितु इनमें सार्वजनिक हित निहित है। इनमें सदैव व्यापक दृष्टिकोण रहता है। डा. आशीर्वादम् ने ठीक कहा है, "समस्त अधिकारों की कसौटी सामान्य तथा नैतिकता का विकास है।"

(5) राज्य अधिकारों का सृष्टा नहीं है—अपितु वह समाज द्वारा स्वीकृत कारों को वैधानिक मान्यता प्रदान करता है। अधिकारों का जन्म तो समाज की मान पर ही आधारित है।

(6) अधिकार सदैव सीमित होते हैं—किसी भी व्यक्ति को असीमित अ प्राप्त नहीं हो सकते हैं अपितु एक व्यक्ति के अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारों से सं हो जाते हैं।

(7) अधिकार विकासशील है—समयानुसार व्यक्ति की आवश्यकताएं बद जाती है अतः उसी के अनुसार अधिकार भी सदैव बदलते रहते हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य में घनिष्ट सम्बन्ध है यदि हम जीवित रहने का अधि चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम दूसरों को भी जीवित रहने दें। श्री शास्त्री ने ठ कहा है कि "अधिकार और कर्त्तव्य दो दृष्टिकोणों से दिखाई देने वाली एक ही वस्तु है जब हम अधिकार का उल्लेख करते हैं तो हमारे समक्ष राज्य की कल्पना भी साकार उठती है। अधिकार नदी के उस तेज प्रवाह सदृश्य है जिनको राज्य एक नई दिशा की ओ मोड़ देता है। अनियंत्रित अधिकार अव्यवस्था के प्रतीक है। राज्य से पृथक रहकर अधिका अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त का लगभग खंडन हो चुक है कि अधिकार प्राकृतिक है और उनका राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रो. लास्की ने भी लिखा है, "व्यक्ति के अधिकार राज्य से पृथक और स्वतंत्र होते हैं। अधिकारों का महत्व और मूल समाज में ही है तथा उसके बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं है।" विल्डे (wilde) ने लिखा है, "राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता है, केवल उनको मान्यता प्रदान करता है। अतः राज्य के नियमों के बिना अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती।"

अधिकारों का वर्गीकरण

आधुनिक काल में अधिकारों का जो वर्गीकरण किया जाता है उसे हम संलग्न तालिका के माध्यम से समझा रहे हैं तथा आगे उसका संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

अधिकारों का वर्गीकरण

- प्राकृतिक अधिकार
- नैतिक अधिकार
- मौलिक अधिकार
- वैधानिक अधिकार
  - नागरिक अधिकार
  - राजनैतिक अधिकार

नागरिक अधिकार
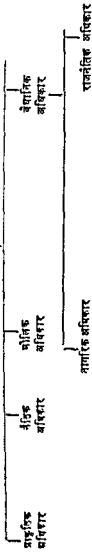
(1) जीवन का अधिकार
(2) भ्रमण की स्वतंत्रता का अधिकार
(3) भाषण व विचार की स्वतंत्रता का अधिकार
(4) संस्था या संगठन बनाने का अधिकार
(5) समता का अधिकार
(6) शोषण के विरुद्ध अधिकार
(7) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
(8) संस्कृति और शिक्षा का अधिकार
(9) सम्पत्ति का अधिकार
(10) अन्य अधिकार

राजनैतिक अधिकार

(1) मत देने का अधिकार
(2) निर्वाचित होने का अधिकार
(3) सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार
(4) कानून के समक्ष समानता का अधिकार

(1) प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)—प्राकृतिक अधिकारों का अनुबन्ध वादियों (हाब्स, लॉक और रूसो) की रचना में मिलता है। उनके अनुसार कार राज्य अथवा समाज की देन न होकर मनुष्य की प्रकृति है। ये वे अधिकार समाज की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के पास थे। इन अधिकारों के गंत जीवन, सम्पत्ति व स्वतन्त्रता के अधिकार आते हैं।

हाब्स—'जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is Right) के सिद्धांत को प्रा अधिकारों की संज्ञा देते हैं।

लॉक—Life, liberty and Property) के अधिकारों को प्राकृतिक अधिका अन्तगत मानते हैं। ये अधिकार मानव की स्वाभाविक प्रकृति की देन हैं। मनुष्य इन अधिकारों को किसी को दे सकता है और न इन अधिकारों को राज्य अथवा मनुष्य उससे छीन सकता है। ये अधिकार मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्य

ग्रीन—प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार है जिसके बिना मनुष्य का किसी प्रका विकास संभव नहीं है।

कुछ विद्वान इन अधिकारों के पीछे दैवी स्वीकृति मानते हैं।

आधुनिक राजनैतिक विचारक इनसे सहमत नहीं हैं क्योंकि उनके अनुसार स और अधिकार अन्योन्याश्रित हैं। समाज की अनुपस्थिति में अधिकारों की कल्पना भी क सम्भव नहीं है।

(2) नैतिक अधिकार (Moral Rights)——नैतिक अधिकारों का सं नैतिक जीवन से है। इनके पालन का कानूनी आधार नहीं है अपितु मनुष्य की नै भावना अथवा समाज की नैतिक स्थिति है। शिष्ट व्यवहार, परस्पर प्रेम, गुरु एवं पित प्रति आदर की भावना आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त पर ये ही अधिकार वैधानिक अधिकार का रूप धारण कर लेते हैं।

(3) वैधानिक अधिकार (Legal Rights)—वैधानिक अधिकार वे अधिकार जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती है अर्थात् जिनके भंग होने पर न्यायालय दंड दे है। लीकॉक ने लिखा है, "वैधानिक अधिकार वह विशेषाधिकार है जिसका प्रत्येक ना रिक अपने सह नागरिकों के विरुद्ध उपभोग करता है और जो प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता द्वा दिया जाता या संरक्षित होता है।"[1] किसी भी अधिकार को राज्य की मान्यता प्राप्त हो पर ही वह वैधानिक अधिकार का दर्जा प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ किसी को सम्प नहीं छीनने की वैधानिक मान्यता प्रदान मिलने पर यदि कोई भी व्यक्ति किसी की सम्प जबरन छीनता है तो उसे न्यायालय द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। वैधानिक अधिकार दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (i) मौलिक अधिकार जिन्हें राज्य के संविध

1. A legal right is a privilege enjoyed by a citizen aganist his fellow citizen granted by the sovereign power of the state and upheld by that power."
— Leacoc

के अंतर्गत मान्यता प्राप्त होती है और (ii) अन्य अधिकार जिन्हें सामान्य कानून के अंत-र्गत ही मान्यता प्राप्त होती है परन्तु दोनों का उल्लंघन होने पर दंड दिया जाता है ।

(क) मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)--मौलिक अधिकार मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक हैं । इनके बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है । विश्व के प्रगतिशील देशों में परम्परा सी चल पड़ी है कि वे कुछ महत्वपूर्ण-अधिकारों को संविधान में सम्मिलित करें । इनमें कुछ मुख्य निम्नलिखित अधिकार आते हैं ।

(1) जीवन का अधिकार (Right of life)--जीवित रहने का अधिकार अत्यावश्यक है । इसके अभाव में व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही अस्तित्व रहना असंभव है । अतः राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्तियों के प्राणों की रक्षा करे । हॉब्स ने मनुष्य की इस इच्छा को सबसे अधिक शक्तिशाली माना है । यदि जीवन ही न हो तो सब कुछ व्यर्थ है । प्रो. ग्रीन ने व्यक्ति के समस्त अधिकारों में इस अधिकार को सर्वाधिक मौलिक एवं महत्व का बताया है । मिल काइस्ट ने लिखा है, 'सामान्य कल्याण के लिए प्रत्येक जीवन अमूल्य है तथा दूसरों की हत्या करना अथवा स्वयं अपनी हत्या करने का अर्थ है एक एक व्यक्तित्व का विनाश जिसके अधिकारों के साथ कर्तव्य भी है ।" अतः राज्य का कर्तव्य है कि वह मनुष्य के प्राणों की रक्षा के लिए बाह्य आक्रमणों से और आन्तरिक अशांति से भी रक्षा का प्रबन्ध करे ।

(2) भ्रमण की स्वतन्त्रता (Right to Free Movement)--मनुष्य के जीवित रहने का अधिकार ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उपभोग के लिए मनुष्य को अन्य सुविधाएं भी प्रदान करना आवश्यक है । इन सुविधाओं में इच्छानुसार घूमने, निवास करने तथा आने जाने की सुविधा का अधिकार मुख्य है । मनुष्य के बौद्धिक, एवं आर्थिक विकास के लिए यह सुविधा प्रदान करना आवश्यक है । अतः राज्य मनुष्य के बाह्य एवं आंतरिक क्षेत्र में भ्रमण करने की सुविधा एवं सुरक्षा की व्यवस्था करता है । परंतु मनुष्य कभी कभी इस अधिकार का दुरुपयोग करता है अतः समाज के हित में पासपोर्ट आदि के द्वारा इस अधिकार को राज्य नियंत्रित करता है ।

(3) भाषण एवं विचार की स्वतंत्रता (Right to Freedom of Speech)—मनुष्य के मानसिक विकास के लिए विचारों को अभिव्यक्त करने का अधिकार अत्यावश्यक है । इसके अन्तर्गत भाषण और लेखन के दोनों ही प्रकार के अधिकार आते हैं । प्रजातंत्र के लिए तो यह अधिकार और भी आवश्यक है । जान स्टुअर्ट मिल ने उचित कहा है कि बिना विचारों की अभिव्यक्ति की सत्यता का पता नहीं लग सकता है । मिल्टन ने लिखा है, "अपने अन्तर्मन के अनुसार जानने, बोलने तथा तर्क करने की स्वतन्त्रता अन्य सब स्वतन्त्रताओं से अभीष्ट है ।" प्रो. हॉकिंग ने व्यक्ति के विकास के लिए इसे आवश्यक माना है । प्रो. बेरी ने लिखा है, "विचारों की स्वतन्त्रता मानसिक तथा नैतिक उन्नति की सर्वोच्च शर्त है । लास्की ने लिखा है, "एक व्यक्ति को अपने विचार के अनुसार भाषण की स्वतन्त्रता देना उसके व्यक्तित्व को विकास की एकमात्र अन्तिम सुविधा और उसकी

नागरिकता को एक मात्र नैतिक पूर्णता देना है। मेकाइवर विचारों के संघर्ष को सदैव आधार मानता है।

(4) संस्था या संगठन बनाने की स्वतंत्रता (Right to from association) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में संगठन निर्माण की सुविधा का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि मनु एक सामाजिक प्राणी है अतः सामूहिक जीवन ही उसके विकास में सहायक हो सकता है मनुष्य के कई उद्देश्य होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह विभिन्न मनुष्यों का सहयोग प्रा करता है।

(5) समानता का अधिकार (Right to Equality)—समानता के अधिकार तात्पर्य यह है कि राज्य की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य का मूल्य समान हो। बेंथम ने लिख है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक गिना जाये, कोई भी एक से अधिक न गिना जाये। पू समानता न तो संभव है और न आवश्यक, फिर भी समानता के अधिकार का अभिप्रा यह है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए जाति, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव बिना सभी को समान अवसर प्रदान किये जाये।

(6) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right of Religious Freedom)—धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का अभिप्रायः है कि राज्य सभी धर्मों को समान मानकर उनके पालन व प्रचार पर किसी प्रकार की रोक न लगाये परन्तु यदि इस अधिकार से अनैतिकता अथवा साम्प्रदायिक द्वेष का प्रचार होता हो तो इस पर राज्य सरकार आवश्यक प्रतिबंध लगा सकता है। गैटिल ने ठीक लिखा है कि स्वतन्त्रता से किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं मिलता कि वह राज्य की आज्ञाओं का उल्लंघन करे।

(7) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—मनुष्य के जीवित रहने के अधिकार को मान्यता देने के बाद दूसरा महत्वपूर्ण अधिकार सम्पत्ति का अधिकार है। सम्पत्ति से अभिप्रायः उन सभी वस्तुओं से है जो जीवन में आवश्यक है। लास्की ने सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है, "यदि व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास के दृष्टि-कोण से सम्पत्ति रखना आवश्यक हो तो सम्पत्ति के अधिकार का अस्तित्व स्पष्ट है।"[1]

पूंजीवादी देशों में सम्पत्ति शोषण का आधार बन गई है। अतः प्रगतिशील देशों ने सम्पत्ति के असीमित अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। प्रो. लास्की ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "धनवान तथा निर्धन में विभाजित देश की नींव पर टिका हुआ है। सम्पत्ति असमानता को पोषित करती है। सम्पत्तिधारी व्यक्ति प्रायः रचनात्मक कार्यों में अपना समय नहीं लगाते। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति राजनीति में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है, जो कि अन्त में समस्त प्रशासन को ही दूषित कर देता है।" लॉक और कई प्राकृतिक अधिकार के समर्थक थे। परन्तु कुछ लेखक इसे ठीक नहीं समझते हैं बल्कि वे इस अधिकार को राज्य से ही प्राप्त मानते हैं।

---

1 "If property must be possessed in order that a man may be his best self, the existence of such a right is clear." —Laski

इस प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। प्रथम श्रेणी में मानवीय आवश्यकताओं की वस्तुएं आती हैं जैसे रोटी, कपड़ा और मकान। दूसरी श्रेणी में इन वस्तुओं के उत्पादन में सहायक सम्पत्ति से लेकर भोग विलास की सामग्री भी आ जाती है। प्रथम श्रेणी की सम्पत्ति के विषय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए जबकि दूसरी श्रेणी की सम्पत्ति पर समाज का आधिपत्य होना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा से कुछ प्रगति हुई थी परन्तु अब इस सम्बन्ध में अच्छी धारणा नहीं है। लास्की ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न देखा जाये सम्पत्ति की वर्तमान पद्धति दोषपूर्ण है।........यह उन गुणों के विकास को अवरुद्ध करती है जो मनुष्यों को एक पूर्ण जीवन जीने में सहायता दे सकते हैं। यह राज्य में उद्देश्य के उस विचार को उत्पन्न करने में असफल रही है जिसके द्वारा राज्य अपनी उन्नति कर सकता है।"

(8) पारिवारिक जीवन का अधिकार (Right to Family Life)—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः परिवार उसके लिए अनिवार्य है अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह मनुष्य को पारिवारिक जीवन व्यतीत करने अर्थात् विवाह करने, पति-पत्नी को परस्पर साथ रहने, माता-पिता का बच्चों पर अधिकार, उत्तराधिकार आदि को स्वीकार करें।

(9) कार्य करने का अधिकार (Right to Work)—कार्य करने के अधिकार से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य राज्य से कार्य प्राप्त करने और उसके एवज में उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर सके। कार्य मनुष्य की इच्छा और योग्यता के अनुकूल होना चाहिए तभी वह अपना विकास कर सकता है।

(10) शिक्षा का अधिकार (Right to Education)—शिक्षा भी मनुष्य के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में नागरिकों को अधिकार और कर्त्तव्य भान नहीं हो सकता है। इससे राष्ट्र अवनति के गर्त में चला जाता है।

(11) अन्य अधिकार (Miscellaneous Rights)—मानव विकास के लिए अन्य अधिकार जो आवश्यक हो सकते हैं वे भी प्रदान किये जाने चाहिये जैसे मनोरंजन, पारस्परिक सम्मान आदि।

राजनीतिक अधिकार
(Political Right)

राजनीतिक अधिकार और मौलिक अधिकारों में अन्तर है। मौलिक अधिकार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण दिये जाते हैं। ये अधिकार उनके जीवित रहने और अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य है जबकि राजनीतिक अधिकार राज्य के नागरिकों को शासन में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से प्रदान किये जाते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्यतः निम्नलिखित अधिकार आते हैं।

(1) मत देने का अधिकार (Right of Vote)—मत देने का अधिकार प्रजातान्त्रिक प्रणाली के लिए अत्यावश्यक है। प्राचीन काल में प्रजातान्त्रिक राज्य छोटे होते थे अतः

जनता प्रशासनिक कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती थी परन्तु आधुनिक युग में दे
कार्य दोनों ही दृष्टि से राज्य विस्तृत और व्यापक बन गया है। अतः नागरिकों द्वारा
के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना असंभव है। ऐसी स्थिति में शासन का कार्य अ
रूप से जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही चलाया जाता है।

(2) निर्वाचित होने का अधिकार—प्रजातंत्र में नागरिकों को मताधिकार के साथ निर्वाचित होने का अधिकार भी होना चाहिये। क्योंकि यदि निर्वाचन में खड़े हो अधिकार सब लोगों को समान रूप से नहीं प्रदान कर केवल कुछ लोगों को ही प्रदान जाय तो देश में विशेष अधिकारों वाला एक वर्ग बन जायेगा। अतः सच्चे प्रजातं स्थापना तभी संभव हो सकती है जबकि सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभा निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त हो।

(3) सरकारी पद पाने का अधिकार—इस अधिकार का अर्थ यह है कि प्र नागरिक को बिना किसी भेद-भाव के ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करने का अधिकार ह चाहिये। किसी भी नागरिक को जाति, धर्म, वर्ण, रंग, लिंग अथवा संपत्ति के आधार सरकारी नौकरी से वंचित नहीं किया जाय अपितु प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानु राज्य की नौकरी में स्थान पाने का समान रूप से अधिकार होना चाहिये।

(4) कानून के समक्ष समानता का अधिकार—राजनीतिक अधिकारों की दृष्टि सभी नागरिक कानून के समक्ष समान माने जाने चाहिये। सभी नागरिकों को, चाहे को धनवान हो या निर्धन, चाहे कोई बहुत बड़ा अधिकारी हो या साधारण व्यक्ति हो, सब को समान रूप से न्याय मिलना चाहिये।

(5) आवेदन-पत्र देने का अधिकार—प्रजातंत्र में नागरिकों को यह भी अधिका होना चाहिये कि वे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में अपने कष्टों के निवारण हेतु सरका को प्रार्थना पत्र दे सकें।

अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theories os Rights)

अधिकारों को प्रदान करने के सम्बन्ध में मुख्यतया निम्नलिखित सिद्धांत अधिक प्रचलित हैं।

(1) प्राकृतिक सिद्धांत (The Natural Theory of Rights)
(2) वैधानिक सिद्धांत (The Legal Theory of Rights)
(3) ऐतिहासिक सिद्धांत (The Historical Theory of Rights)
(4) लोक कल्याण अधिकार सिद्धांत (The Social welfare Theory of Rights)
(5) आदर्शवादी अधिकार सिद्धांत (Idealistic Theory of Rights)

1. प्राकृतिक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के अधिकार प्रदत्त हैं अर्थात् समाज और राज्य की स्थापना से पूर्व ही मनुष्य अपने अधिकारों का उपभोग करता

रा रहा है उसको इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता है। ये अधिकार जन्मजात हैं अतः इन्हें कोई राज्य छीन नहीं सकता है। बल्कि राज्य और समाज की स्थापना इन अधिकारों के ठीक से उपभोग करने के लिये ही की गई है।

इस सिद्धांत का प्रचलन सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दियों में हुआ था। हाब्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव की रक्षा के लिये अपनी शक्ति को स्वेच्छानुसार प्रयोग करने की स्वतन्त्रता हैं, तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये, अपने निर्णय तथा बुद्धि के अनुसार, किसी भी काम को करने की स्वतन्त्रता हैं। ऐसी अवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक वस्तु के ऊपर अधिकार है। यहां तक कि एक दूसरे के शरीर पर भी।"

लॉक स्वतंत्रता, सम्पत्ति और जीवन के अधिकार को मौलिक अधिकार मानता है। इस सम्बन्ध में हाब्स और लॉक में प्राकृतिक विधान के पालन के सम्बंध में मतभेद हैं। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति प्राकृतिक विधान का आदर करते हैं जबकि हाब्स के अनुसार इसका पालन करना असम्भव है।

रूसो के अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकारों को समाज को सौंप देता है और वह समाज के सदस्य के रूप में पुनः उन्हें पा जाता है।

हाब्स, लॉक तथा रूसो के अतिरिक्त अन्य विचारकों ने भी प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन किया है। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य राज्य की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता को मर्यादित करने तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रतिपादन किया गया था।

यह सिद्धांत दिमागी कसरत ही बन कर नहीं रह गया अपितु इसका राजनीति के व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रभाव पड़ा है। अमेरिका और फ्रांस की राज्य क्रांतियाँ इसके उदाहरण हैं। अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा (4 जुलाई, 1776) मे कहा गया है, "सब मनुष्य समान बनाये गये हैं, तथा अपने स्रष्टा के द्वारा उन्हें कुछ अपृथक्करणीय अधिकार प्रदान किये गये हैं। इन अधिकारों में जीवन, सुरक्षा तथा सुख की प्राप्ति है।" फ्रांस की राष्ट्रीय सभा द्वारा मनुष्य तथा नागरिकों के अधिकारों की घोषणा (1789) में लिखा गया है कि "प्रत्येक राजनीतिक संगठन का उद्देश्य मनुष्य के प्राकृतिक तथा अदेय अधिकारों की रक्षा करना है, ये अधिकार स्वतंत्रता सम्पत्ति सुरक्षा तथा अत्याचार का विरोध है।" प्राकृतिक अधिकारों के उपर्युक्त सिद्धान्त में एक साम्य है जिसे प्रो. जोड ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

(1) मनुष्य समाज रचना के पहले से है।

(2) उसके कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं।

(3) इन अधिकारों की रक्षार्थ वह समाज का निर्माण करता है।

(4) अधिकार समाज द्वारा नहीं रचे जाते हैं अपितु मनुष्य इन्हें अपने साथ समाज लाता है।

(5) समाज का ध्येय इन अधिकारों की रक्षा करना है।

(6) यदि वह ऐसा नहीं करता है तो व्यक्ति को विद्रोह करने का अधि

(7) अथवा उसे विद्रोह करने का अधिकार नहीं है क्योंकि समाज उसके अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ था, अतः यदि किसी विशेष अवसर किसी एक अधिकार का उल्लंघन भी होता है तो उसके अन्य अधिकारों की रक्षा

आलोचना--प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत की आलोचना अनेक विचारकों ने संक्षेप में निम्नानुसार है:-

(1) प्राकृतिक शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थ में नहीं होता है। अतः प्राकृ कारों की भी कोई सर्वमान्य सूची नहीं बन पाई है। आज भी यह तय नहीं हो पा सभी स्त्री और पुरुष स्वभावतः समान है। रिची ने ठीक लिखा है, "यदि तुम हवाला देते हो तो हम तुम्हारी अपील की अदालत में तुम्हे चाहे गलत सिद्ध न कर तुम अपने को सही सिद्ध भी न कर सकोगे।

(2) यह सिद्धान्त पूर्णतः गलत है क्योंकि मनुष्य स्वभावतःसामाजिक प्राण सदा से ही समाज में रहता आया है (आदि काल में वह परिवारों में रहता था अ का ही एक रूप है) अतः हाब्स, लॉक, रूसो ने जैसी समाज से पूर्व प्राकृतिक अवस्थ ऐसी कोई अवस्था वास्तव में नहीं थी। यदि एक बार इसे मान भी लिया जाय मानना पड़ेगा कि प्राकृतिक अवस्था में लोगों के अधिकार नहीं थे बल्कि शक्तियाँ थी अधिकार समाज द्वारा दिये जाते है और राज्य उनकी रक्षा करता है। जब तक और राज्य ही नहीं था तो अधिकार कहाँ से आ सकते हैं। ग्रीन ने इसका समर्थन हुए लिखा है कि अधिकार केवल समाज मे ही सम्भव है। असामाजिक अवस्था में शक्तियाँ हो सकती हैं। बोसांके (Bosanquet) ने लिखा है "अधिकार समाज द्वारा प्राप्त तथा राज्य द्वारा दी गई माँगें है।"

(3) प्राकृतिक अधिकार परस्पर विरोधी हैं। स्वतंत्रता, समानता और प्राकृ प्राकृतिक अधिकार माना गया है और इन्हें निरपेक्ष भी माना गया है। परन्तु निरपे अभिप्राय होगा दूसरों के लिए अनाधिकार स्वतन्त्रता और समानता अपने निरपेक्ष एक साथ नहीं रह सकते है जहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता है। वहाँ समानता सम्भव नहीं है।

(4) राज्य कृत्रिम नहीं है जैसा कि प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के समर्थक है। विलमाउण्ट का कहना है कि अधिकारों का उत्पत्ति इस तथ्य से हुई है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह कहना गलत है कि राज समाज ने मनुष्य को उसके अधिकारों से वंचित कर दिया है।

(5) यह सिद्धांत प्रकृति को अधिकारों का स्रोत बतलाकर भ्रम को उत्पन्न है। यह वास्तविकता को आदर्शात्मक तो बनाता है किंतु आदर्श को प्राप्त करने का म नहीं करता है। लार्ड ब्राइस ने इसीलिए इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए लिखा है इस सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था का ही अधिक अध्ययन किया गया है किंतु अधि की प्रकृति क्या है, इसकी इसमें उपेक्षा की गई है।

यह ठीक है कि पूर्व सामाजिक और पूर्व राजनैतिक अवस्था में किसी प्रकार के अधिकारों की सम्भावना पूर्णतः असत्य और भ्रामक है फिर भी इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस सिद्धांत में बिलकुल ही सत्यता नहीं है। यदि इन्हें नैतिक अर्थों में लें तो एक प्रगतिशील सभ्य समाज के लिए ये अधिकार आवश्यक कहे जायेंगे। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि प्राकृतिक अधिकारों को जिस उचित अर्थ में लिया जा सकता है वह केवल यही है कि मनुष्य के नीतिशास्त्र के अनुसार सच्चा मनुष्य बनने के लिए क्या क्या आवश्यक है। हम प्राकृतिक अधिकारों को उन दशाओं के रूप में प्राकृतिक एवं अपेक्षित मान सकते हैं जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि "यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि प्राकृतिक अधिकार मानव संस्था द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत दशाएँ हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।" अन्त में यही कहा जा सकता है कि यदि इसका अभिप्राय आदर्श अधिकारों के रूप में लिया जाए तो यह प्रत्येक काल में मार्ग दर्शन का कार्य कर सकते हैं जिससे राज्य और समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों की अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित कर व्यक्ति के विकास हेतु अधिक अधिकारों की मांग की जा सकती है।

(2) वैधानिक सिद्धान्त—प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत के विपरीत वैधानिक सिद्धान्त इस बात में विश्वास करता है कि अधिकार राज्य द्वारा प्रदत्त हैं। राज्य ही अधिकारों का सृष्टा है। आशीर्वादम् ने लिखा है कि अधिकारों का स्वतः कोई अस्तित्व नहीं होता है क्योंकि मनुष्य का अपने आप से कोई अधिकार नहीं बनता। वे देश की विधि व्यवस्था पर आधारित होते हैं और उसी से जन्म भी लेते हैं। बेन्थम, आस्टिन हाब्स तथा सामण्ड इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। बेन्थम ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है, "वही अधिकार मानने योग्य हैं जिनका विधान में वर्णन किया गया है। जिनका वर्णन विधान में नहीं किया गया है वे अधिकार मानने योग्य नहीं है।" राज्य की परिधि के बाहर अधिकारों की चर्चा व्यर्थ है क्योंकि राज्य के अनुकूल अधिकार ही न्यायोचित है और उससे प्रतिकूल न्यायोचित नहीं है। इस सिद्धान्त की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(1) राज्य ही अधिकार का मूल स्रोत है।

(2) राज्य ही इस बात का निर्णय लेता है कि क्या अधिकार है और क्या नहीं है।

(3) मौलिक अधिकारों की सूची बनाना राज्य पर निर्भर करता है।

(4) राज्य अधिकारों की सुरक्षा के लिए कानून बनाता है तथा उनके पालन के लिए दण्ड बनाता है।

(5) राज्य अधिकारों के स्वरूप और मात्रा में परिस्थितियों अनुसार परिवर्तन कर सकता है।

आलोचना—अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि "राज्य के विरुद्ध अधिकार रखने का अर्थ है कि व्यक्ति सदा अधिकार हीन है।"[1] परन्तु इसका

[1] "To have rights against the state is tantamount to saying that the individual has no rights at all."

यह अभिप्राय नहीं है कि यह सिद्धान्त दोष मुक्त है। अपितु इसकी अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। उनके अनुसार राज्य अधिकारों का सृष्टा नहीं है अपितु राज्य अधिकारों को केवल मान्यता प्रदान करता है। संक्षेप में, इसकी निम्नानुसार आलोचना की गई है—

(1) राज्य अधिकारों का न तो एकमात्र स्त्रोत है और न वह सार्वभौम है। उस पर प्रचलित रीति-रिवाज, परम्परा, नैतिकता, ऐतिहासिकता आदि के कई बन्धन हैं जो उसकी सार्वभौमिक शक्ति को नियंत्रित करते हैं। लास्की ने लिखा है, "अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त यह तो बतला सकता है कि राज्य का स्वभाव या चरित्र कैसा है परन्तु यह बात नहीं बतला सकता है कि किन अधिकारों को मान्यता दी गई है और वे मान्यता के योग्य हैं अथवा नहीं।"[1] वाइल्ड ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि राज्य अधिकारों की रचना नहीं करता, वह केवल उन्हें स्वीकृति प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकारों का अस्तित्व अपने आप रहता है, चाहे उन्हें कानूनी रूप मिले या न मिले। कानून द्वारा उन्हें लागू इसलिए किया जाता है कि वे अधिकार हैं। वे केवल इसलिए अधिकार नहीं बन जाते हैं कि कानून उन्हें लागू करता है।"[2]

मानव अधिकारों को कानून की देन मानकर सीमित करना व्यक्तित्व के विकास मार्ग को अवरुद्ध करना है। अधिकार, परम्परा और प्रचलित रीति-रिवाज की देन है जो राज्य की स्वीकृति से अधिकार बन जाते हैं।

(2) अधिकार धर्म, न्याय एवं रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं और राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अधिकार स्वीकार करते समय इस धारणा की उपेक्षा करे। अतः अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत ऐसी सुविधाएं हैं जिनका राज्य पालन करवाता है। यदि राज्य सर्वशक्तिमान और अधिकारों का सृष्टा है तो क्या वह चोरी और व्यभिचार को अधिकार के रूप में मनवा सकता है? ग्रीन ने उचित कहा है कि व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है यदि राज्य उसकी नैतिकता की रक्षा नहीं करता तथा उसकी अभिवृद्धि के लिए कुछ कार्य नहीं करता।

(3) यह सिद्धान्त राज्य को अधिकारों का एकमात्र स्त्रोत मानकर उसे निरंकुश बनाता है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय व्यक्ति के विवेक को कुंठित कर उसे राज्य की अनुकम्पा पर अवलम्बित करना है।

इन आलोचनाओं से स्पष्ट है कि राज्य अधिकारों का स्त्रोत नहीं है। इसका समर्थन करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर ने भी कहा है, 'राज्य तो केवल अधिकारों की रक्षा करता है, उनकी उत्पत्ति नहीं करता।" वाइल्ड ने लिखा है कि "राज्य में हमारे अधिकारों को

1. "A legal theory of rights will tell us what in fact the character of state is but it will not tell us whether the rights therein recognised are the rights which claim recognition."; —Laski.

2. The law does not create rights but only recognises them and protects them. Rights themselves exist whether they are thus legalised or not. They are enforced because they are rights and not that they become rights because they are enforced." —N. Wilde.

जन्म देने की शक्ति नहीं है।" लास्की लिखता है कि "अधिकारों को स्वीकार करना राज्य की सीमा के अन्दर नहीं आता। यह ठीक भी है क्योंकि विधान बहुत संक्षिप्त होते हैं अतः उसके सारे कार्य उसमें नहीं आ सकते हैं।"

यह सब कुछ होते हुए भी अधिकारों की दृष्टि से राज्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। राज्य की स्वीकृति के बिना अधिकार कोरी कल्पना है। बोसांके ने ठीक कहा है "प्रत्येक अधिकार वैधानिक तथा नैतिक तथ्य होते हैं।"

ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory)

ऐतिहासिक सिद्धान्त का अभिप्राय है कि अधिकारों का स्रोत सामाजिक परम्पराएं हैं जो कालान्तर में कानूनी अधिकार का रूप धारण कर लेते हैं। अधिकारों की उत्पत्ति इतिहास से हुई है न कि राज्य से। प्रारम्भ में रीति रिवाज और परम्पराएं प्रचलित होती हैं जो अपनी उपयोगिता के आधार पर मनुष्य के अधिकार का रूप धारण कर लेती है। रिचे ने उचित कहा है, "जो अधिकार मनुष्यों को प्राप्त होने चाहिए वास्तव में वे अधिकार हैं जिनको ग्रहण करने के वे अभ्यासी हैं या जिन्हें एक बार प्राप्त करने की परम्परा (सही या गलत) बन गई है। इसीलिये रीतियां प्राचीन कानून मानी गई हैं।"[1] एडमंड बर्क का कहना है कि फ्रांस में जो क्रांति हुई, उसका मुख्य कारण परम्परागत अधिकारों की सम्राटों द्वारा अवहेलना थी।

आलोचना

यह सिद्धान्त पूर्ण सत्य नहीं है अपितु आंशिक सत्य है। यह ठीक है कि बहुत से अधिकार परम्परागत सामाजिक प्रथाओं की देन है। परन्तु सभी अधिकार परम्परागत प्रथाओं की देन नहीं है। हमारे बहुत से ऐसे अधिकार हैं जिन्हें परम्परागत होने में सन्देह है। उदाहरणार्थ सामाजिक सुरक्षा, जीविकोपार्जन, शिक्षा आदि के अधिकार प्राचीन नहीं हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि समाज में बहुत सी कु-प्रथाएं प्रचलित होती हैं जो न केवल अनुचित ही होती हैं अपितु समाज की प्रगति में बाधक भी होती हैं ऐसी स्थिति में कुप्रथाओं का विरोध और समयानुसार नये अधिकारों की सृष्टि कठिन है। भारतीय संविधान में अछूतों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार आधुनिक युग की ही देन है। इसी प्रकार बाल विवाह सती प्रथा आदि कुरीतियों को भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। प्रो. हाकिंग ने उचित कहा है, "ऐतिहासिक सिद्धान्त या तो कतई पथ प्रदर्शन नहीं करता यदि करता है तो गलत करता है। यह एक असहाय सिद्धान्त है, यदि इसे स्वतंत्र स्रोतों से आलोकित न किया जाए। इतिहास की निस्सन्देह अवहेलना नहीं की जा सकती है, किन्तु केवल इतिहास पर ही अवलम्बित नहीं रहा जा सकता।"[2]

---

1. "Those rights which people think they ought to have are just those rights which they have been accustomed to have or which they have tradition (whether true or false) of having once possessed. That is why custom is recognised as primitive law."
—Ritchie.

2. "Historical theory gives no guidance at all or else false guidance. It is a helpless method unless lighted by an independent source of interpretation. History of course, can not be ignored, but history can not be relied all alone."
—Hocking : Law and Rights

उपयोगितावादी सिद्धान्त
(Utilitarian Theory of Rights)

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों की व्याख्या उनकी उपयोगिता के आ
की गई है। बेंथम ने लिखा है, "अधिकारों का अभिप्रायः अधिकतम व्यक्तियों का
तम सुख होना चाहिए।" बेंकी ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि "के
अधिकारों को प्रयोग में लाना चाहिए जो समाज के लिए कल्याणकारी हों।"
लिखा है कि "समाज उपयोगिता के बिना अधिकार निरर्थक है।"

आलोचना—यह उचित है कि कोई भी अधिकार जो समाज उपयोगी न
अधिकारों की कोटि में नहीं रखा जा सकता है।

इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी कठिनाई तो 'सामाजिक-उपयोगिता' अथवा 'स
हित' शब्द की व्याख्या करने की है। सामाजिक हित क्या है? क्या बहुसंख्यकों के
ही सामाजिक हित कहा जाए? अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की बात
नहीं उतरती है। वस्तुतः सुख अथवा प्रशंसा का कोई मापदंड नहीं है।

दूसरा, इस सिद्धान्त में कठिनाई यह है कि इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वतं
कोई महत्व नहीं है। विले ने लिखा है, "यदि सामाजिक स्वीकृति से ही अधिक
उत्पत्ति होती है तो व्यक्ति को किसी प्रकार का निवेदन करने का भी अधिकार नह
और उसे विवश होकर समाज की मनमानी इच्छा पर अवलम्बित रहना पड़ेगा।"[1]

आदर्शवादी सिद्धान्त
(Idealistic Theory of Rights)

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को अधिकार समाज के सदस्य होने के नाते
होते हैं। मनुष्य राज्य में उत्पन्न होता है। उसे अच्छे या बुरे राज्य में जन्म लेने की
प्रकट करने का अधिकार नहीं है। मनुष्य की भलाई समाज की भलाई में निहित है
समाज से पृथक मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य उन्हीं अधिकारों को म
प्रदान करता है जो समाज के हित में है।

ग्रीन ने लिखा है, "अधिकार वे बाह्य साधन है जिनसे व्यक्ति का आन्तरिक
होता है।" बार्कर ने लिखा है, "मानव चेतना स्वतंत्रता की कामना करती है, स्वतन्त्र
लिए अधिकार अपेक्षित हैं तथा अधिकार राज्य की मांग करते हैं।"[2] अधिकारों के म
से मनुष्य आदर्श दशा को प्राप्त करना चाहता है और समाज इन्हें इसीलिए स्वीकार
है क्योंकि समाज व्यक्ति के लिए आदर्श जीवन अपेक्षित मानता है। "आदर्शवादी सि
की निम्नांकित विशेषताएं हैं:—

(i) अधिकार व्यक्ति की एक मांग है।
(ii) इसका उद्देश्य व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है।

1. If rights are created by the grant of society the individual is with out ap
and helplessly dependendent upon its arbitrary will" —Wi
2. "Human Consciousness postulates liberty, liberty involves rights and ri
demand the state." —Bar

(iii) इस मांग की स्वीकृति समाज द्वारा होनी चाहिए।

(iv) व्यक्ति तथा समाज के आदर्श कल्याण में कोई अन्तर नहीं है।

(v) प्रत्येक मांग अधिकार नहीं कहला सकती है, केवल वही मांग अधिकार है जिसके पीछे नैतिकता है।

आलोचना—यह सिद्धांत अन्य सभी सिद्धांतों से अच्छा जान पड़ता है। परन्तु राज्य के पास क्या मापदंड है जिससे वह यह ज्ञात कर सके कि यह या वह अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक है।

इस सिद्धान्त के अनुसार कानून का आधार नैतिकता माना गया है परन्तु नैतिकता प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिए भिन्न भिन्न होती है अतः राज्य को कानून बनाने में बड़ी कठिनाई होगी। राज्य दैवी संस्था नहीं है। तृतीय समाज के हित के नाम पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं की जा सकती है।

अधिकारों का वास्तविक स्वरूप:—

अधिकारों के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं एवं विचारकों के विचारों का अध्ययन करने पर विदित होता है कि प्रायःसभी सिद्धांत एकांगी है। सर्वांगीण अधिकार के सिद्धांत में निम्नलिखित विशेषताओं का समावेश होना चाहिए।

(1) अधिकार किसी वर्ग, जाति अथवा व्यक्ति विशेष के लाभ के लिए नहीं है अपितु सम्पूर्ण समाज के सभी वर्गों, जातियों एवं व्यक्तियों को समान रूप से उन्नति के अवसर प्रदान करने के लिए है। इस पर उपयोगितावादी सिद्धान्त वादियों ने बल दिया है।

(2) अधिकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने का साधन है अतः इसका मूल्यांकन समाज में ही है। समाज का त्याग कर जंगल में एकान्तवास करने वाले व्यक्ति के लिए अधिकारों का कोई मूल्य नहीं है।

(3) अधिकार राज्य से पूर्व हो सकते हैं परन्तु सामाजिक जीवन तो उनके लिये अनिवार्य शर्त है। मनुष्य के लिये अधिकार अनिवार्य हैं चाहे कोई राज्य उन्हें प्रदान करे अथवा नहीं। इसीलिये अधिकारों को प्राकृतिक अथवा मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार मान सकते हैं। परन्तु सामाजिक जीवन से पूर्व भी अधिकारों का अस्तित्व है, इस अर्थ में हम उन्हें प्राकृतिक नहीं मान सकते हैं।

(4) सभी व्यक्ति अधिकारों का उपभोग करे और कोई भी व्यक्ति इस उपभोग में बाधा न डालें, इस आशय से राज्य अधिकारों को कानूनी जामा पहनाता और उनकी रक्षा करता है। वैधानिक अधिकार के सिद्धांतवादियों ने इसका समर्थन किया है।

(5) ऐतिहासिक सिद्धांत के समर्थक रीतिरिवाजों को अधिकार के रूप में मान्यता देने का समर्थन करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

(6) आदर्शवादियों ने व्यक्ति के विकास के लिए अधिकारों की अनिवार्यता पर बल दिया है।

कर्त्तव्य
(Duties)

संविधानों में प्राय: व्यक्ति के अधिकारों का वर्णन रहता है, कर्तव्य का
इसका यह अभिप्राय: नहीं है कि व्यक्ति के कोई कर्त्तव्य ही नहीं है। अधिकार
में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः जहाँ अधिकार हैं वहाँ कर्त्तव्यों का स्वत: ही उ
है। अधिकार और कर्तव्य में सिक्के के दो पहलू का सा सम्बन्ध है अत: एक के
का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

कर्त्तव्य कई प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन निम्नानुसार है:—

(1) नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duties)—नैतिक कर्त्तव्य में उनके पालन
कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता है अपितु हमारा नैतिक दायित्व होता है कि हम उन
करें। उदाहरणार्थ माता-पिता की सेवा करना हमारा नैतिक दायित्व होता है उ
कोई कानूनी बन्धन नहीं है। इसी प्रकार गुरु एवं अध्यापक का सम्मान करना
नैतिक कर्त्तव्य है।

(2) कानूनी कर्त्तव्य (Legal Duties)—हम नैतिक कर्त्तव्यों का पालन
से प्रेरित होकर करते हैं अतः उनका पालन व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है
विपरीत कानूनी कर्त्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है। यदि हम उनका उल्लंघन
दंड के भागी होते हैं। कानून तोड़ना, कानून का पालन न करना देश के प्रति वफा
रखना आदि कानूनी कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना है।

अधिकारों और कर्त्तव्यों में सम्बन्ध
(Relation between Rights and Duties)

अधिकार और कर्तव्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रो. लास्की के अनुसार अधि
और कर्तव्य में निम्नलिखित सम्बन्ध है:—

(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति के कर्तव्य के साथ बन्धा हुआ
इसका यह अर्थ है कि यदि मुझे कुछ अधिकार प्राप्त है तो दूसरे का कर्तव्य है कि
अधिकारों में किसी प्रकार की अड़चन उत्पन्न न करे। जैसे मुझे अपने जीवन की रक्षा
अधिकार है तो दूसरे का कर्तव्य है कि मुझे किसी प्रकार की शारीरिक हानि न पहुँचाए।

(2) मेरे अधिकार के साथ-साथ मेरा कर्तव्य है कि मैं तुम्हारे अधिकार को
इसी प्रकार स्वीकार करूँ। जो दूसरों का अधिकार है, वही मेरा कर्तव्य है। यदि दूस
को साथ-साथ की रक्षा का अधिकार है, तो मेरा कर्तव्य है कि मैं उनके जीवन
सम्पत्ति को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाऊँ। दूसरे के अधिकारों का मान करना मेरा
परम कर्तव्य है। और ऐसा करने से ही सबके अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं।

(3) राज्य की ओर से नागरिक को अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं, तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह उनको जनता के हित के लिये प्रयोग करे। उदाहरणार्थ मुझे वोट देने का अधिकार प्राप्त है तो मेरा कर्त्तव्य है कि मैं वोट केवल योग्य उम्मीदवार को दूँ और वोट देते समय मेरे मन में धनवान, निर्धन, ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष और काले-गोरे तथा जाति या धर्म का भेदभाव नहीं होना चाहिये अपितु राष्ट्र के हित की भावना सर्वोपरि होनी चाहिये।

(4) राज्य मेरे अधिकार की रक्षा करता है तो मेरा कर्त्तव्य है कि मैं राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन करूँ। राज्य हमें अनेक प्रकार के अधिकार देता है तो हमारा भी राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य अवश्य हो जाता है। राज्य हमारी रक्षा करता है तो हमारा कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रति कर्त्तव्यों का समय पर ईमानदारी से पालन करें, और राज्य के प्रति पूर्ण वफादारी दिखाएं। अन्त में, हम डा. बेनीप्रसाद के शब्दों में यही कह सकते हैं कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों का ही ध्यान रखे तथा दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो शीघ्र ही किसी के लिये भी अधिकार न रहेंगे।"

(5) कर्त्तव्यों के अभाव में अधिकारों का कोई मूल्य नहीं है। कुछ व्यक्ति समाज में केवल अधिकार ही चाहते हैं, कर्त्तव्य नहीं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अधिकारों और कर्त्तव्यों का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के समान है। और एक के बिना दूसरा निरर्थक है। इस सम्बन्ध में डा. बेनी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का ही ध्यान रखें तथा दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे तो शीघ्र ही किसी के भी अधिकार नहीं रहेंगे।"

(6) वस्तुतः कर्त्तव्यों को निभाने हेतु भी कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है। फ्रेंच विद्वान् ड्यूगी (Duguit) का यह मत अनुचित है कि राज्य में कर्त्तव्य ही है, अधिकार नहीं। क्योंकि यदि हमको राज्य में किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो तो न तो हम अपना विकास ही कर सकते हैं और न अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन कर सकते हैं। अतः इस सम्बन्ध में प्रो. लास्की का यह कथन उपयुक्त है कि "हमें अपने कर्त्तव्य पालन हेतु भी अधिकारों की आवश्यकता होती है।" इसी प्रकार एक अन्य विद्वान वाइल्ड (Wilde) का भी कथन है कि "केवल कर्त्तव्यों के जगत में ही अधिकारों का अस्तित्व सम्भव है।"

उपरोक्त विवरण से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के विरोधी नहीं, सहायक हैं। इन दोनों का सम्बन्ध कार्य-कारण का-सा है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक अधिकार के दो पहलू होते हैं—एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत दृष्टि से जो अधिकार है, वही सामाजिक दृष्टि से कर्त्तव्य बन जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से ही एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्तियों का कर्त्तव्य बन जाता है तथा अन्य व्यक्तियों का अधिकार एक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है।

अधिकार और कर्त्तव्य दोनों का उद्देश्य एक ही है। लॉस्की के शब्दों में "अधिकार और कर्त्तव्य सामाजिक कल्याण की दशाएं हैं।" अधिकार और कर्त्तव्य दोनों मनुष्य और समाज की उन्नति के साधन हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का ठीक ध्यान रखें तथा कर्त्तव्यों का उचित पालन करे तो समाज में शांति और व्यवस्था बनी रहेगी तथा मानव सभ्यता की उन्नति में सहायता मिलेगी।

निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि अधिकारों और कर्त्तव्यों का आपस में घनिष्ट संबंध है। वास्तव में ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का अस्तित्व कायम रहता है तथा साथ ही हमें अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिये भी कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है। अतः दोनों का समान महत्त्व है। अंत में हम यही कहेंगे कि हमें अपने कर्त्तव्यों के पालन पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। अधिकार तो हमें स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे।

अध्याय 10

स्वतंत्रता, समानता तथा कानून

(Liberty, Equality and Law)

1. स्वतन्त्रता (Liberty)
    1. स्वतन्त्रता का अर्थ
    2. स्वतन्त्रता की आवश्यकता
    3. स्वतंत्रता का वर्गीकरण
2. समानता (Equality)
    1. समानता का अर्थ
    2. समानता का वर्गीकरण
3. कानून (Law)
    1. कानून का अर्थ
    2. कानूनों का स्रोत
    3. कानून का वर्गीकरण
4. स्वतन्त्रता, समानता व कानून का पारस्परिक सम्बन्ध

मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्रता चाहता है। यह उसकी सबसे अधिक प्रिय है। प्रकृति से ही मनुष्य स्वतन्त्रता प्रेमी है मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी भी स्वत चाहते हैं। नागरिक के अधिकारों में स्वतन्त्रता के अधिकार का बड़ा महत्व है। स्वत के अधिकार के अभाव में अन्य अधिकारों का भी प्रयोग सम्भव नहीं है।

स्वतन्त्रता का अर्थ
(Meaning of Liberty)

स्वतन्त्रता का भ्रमपूलक अर्थ—स्वतन्त्रता को अंग्रेजी में (Liberty) कहा जाता (Liberty) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द लिबर (Liber) से हुई है जिसका है बन्धनों का अभाव (Absence of restraint) इसलिये स्वतन्त्रता का अर्थ यह जाता है कि मनुष्य को जो चाहें करने की स्वाधीनता हो, उस पर किसी प्रकार का निय न हो, मनुष्य स्वच्छन्द हो, उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न हो आदि। अन्य शब्द इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार चाहे अपना कार्य करे। उसे पूर्ण रू स्वच्छंदता प्राप्त हो। परन्तु वास्तव में यह स्वतन्त्रता का भ्रममूलक अर्थ है। इस प्रकार स्वतन्त्रता मनुष्य को समाज मे कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। इस आशय के अन्तर्गत सं में केवल एक ही व्यक्ति स्वतन्त्र रह सकता है और संसार के अन्य व्यक्तियों को उस गुलाम बनकर ही रहना पड़ेगा। प्रत्येक मनुष्य अगर समाज में इस प्रकार का आच करना प्रारम्भ कर दे तो समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। इस प्रकार की स्वतन्त्रता से सम मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त लागू हो जायेगा और शक्तिशाली व्यक्ति नि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त कर देगा। इसलिये, रूसो का मत है कि मनुष्य स्वतंत्र पै होता है वह सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ रहता है (Man is born free but ever where he is in chains.)

स्वतन्त्रता का सही अर्थ—ऊपर हमने स्वतन्त्रता के भ्रमपूलक अर्थ का वर्णन कि है। सभ्य समाज में इस प्रकार की स्वतंत्रता कभी सम्भव नहीं है। समाज में शांति औ व्यवस्था बनाये रखने के हेतु मनुष्य को इस प्रकार की स्वतंत्रता का अधिकार उपलब्ध न हो सकता है। स्वतन्त्रता का सही अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित अधिकार प्राप्त हों जिससे कि वह अपने व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से कर सकें। साथ ही प्रत्ये व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि एक व्यक्ति क स्वतन्त्रता पर दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के उपभोग की दृष्टि से आवश्यक बन्धन हो स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है, "मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण आजादी।"[1] दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता का अर्थ है "ऐसी अवस्थाओं का अभाव जिनके कारण मनुष्य एक अच्छा और उपयोगी सामाजिक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो।"[2]

1. Liberty means freedom to develop one's personality with out minimum limits.
2. " hindering of "hindrances to good Social life."

अतः स्वतन्त्रता का अर्थ उस दशा से है जिसके बिना अधिकारों का उपभोग
नहीं है। स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने की शक्ति है जिनके बिना व्यक्तित्व का वि
सम्भव नहीं है। लास्की के कथनानुसार "स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की स्थ
है जिसमें मनुष्यों को अपने पूर्ण विकास के लिये अवसर प्राप्त होते हैं।"[1]

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता का अर्थ केवल बंधनो
अभाव ही नहीं है। यह तो केवल स्वतन्त्रता का नकारात्मक (Negative) अर्थ है। स
त्रता का दूसरा अर्थ भी है जो सकारात्मक (Positive) है। इस अर्थ में स्वतन्त्रता का अ
प्राय है उन परिस्थितियों का होना जिनके कारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण वि
कर सके। वास्तव में दोनों ही अर्थों की स्वतन्त्रता हमारे लिये आवश्यक है राज्य
कर्त्तव्य है कि हमारे ऊपर से अनुचित बंधनों को हटाये तथा साथ ही साथ हमे
उन्नति और विकास की आवश्यक सुविधायें प्रदान करें।

स्वतन्त्रता की आवश्यकता

(Necessity of Liberty)

स्वतन्त्रता का सही अर्थ समझने के पश्चात् यह बात आवश्यक है कि हम यह
करने का प्रयत्न करें कि स्वतन्त्रता की क्यों आवश्यकता है। एक दार्शनिक के अ
"स्वतन्त्रता ही जीवन है।" मनुष्य का यथार्थ तत्व ही स्वतन्त्रता है। स्वतंत्रता
जीवन का सार है। यदि हम प्रकृति का अवलोकन करें तो हमें विदित होगा कि स्वत
के बिना किसी वस्तु का विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता के द्वारा ही मनुष्य को च
संभव है। स्वतंत्रता के बिना सभ्यता और संस्कृति का उदय कभी नहीं हो सकता है।
त्रता ही उन्नति की जननी है। स्वतंत्र विचारों से चरित्र गठन होता है और नये वि
और सिद्धांतों की उत्पत्ति होती हैं स्वतंत्र वातावरण में ही नैतिक विकास हो सकत
जिस राज्य में व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है वहां व्यक्तियों का विकास रुक ज
स्वतंत्रता के वातावरण मे ही व्यक्तित्व का विकास संभव होता है जो प्रत्येक मनुष्य के
आवश्यक है यही कारण है कि कोई परतंत्र देश अपनी उन्नति कदापि नहीं कर
है। हमारे स्वयं के देश में परतंत्रता के कारण कितना ह्रास तथा पतन हुआ, उसका
रण हमें यहां देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रजातंत्रात्मक देशों में तो स्वतंत्रता की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है।
तन्त्र जनता का जनता के द्वारा शासन है। नागरिक स्वयं शासक और शासित है।
स्वतंत्रता के अभाव में प्रजातंत्र कभी सम्भव नहीं है। आज के विश्व में रूस, चीन
साम्यवादी देश अपने आपको प्रजातन्त्र घोषित करते हैं परन्तु उन देशों में नागरि
विचार, वाणी, लेखनी और संगठन बनाने की स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त नहीं है
और पर देखा जाय तो किसी भी देश में इस प्रकार की स्वतन्त्रता के अभाव में प्र
की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती है।

1 "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have

अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता मानव जीवन के विकास के लिये आव
है। स्वतन्त्रता जीवन का मधु है। यह मनुष्य की आत्मा है इसके अभाव में स्वतंत्र सा
जिक भावनाओं का उदय नहीं हो सकता और मनुष्य की स्वाभाविक कलाओं का वि
भी असंभव है मिल (J. S. Mill) के ये शब्द कितने सुन्दर है, "स्वतन्त्रता के बिना
भी अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता है।"

स्वतन्त्रता का वर्गीकरण
(Classification of Liberty)

राजनीति शास्त्र के विचारकों ने स्वतन्त्रता के अनेक रूपों का प्रतिपादन किया
इस आधार पर इसके जो प्रकार माने जाते हैं उनका यहाँ हम संक्षिप्त वर्णन करते हैं:-

(1) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—कुछ विचारकों के अनुसार
तन्त्रता प्राकृतिक होती है। वह प्रकृति की देन है। स्वभाव से मनुष्य स्वतंत्र रहना चा
है। वह किसी प्रकार के बंधनों को पसंद नहीं करता है। स्वतन्त्रता के इसी प्रकार को प्रा
तिक स्वतन्त्रता कहा जाता है प्राकृतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि प्रकृति ने मनुष्य
स्वतन्त्र पैदा किया है और वह प्राकृतिक अवस्था से ही पूर्णतया स्वतंत्र रहा है किन्तु सम
के उदय के पश्चात् उस पर कई प्रकार के बन्धन लग गये हैं। जिसके कारण उसकी स
तन्त्रता सीमित हो गई है सामाजिक समझौता सिद्धांत के लेखक हाब्स ने अपने सिद्धा
इसी प्रकार की स्वतंत्रता का वर्णन किया है हाब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनु
को जो चाहे करने का अधिकार था रूसो का भी यही ख्याल था कि मनुष्य स्वतंत्र पै
होता है परन्तु बाद में वह बंधनों में जकड़ जाता है।

इस प्रकार की स्वतंत्रता का प्रतिपादन यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धांत के
विद्वानों ने किया है परन्तु यह संदेह की वस्तु है कि क्या कभी इस प्रकार की स्वतन्त्रता
अस्तित्व रहा होगा। तर्क की दृष्टि से सभी मनुष्यों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता तब
रह सकती है जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इस बात को ध्यान में र
कर करें कि दूसरों को भी उसी प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध है वस्तुतः प्राकृतिक स्वतंत्र
का महत्व तो इसी बात में है कि स्वतंत्रता व्यक्ति के लिये स्वाभाविक है अतः राज्य
उसकी रक्षा करनी चाहिए।

(II) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—इससे अभिप्राय है कि मनुष्य
अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्यों में स्वतंत्रता होनी चाहिये। मनुष्य समाज में रहत
है अतःसमाज हित की दृष्टि से उसके ऐसे कार्यों पर आवश्यक बंधन लगाये जा सकते हैं
जिसका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़ता हो। परन्तु उसके उन कार्यों पर बंध
नहीं होने चाहिये जो उसके स्वयं के जीवन से ही संबंधित हो जैसे प्रत्येक मनुष्य को अपन
, खानपान, रहन-सहन इत्यादि व्यक्तिगत मामलों में स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये
को व्यक्तिगत मामलों में हस्ताक्षेप कदापि नहीं करना चाहिये परंतु साथ ही कुरीतियों
, तथा सुधार करने का अधिकार राज्य को अवश्य होना चाहिए।

(3) नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty)— नागरिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि व्यक्ति को समाज में ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिये कि जिससे वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। इसी कारण प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को पूर्ण रूप से उन्नत करने के लिये उन्हें आवश्यक स्वतंत्रतायें प्रदान करता है जैसे विचार, वाणी और लेखनी की स्वतन्त्रता, सभा करने और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता, राज्य की सीमा में भ्रमण करने एवं बसने की स्वतन्त्रता तथा किसी प्रकार का रोजगार करने की स्वतंत्रता आदि आदि। किंतु नागरिक स्वतंत्रता पर भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक नियंत्रण सदैव ही लगाये जाते हैं। एक बात आवश्यक है कि नागरिक स्वतंत्रता प्रदान करने में राज्य को नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिये और सबको समान रूप में इस प्रकार की स्वतंत्रताएं प्रदान करनी चाहिये। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था के लिये नागरिक स्वतन्त्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(4) सामाजिक स्वतन्त्रता (Social Liberty)—सामाजिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपने विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिये। उसके मार्ग में किसी प्रकार की सामाजिक रुकावटें नहीं होनी चाहिये। जाति-पाति के भेद छुआछूत आदि सामाजिक स्वतंत्रता के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावटें हैं जिनके आधार पर समाज के कुछ अंगों को अपनी उन्नति के समान अवसर प्राप्त नहीं हो सकते हैं भारत में सामाजिक स्वतंत्रता की स्थापना हेतु ही संविधान द्वारा छुआछूत का अन्त किया गया है।

(5) धार्मिक स्वतंत्रता (Religious Liberty)—इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति का अपने धार्मिक मामले में स्वतंत्रता होनी चाहिये। राज्य को किसी धर्म के मार्ग में किसी प्रकार की बाधायें उपस्थित नहीं करनी चाहिये राज्य द्वारा नागरिकों को अपनी इच्छानुसार धर्म मानने, उसका पालन करने एवं प्रचार करने का अधिकार होना चाहिये। राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को आश्रय नहीं देना चाहिये जिससे कि अन्य धर्मों की स्वतन्त्रता में कोई रुकावट पैदा हो किन्तु साथ ही साथ राज्य को धार्मिक बुराइयों का अंत करने तथा धार्मिक संस्थाओं की सुव्यवस्था हेतु धार्मिक स्वतंत्रता पर उचित नियंत्रण लगाने का अधिकार अवश्य होना चाहिये।

(6) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि नागरिकों को राज्य की शासन व्यवस्था को चलाने का अधिकार हो। इस प्रकार की स्वतन्त्रता केवल प्रजातंत्र में ही सम्भव है राजनीतिक स्वतंत्रता वस्तुतः जनतंत्र का ही दूसरा नाम है। लोकतंत्र के युग में राजनीतिक स्वतंत्रता का बड़ा महत्व है इस प्रकार की स्वतन्त्रता के अभाव में जनतंत्र की व्यवस्था वास्तविक रूप में कदापि सम्भव नहीं हो सकती है। राजनीतिक स्वतंत्रता के अंतर्गत ही प्रजातन्त्रात्मक देशों में नागरिकों को मत देने तथा निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त होता है राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ समझाते हुए लास्की ने लिखा है "राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि मैं राज्य के मामले में खुल कर भाग ले सकता हूं। मेरे उच्च पद पर पहुँचने में ऐसी कोई रुकावट नहीं है जो कि सबों के लिये न

हो।" परंतु प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में इस प्रकार की स्वतंत्रता भी सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होनी ही चाहिये।

(7) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ देश की स्वतंत्रता से है जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह स्वतंत्र उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को भी यह अधिकार है कि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो। स्वाभा तौर से व्यक्ति की तरह ही प्रत्येक राष्ट्र भी सदैव स्वतन्त्रता चाहता है विश्व इतिहा परतंत्र देशों ने अपनी पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये सदैव आंदोलन किया है

(7) धार्मिक स्वतन्त्रता (Religious Liberty)—इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक मामले में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य को अधिकार है कि वह अपने स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण करे। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के अभाव में कोई देश अपनी उन्नति पूर्ण से नहीं कर सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् चन्द वर्षों में ही भारत ने जो सर्वां प्रगति की है वह इस बात की पुष्टि करती है कि एक स्वतंत्र देश ही पूर्ण रूप से प्र उन्नति करने में सफल हो सकता है अतः राष्ट्रीय स्वतंत्रता का भी विश्व में बड़ा महत्व

(8) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता के विचा साथ-साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता के विचार का भी उदय हुआ। आर्थिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ प्राप्त करने में स्वतंत्र प्रत्येक व्यक्ति को किसी प्रकार के रोजगार द्वारा अपनी जीविका कमाने का अधिकार ह वास्तविक रूप से देखा जाय तो आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ भूख से मुक्ति है। समाज कोई व्यक्ति बेकार न हो, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार एवं योग्यतानुसार क मिले तथा साथ ही काम के बदले न्यायोचित रोजी मिले। समाज में किसी व्यक्ति आर्थिक न्यूनतम (Economic minimum) से कम न मिले। इस प्रकार की स्वतंत्र तभी सम्भव है जबकि समाज में आर्थिक प्रजातंत्र (Economic Democracy) हो आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं आदि का महत्व ब कम हो जाता है अतः आर्थिक स्वतंत्रता का महत्व भी वास्तविक जीवन में बहुत अधिक है

समानता
(Equality)

समानता का अर्थ (Meaning of Equality)—स्वतंत्रता के साथ-साथ समान भी अच्छे सामाजिक जीवन की एक आवश्यक दशा है परन्तु स्वतंत्रता की भांति इस श के भी वास्तविक अर्थ के विषय में मतभेद हैं। समानता के सम्बन्ध में कई भ्रमात्म धारणायें प्रचलित हैं कुछ लोग समानता का अर्थ सब मनुष्यों की बराबरी से समझते उनकी राय में समानता का यह अभिप्राय है कि समाज में सभी व्यक्ति बराबर हों उन किसी प्रकार का भेद न हो, सबको एक सी शिक्षा, एक-सा वेतन इत्यादि प्राप्त हों सबको समान रूप से सम्पत्ति भी प्राप्त हो इस प्रकार के विचारकों की यह मान्यता है मनुष्य होने के नाते सभी व्यक्ति समान हैं, और उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है

समानता के विषय में यह धारणायें भ्रमपूर्ण है क्योंकि प्रकृति से ही मनुष्य में असमानता है उनमें स्वभाव, बुद्धि, क्षमता इत्यादि एक समान नहीं है। अतः समाज में इस प्रकार की समानता को लागू करना कि सबको एक सी शिक्षा प्राप्त हो एक-सा वेतन मिले इत्यादि व्यवस्था नितान्त असंभव है।

समानता का वास्तविक अर्थ यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास करने के समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। इससे तात्पर्य है कि व्यक्ति के विकास के लिए जिन सुविधाओं की आवश्यकता होती है वे सबको निष्पक्षता पूर्वक प्राप्त होनी चाहिए। राज्य का समाज द्वारा व्यक्तियों को ऐसी सुविधायें प्रदान करने में भेद नहीं करना चाहिये। समानता का सच्चा अर्थ, प्रत्येक नागरिक को समान अधिकारों की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में समानता का अर्थ है सामाजिक निष्पक्षता अर्थात् समाज में निष्पक्ष रूप से सभी व्यक्तियों को अपनी उन्नति और विकास के आवश्यक अवसर प्राप्त होने चाहिए।

स्वतंत्रता की भाँति, समानता के सिद्धांत में भी नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) दो रूप शामिल हैं। नकारात्मक रूप से समानता का अर्थ है कि सामाजिक विशेषाधिकारों का अन्त अर्थात् जाति, वर्ण, धर्म इत्यादि के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार के भेद भाव को न रहने देना। सकारात्मक रूप से समानता का अभिप्राय है कि समाज में प्रत्येय व्यक्ति को अपने अधिकाधिक विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को बराबरी के अधिकार देना। लास्की का कथन है, "समानता का अर्थ है कि समाज में कोई वर्ग अपना विशेष हित न रखता हो और प्रत्येक मनुष्य को बराबर के अवसर प्राप्त हो ताकि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता की तरह समानता का अर्थ भी अत्यन्त व्यापक है।

समानता का वर्गीकरण (Classification of Equality)—समानता के मुख्यतया निम्न भेद किये जा सकते हैं:—

(1) नागरिक समानता (Civil Equality)—नागरिक समानता का अर्थ है सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त होना। नागरिक समानता के आधार पर सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान माना जाना चाहिए उनमें छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, ऊंच-नीच आदि किसी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहिये। नागरिक समानता के सिद्धान्त पर समाज में ही जनता को वास्तविक न्याय उपलब्ध हो सकता है।

(2) सामाजिक समानता—(Social Equality) इसका अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। उनमें जाति, धर्म वर्ण आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहियें। हमारे देश में वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज में ऊंच नीच का जो भेद भाव माना जाता है, वह अब धीरे-धीरे कम हो रहा है क्योंकि सरकार ने कानून द्वारा उसका अन्त करने का निर्णय किया है। परन्तु इसके विपरीत दक्षिण अफ्रिका में आज भी खुले आम स्वय सरकार द्वारा काले और

1. "Equality means, frist of all, the absence of special Privilege. Equality means, in the second place, that adequate opportunities are laid open to all." —Laski.

गोरे के रूप में सामाजिक असमानता का समर्थन किया जा रहा है इस प्रकार की सामाजि असमानताओं से समाज का संगठन शिथिल हो जाता है और देश की उन्नति में बाधा पहुंच है। अतः सामाजिक असमानता का अन्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

(3) राजनैतिक समानता—(Political Equality)—राजनीतिक समानता अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को समान रूप से शासन के कार्यों में भाग लेने का अधिका होना चाहिये। मताधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार तथा सरकारी पद पाने अधिकार ये राजनीतिक अधिकार कहलाते हैं। ये अधिकार राज्य के समस्त नागरिकों समान रूप से मिलने चाहिये। इस प्रकार के अधिकारों को नागरिकों को प्रदान करने किसी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहिये। बेन्थम (Bentham) का कथन है, "प्रत्ये व्यक्ति एक माना जाय, कोई भी एक से अधिक नहीं माना जाय।" इस आधार पर प्रत्ये नागरिक को एक मत का अधिकार होना चाहिये। एक निश्चित आयु के आधार प सभी को चुनाव लड़ने का अधिकार होना चाहिये तथा योग्यता के आधार पर प्रत्येक नागरि को उच्च से उच्च सरकारी पद पर जाने का अधिकार होना चाहिये क्योंकि राज्य सबकी भलाई के लिये है और व्यवस्था में सबका समान हाथ होना चाहिये।

(4) आर्थिक समानता (Economic Equality)—आर्थिक समानता का विचार आधुनिक युग की देन है। समाजवादी विचारकों ने इस समानता को अपने मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में अपनाया है। ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक समानता के बिना अन्य प्रकार की समानतायें संभव नहीं है। परन्तु आर्थिक समानता के अर्थ के विषय में विद्वानों में भारी मतभेद है। आर्थिक समानता का शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो राज्य के सारे नागरिकों की आमदनी और सम्पत्ति को बराबर करना पड़ेगा जो नितान्त अव्यावहारिक है। अगर एक बार ऐसा कर भी लिया जाय तो इस प्रकार की समानता अधिक समय तक कायम नहीं रह सकती है। आर्थिक समानता का यह अर्थ भी कदापि नहीं है कि सबको एक समान वेतन दिया जाय परन्तु इसका वास्तविक अर्थ यह है कि सबको जीवन की न्यूनतम आवश्यकतायें (Economic minimum) उपलब्ध हो तथा आर्थिक विषमतायें कम से कम हों। आर्थिक समानता से तात्पर्य है कि सब मनुष्यों के पास आवश्यकतानुसार यथेष्ट सम्पत्ति हो और कोई व्यक्ति सम्पत्ति के स्वामित्व के कारण दूसरे व्यक्तियों का शोषण न करें। इससे अभिप्राय है कि सम्पत्ति का उचित वितरण होना चाहिये और धन के अभाव के कारण किसी व्यक्ति के विकास में बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिये।

आर्थिक समानता सम्बंधी विचार का मुख्य तत्व यह है कि इसके पहले कि कुछ व्यक्तियों को वैभव की वस्तुएं उपलब्ध हों सबके लिये सामान्य आवश्यकताओं की वस्तुएं उपलब्ध होनी चाहिये अगर एक ओर नागरिकों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उचित वेतन नहीं प्राप्त होता है दूसरी ओर चन्द व्यक्तियों को अपनी आवश्यकता से अधिक आमदनी होती है तो ऐसी आर्थिक असमानताओं की अवस्था में सामाजिक जीवन का सुखी, शांतिमय और उन्नति शील होना संभव नहीं है।

आर्थिक समानता के अभाव में प्रजातांत्रिक शासन का सफलता पूर्वक चलना स
सम्भव नहीं है। प्रजातंत्र की वास्तविकता के लिए आर्थिक समानता का होना नितां
आवश्यक है। आर्थिक असमानता की अवस्था में राजनीतिक समानता का विशेष महत्
नहीं होता है। राजनीतिक समानता का वास्तविक जीवन में उपयोग किये जाने के लि
अधिकांश रूप से आर्थिक समानता की आवश्यकता सदैव ही रहती है।

आज विश्व में रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों को छोड़ कर अन्य देशों में आर्थि
समानता का प्रायः अभाव है परन्तु जहां एक ओर रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों
नागरिकों को काफी हद तक आर्थिक समानता प्राप्त है, दूसरी ओर उन्हे नागरि
सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें उपलब्ध नहीं हैं इधर पाश्चात्य देशों तथा भार
आदि में नागरिकों को ये स्वतन्त्रतायें अवश्य प्राप्त है परन्तु आर्थिक समानता का ब
अभाव है।

(5) शिक्षा प्राप्त करने की समानता (Educational Equality)—अन्त में ह
यहां शिक्षा प्राप्त करने की समानता का भी वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। सामाजि
समानता के लिये इस प्रकार का अधिकार भी आवश्यक है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति
अपना मानसिक विकास करने की सुविधा होनी चाहिये। मनुष्य का मानसिक विक
बहुत कुछ शिक्षा पर ही निर्भर है। अतः शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार नागरि
को अवश्य प्राप्त होना चाहिये। शिक्षा प्राप्त करने की समानता का अर्थ सबको एक सी शि
देने से नहीं है। इसका अभीप्राय: यह है कि समाज में किसी व्यक्ति को उसके जन्म, जा
अथवा गरीबी के कारण शिक्षा पाने की सुविधा से वंचित नहीं होना चाहिये। इ
सिद्धान्त के आधार पर राज्य द्वारा कुछ स्तर तथा निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जा
है तथा उसके पश्चात् योग्य तथा निर्धन विद्यार्थियों को राज्य आर्थिक सहायता प्रदान कर
है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति का अवसर मिल सके।

कानून
(Law)

स्वतन्त्रता तथा समानता का वर्णन करते हुए कानून शब्द का प्रयोग कई स्था
पर किया गया है। अतः हमारे लिये कानून का अर्थ समझना एवं उसके विभिन्न रूप त
स्त्रोतों पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है।

कानून का अर्थ (meaning of law)—कानून शब्द बड़ा व्यापक है इसका प्रय
कई अर्थों में किया जाता है। कानून से एक व्यवस्था का ज्ञान होता है। सामान्यत
कानून से तात्पर्य व्यवहारिक नियमों से लिया जाता है। कानून प्रायः ऐसे नियमों को क
जाता है जो मनुष्यों के आपसी संबंधो को क्रम (Regulation) से रखते हों। का
मानवीय (Human) भी हो सकते हैं और भौतिक (Physical) भी। प्राकृतिक वस्तु
और शक्ति के व्यवहार के नियमों को भौतिक कानून (Physical laws) कहा जाता
जैसे पानी, हवा, माप इत्यादि के संबंध में नियम। भौतिक नियम सदा सत्य, अटल

निश्चित रहते हैं जैसे दो अंश हाईड्रोजन को एक अंश ऑक्सीजन से मिलाया जाय तो स्थानों पर उसका परिणाम पानी ही बनेगा। इसके विपरीत मानवीय कानून (Human laws) हम उन नियमों को कहते हैं जो समाज में रहने वाले मनुष्यों के आपसी सम्बन्ध को नियमित करते हैं। मानवीय कानून के नियम अटल और निश्चित हों इसकी कम संभावना रहती है। मानवीय कानूनों के अन्तर्गत नैतिक कानून, सामाजिक कानून राज्य कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि आते हैं। नागरिक शास्त्र में हमारा सम्बन्ध मुख्यतः राजनीतिक कानूनों से ही होता है जिनको राज्य अपने नागरिकों के लिए लागू करता है।

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के कानून की परिभाषायें दी हैं ये परिभाषा राज्य द्वारा लागू किये जाने वाले कानून की ही है। यहाँ हम कानून की कुछ परिभाषा का अध्ययन करेंगे:—

आस्टिन के मतानुसार—"कानून जनता के लिये राजसत्ताधारी की आज्ञा है।"[1] हालैण्ड के शब्दों में "कानून मनुष्य के बाह्य जीवन से सम्बन्धित सामान्य नियम हैं जो राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू किया जाता है।"[2] ग्रीक के अनुसार "कानून अधिकारों और कर्त्तव्यों की वह व्यवस्था है जिसे राज्य लागू करता है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कानून के दो आवश्यक तत्व हैं—एक तो जनता के बाहरी जीवन के कार्यों की व्यवस्था के लिये सामान्य नियमों का समूह तथा दूसरा *इन नियमों का राज्य की सरकार द्वारा लागू करना एवं पालन करवाना।*

कानूनों के स्त्रोत
(Sources of Laws)

वैसे तो आजकल अधिकतर कानून व्यवस्थापिका द्वारा ही बनाये जाते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त भी कानून के दूसरे कई स्त्रोत या उद्गम हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन देने का हम यहां प्रयास करेंगे।

(1) रीति-रिवाज (Customs)—*रीति रिवाज कानून के अत्यन्त प्राचीन स्त्रोतों* में से एक है। प्राचीन काल में रीति रिवाज ही कानून होते थे। सभी इनका पालन करते थे। इन रीति रिवाजों का इतना अधिक आदर था कि राजा भी उसके विरुद्ध जाने का साहस नहीं करता था। आज भी समाज में रीति रिवाज प्रचलित हैं इनमें से कई रीति रिवाज राज्य द्वारा मान लिये गये हैं जो कानून की शक्ति रखते हैं। इंगलैंड का कामन ला (Common Law) *बहुत हद तक रीति रिवाज पर ही आधारित है जिसे न्यायालयों* ने समय समय पर मान्यता प्रदान कर कानून का रूप दिया है।

(2) धर्म एवं धार्मिक सिद्धांत (Religion and Religious Principles)—धर्म और धार्मिक सिद्धांत भी कानून का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है प्राचीन काल में धर्म का जीव

1. "Law is a command of the sovereign to the subjects." —Austin
2. *"A Law is a general rule of external human action enforced by a sovereign Political authority."* —Holland
3. "Law is the condition of rights and duties regulated by the state" —T. H. Green

पर बड़ा प्रभाव था। समस्त सामाजिक और राजनीतिक जीवन इससे प्रभावित था। अनेक प्रकार के रीति रिवाज भी धर्म पर आधारित थे। परिणाम-स्वरूप सभ्यता की उन्नति के साथ साथ जीवन के लिये हितकारी धार्मिक सिद्धांतों को राज्य के कानूनों की मान्यता प्राप्त हो गई है और वे कानून बन गये। आजकल भी बहुत से देशों में विभिन्न जातियों के कानून उनके धर्म एवं धार्मिक सिद्धांतों पर ही आधारित हैं। भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के कानून (Hindu Law and Muslim Law) का आधार उनके धर्म, धार्मिक ग्रन्थ एवं धार्मिक सिद्धांत ही हैं।

(3) वैज्ञानिक वाद-विवाद तथा शास्त्रीय विवेचनायें—(Scientific discussions and Commentaries)–कानून के विकास मे वैज्ञानिक वाद विवाद तथा शास्त्रीय विवेचन का भी महत्वपूर्ण भाग रहा है। न्याय विशारदों (Jurists) के विचारों का कानून के निर्माण में प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। ये न्याय-विशारद कानून की व्याख्यायें लिखते हैं, उनकी समालोचना करते हैं तथा बुरे कानूनों के सुधार के लिये सुझाव भी पेश करते हैं कभी कभी ये कानूनी पंडित प्रचलित कानूनों का संग्रह कर उनको सुव्यवस्थित भी करते हैं। इस प्रकार ये न्याय-विशारद न्यायालयों और वकीलों की बड़ी सहायता करते हैं। कई बार न्यायाधीश इनकी व्याख्याओं को स्वीकार भी करते हैं तब वह स्वीकृति कानून का अंश बन जाती है प्राचीन भारत मे मनु, याज्ञवल्क्य तथा इंगलैंड में कोक (Coke) और ब्लेकस्टोन (Black Stone) आदि कानून-विशारदों की स्मृतियां इसी प्रकार कानून का रूप धारण कर चुकी हैं।

(4) न्यायालयों के निर्णय (Judicial Decisions)—कानूनों का एक अन्य साधन न्यायालयों के निर्णय भी है। न्यायाधीशों के पास मुकदमें आते हैं जिनका निर्णय उन्हें कानूनों के अनुसार करना पड़ता है। परंतु सब कानून पूर्णतया स्पष्ट नहीं होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में न्यायाधीश अपनी न्यायबुद्धि और नैतिकता के अनुसार अस्पष्ट कानूनों की सूक्ष्म व्याख्या करते हैं और उनके अर्थ को स्पष्ट करते हैं। इस व्याख्या के करने में न्यायाधीश वास्तव में नये कानून का निर्माण कर देते हैं। इंगलैंड के कानून में न्यायालयों के फैसलों का बड़ा ऊंचा स्थान है। साधारणतया उच्च न्यायालयों के निर्णय अधीन न्यायलयों के लिये आवश्यक रूप से मान्य होते हैं। इन्हें न्यायाधीश निर्मित कानून या नजीरे (Judical Precedents) कहा जाता है भारत में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Courts) के निर्णय देश के तमाम न्यायालयों को आवश्यक रूप से मानने पड़ते हैं। उसी प्रकार किसी भी राज्य के उच्चतम न्यायालय (High Court) के निर्णय उस राज्य के सभी न्यायालयों को मानने पड़ते हैं।

(5) न्यायाधीशों की न्याय-भावना या नैतिक न्याय (Equity)—न्यायाधीशों के सामने कई मुकदमें ऐसे भी आते हैं जिनमें कोई निश्चित कानून लागू नहीं होता है ऐसे मुकदमों का निर्णय न्यायाधीश अपनी न्याय भावना या नैतिकता पर देते हैं और इस प्रकार भी एक नये कानून का निर्माण हो जाता है इंगलैंड मे (Law of Equity) का निर्माण इसी

आधार पर हुआ है। आज प्रायः प्रत्येक देश में न्यायाधीश कानून के साथ स
भावना (Equity) का भी प्रयोग करते हैं।

(6) व्यवस्थापिका द्वारा विधि निर्माण (Legislation)—कानून का
और सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत यही है। वर्तमान समाज में सबसे अधिक कानून
पिकाओं द्वारा ही बनाये जाते हैं। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका सभाएं सब प्र
परिस्थितियों के लिये कानूनों का निर्माण करती हैं। कानून-निर्माण का यह सा
साधनों को पीछे छोड़ता जा रहा है धीरे धीरे रीति-रिवाजों और धार्मिक सिद्धा
आधारित कानूनों का महत्व कम होता जा रहा है और उनका स्थान विधि-निर्माण
कर रहा है।

कानूनों का वर्गीकरण (Classification of Laws)

कानूनों का वर्गीकरण अलग अलग विद्वानों ने अलग अलग तरह से किया है
की तालिका में हम राजनीतिक कानून के वर्गीकरण को स्पष्ट करते हैं जो इस प्रका

- राजनीतिक कानून (Political Laws)
  - राष्ट्रीय कानून (National or State Law)
    - वैधानिक (Constitutional)
      - लिखित (Written)
      - अलिखित (Unwritten)
    - साधारण (Ordinary)
      - सार्वजनिक (Public)
        - शासन संबंधी (Administrative)
        - सामान्य (General)
          - संविधि (Statutes)
          - अध्यादेश (Ordinances)
          - नजीरें (Case Law)
          - रीति-रिवाज (Common Law)
      - व्यक्तिग (Private)
  - अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)
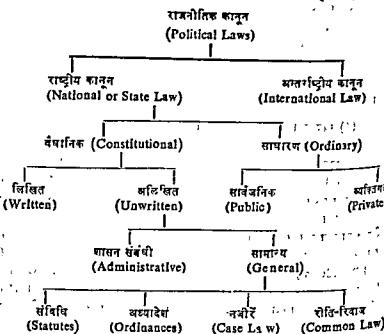
उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापक रूप में राजनीतिक कानू
के दो भाग हैं–एक राष्ट्रीय कानून जो एक राष्ट्र की सीमा में नागरिकों और राज्य पर ला
होता है तथा दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो कि दो या अधिक राज्यों के सम्बन्ध
होता है।

राष्ट्रीय कानून फिर दो प्रकार का होता है—संवैधानिक एवं साधारण। संवैधानिक कानून राज्य से संगठन, सरकार के अंगों एवं शासक और शासितों के सम्बन्धों का वर्णन करता है। यह लिखित भी हो सकता है जैसा अमेरिका, भारत, रूस आदि में है और अलिखित भी हो सकता है जैसा कि इंगलैंड में है। इसके विपरीत साधारण कानून नागरिकों के राज्य के साथ सम्बन्ध तथा नागरिकों के आपसी सम्बन्धों को निश्चित करता है। साधारण कानून के अन्तर्गत दो प्रकार के कानून आ जाते हैं—सार्वजनिक कानून और व्यक्तिगत कानून। सार्वजनिक कानून वे कानून होते हैं जो व्यक्तियों के राज्य के साथ सम्बन्ध को निर्धारित करते हैं जब कि व्यक्तिगत कानून व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।

सार्वजनिक कानून के फिर दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो प्रशासनिक कानून तथा दूसरा सामान्य कानून। प्रशासनिक कानून राज्य कर्मचारियों के संबंध में होता है। फ्रांस में राज्य कर्मचारियों के अपराधों के सम्बंध में अलग प्रकार का कानून है तथा उसे अलग प्रकार के न्यायालय लागू करते हैं जिसे प्रशासनिक कानून (Administrative Law) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative courts) कहते है। इगलैंड, अमेरिका, भारत आदि अन्य राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है अतः सार्वजनिक कानून के कोई भेद नही हैं। प्रशासनिक कानून के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के कानून सामान्य कानून कहलाते हैं।

सामान्य कानून के निर्माण के साधन और विधियां अलग अलग होने से उनके अलग अलग भेद हो गये हैं जिसे हम कानून के स्त्रोत में समझा चुके हैं जो कानून व्यवस्थापिकायें बनाती हैं, उन्हें संविधि (Statute Law) कहा जाता है। राज्य के प्रधान द्वारा बनाये गये अस्थायी कानून अध्यादेश (ordinance) कहलाते हैं न्यायधीशों के निर्णयों पर आधारित कानून नजीरें (Case Law) कहलाते हैं तथा रीति रिवाजों पर आधारित कानून कॉमन ला (Common Law) कहलाते हैं।

स्वतन्त्रता, समानता तथा कानून का पारस्परिक संबंध

(Inter-relationship between Liberty, Equality and Law)

स्वतन्त्रता, समानता और कानून का अलग अलग अध्ययन करने के पश्चात् इनके आपसी सम्बन्ध का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है।

स्वतंत्रता और कानून (Liberty and Law)—स्वतंत्रता और कानून के सम्बंध में बहुधा यह समझा जाता है कि कानून और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी है। दूसरे शब्दों में कानून स्वतंत्रता पर आघात करता है व्यक्तिवादी विचारक इसी मत के समर्थक हैं। अराजकतावादी विचारक तो मनुष्य को कानूनों से पूर्णतया स्वतन्त्रता प्रदान कराना चाहते हैं। इस प्रकार के विचारक स्वतन्त्रता का अर्थ बंधनों के अभाव से ले लेते हैं।

परंतु यह धारणा मिथ्या है। स्वतंत्रता के अर्थ को स्पष्ट करते हुये यह लिखा जा चुका है कि अनियंत्रित स्वतंत्रता का होना असम्भव है इस प्रकार की स्वतंत्रता का अर्थ होगा कि शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर व्यक्तियों को दबा देंगे। इस प्रकार की स्वतंत्रता का

उपयोग केवल शक्ति-शाली व्यक्ति ही कर सकेंगे। अतः स्वतंत्रता पर उचित नियं होना आवश्यक है।

लॉक का कथन है, "जहाँ कानून नहीं होता वहाँ स्वतंत्रता भी नहीं र है।"[1] यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है। कानून का होना स्वतंत्रता के लिये आवा कानून के बिना समाज में कुछ ही व्यक्तियों को स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकती है। के बिना सभी नागरिकों के अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती और समाज में अ का वातावरण पैदा हो जायेगा। विलोबी ने ठीक ही लिखा है कि "स्वतंत्रता का इसलिये है कि उस पर नियंत्रण है।"[2]

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता कानून के पालन में हीगल के अनुसार स्वतंत्रता राज्य के अन्तर्गत ही है क्योंकि राज्य बुद्धि का मूर्तरूप है के अनुसार स्वतंत्रता कानूनों का पालन करने में है। रूसो का कथन है कि वही मनु तंत्र है जो समाज की इच्छा (General will) का पालन करता है। हॉकिंग लि कि "जितनी अधिक स्वतंत्रता व्यक्ति चाहता है उतना ही अधिक उसे शासन के झुकना चाहिये।"[3]

प्रथम, तो कानून समाज में ऐसा वातावरण निमार्ण करते हैं कि जिससे जीवन संभव होता है। इसके लिये कानून अपराधियों को दण्ड देता है।

द्वितीय, कानून के द्वारा नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों को निश्चित जाता है और उनकी रक्षा की जाती है। यदि कोई मनुष्य दूसरों के अधिकारों में पैदा करता है तो राज्य उसे दण्ड देता है।

तृतीय, वैधानिक कानून मनुष्य को मौलिक अधिकार प्रदान करते हैं मुख्यतया स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त होता है। संविधान द्वारा प्रदान की गई स्व की रक्षा न्यायालयों द्वारा सदैव ही की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कानून और स्वतन्त्र घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। कानून स्वतन्त्रता के मा बाधक नहीं अपितु सहायक है। वह स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्रत्येक कानून स्वतंत्रता की रक्षा करता इस सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। सरकार द्वारा कभी ऐसे भी कानून बनाये जा सकते हैं जो कि एक वर्ग के लाभ के लिये हों। कानून एक दुधारी तलवार की भांति है जिससे जनता का हित भी सकता है और अहित भी। अच्छे कानून जनता की सेवा करते हैं और बुरे कानून जनता हानि पहुँचाते हैं लास्की का यह कथन बड़ा उपयुक्त है कि "वे ही कानून मेरी स्वतन्त्र बाधक नहीं हैं जो कि मेरी आत्मोन्नति में बाधा नहीं पहुँचाते हैं।" इसका अर्थ है कि का

1. "Where there is no law, there is no freedom" —Loc
2. "Freedom exists only because there is restraint" —Willoughl
3. "The greater the liberty a person desires, the greater is the authority to whi he should submit himself." —Hockin

इस प्रकार के होने चाहिये जो नागरिकों की उन्नति और विकास की सुविधायें प्रदान करें ऐसे ही कानून स्वतन्त्रता में सहायक होते हैं। इसके विपरीत जो कानून नागरिकों की उन्नति और विकास में बाधा पहुंचाते हैं वे स्वतन्त्रता के विरोधी हैं इससे यह बात सिद्ध होती है कि नागरिकों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सदैव सतर्क रहना चाहिये जैसा लास्की का कथन है कि सतत सतर्कता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है। (Eternal vilgiance is the Price of liberty.)

स्वतन्त्रता और समानता (Liberty and Equality)— स्वतन्त्रता और समानता के सम्बन्ध के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। एक विचारधारा यह है कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे की विरोधी है। फ्रांसीसी विचारक डीटाकविल तथा अंग्रेजी इतिहासकार लार्डएक्टन का विचार है कि स्वतन्त्रता है वहां समानता नहीं रह सकती है और जहां समानता है वहां पर स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। उनके विचार से स्वतन्त्रता नियन्त्रण की विरोधी है जब कि समानता नियन्त्रण की संगिनी है।

परन्तु वास्तव में इस प्रकार की विचार धारा स्वतन्त्रता के गलत अर्थ पर आधारित है। यह बात हम कई बार लिख चुके है कि स्वतंत्रता का अर्थ नियंत्रण का अभाव नहीं है वरन् अधिकारों की रक्षा है। समानता के अन्तर्गत भी मनुष्य के अधिकारों का समावेश होता है। इसलिये ये दोनों धारणायें एक दूसरे की सहयोगी है।

स्वतंत्रता का मुख्य आधार ही समानता है बिना समानता के स्वतंत्रता व्यर्थ और सारहीन है यदि समाज में सामाजिक समानता नहीं है तो राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई लाभ नहीं है। स्वतंत्रता केवल उसी समय कायम रह सकती है जब कि समाज के सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्ति का विकास करने के लिये समान अवसर प्राप्त हों। जिस समाज में आर्थिक समानता का अभाव है, वहां स्वतंत्रता नाम मात्र की रहती है जिस समाज में एक ओर धन से उन्मत्त पूंजीपति और दूसरी ओर भूख से पीड़ित जनता रहती है, वहां किसी प्रकार की स्वतंत्रता संभव नहीं है। रूसो का कथन है कि स्वतंत्रता के बिना समानता जीवित नहीं रह सकती है। लास्की के अनुसार "जहां अमीर और गरीब लोग हैं, जहां पर शिक्षित और अशिक्षित हैं, वहां सदैव स्वामी और सेवक मिलते हैं।"[1]

अत: यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं। बिना समानता के स्वतंत्रता खोखली और सारहीन है तथा बिना स्वतंत्रता के समानता का कोई अर्थ नहीं है।

1. "Where there are rich and Poor educated and uneducated, We always find masters and Servants."
—Laski.

अध्याय 11

राजनीतिक दल

(Political Parties)

(1) राजनैतिक दल की परिभाषा
(2) राजनैतिक दलों का महत्त्व
(3) राजनैतिक दलों के प्रकार
(4) राजनैतिक दलों के कार्य
(5) दल पद्धतियाँ—
    (i) एक दलीय पद्धति
    (ii) द्वि-दलीय पद्धति और
    (iii) बहु-दलीय पद्धति
(6) दल पद्धति के गुण-दोष
(7) दल पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय
(8) भारत का बहुदल तथा कोलिस्ट दल से प्रभावित करना

आधुनिक युग में राजनैतिक दल बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के अंग बन चुके हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अप्रत्यक्ष हो, उसमें राजनैतिक दल आवश्यक और उपयोगी रहे हैं। उन्होंने जनता में चेतना उत्पन्न करने के साथ-साथ शासन और जनता की इच्छा में साम्य स्थापित किया है।

उत्पत्ति—राजनैतिक दल आधुनिक युग की देन दिखलाई देते हैं परन्तु गहराई से देखें तो इनका प्रचलन प्राचीन काल से है। प्राचीन यूनान मे दो राजनैतिक दल थे—प्लैबियन्स तथा पैट्रीशियन्स। परन्तु दलीय प्रथा को व्यवस्थित रूप इंगलैंड ने प्रदान किया है। इंगलैंड के गृहयुद्ध का सूत्रपात भी राजनैतिक दलों द्वारा हुआ था। उस समय दो दल थे—एक कैवीलियर्स और दूसरा राउण्ड हैड्स। एक राजवंश का समर्थक था तो दूसरा संसद के अधिकारों का। ये दल बाद में ह्विग और टोरी कहलाने लगे। उसके बाद उदारवादी अनुदारवादी दलों के नाम से प्रसिद्ध हुए जो अभी तक प्रचलित हैं। श्रमिक दल आधुनिक युग की देन है।

राजनैतिक दल की परिभाषा

(Defination of Political Parties)

राजनैतिक दल गुट विशेष नहीं हैं अपितु "राजनीतिक दल का आशय नागरिकों के ऐसे समूह से है जो सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में समान विचार रखता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी कल्पित नीति को विस्तार देने के लिए शासन तंत्र को हस्तगत करना चाहता है।" इसकी परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है।

गैटिल—राजनैतिक दल ऐसे नागरिकों का न्यूनाधिक संगठित समूह है जो एक राजनैतिक इकाई की भांति कार्य करते हों और अपनी मतदान की शक्ति का प्रयोग करते हुए शासन को अपने नियंत्रण में रखने और अपनी सामान्य नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हों।"[1]

प्रो. लास्की—"राजनैतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठित समूह से है जो एक संगठित इकाई के रूप मे कार्य करते हों।"[2]

1. "A political party consists of a group of citizens more are less organised, who act as a political unit and who by the use of their voting power aim to control the government and carry out their general policies" —Gettell.
2. "By a political party we mean a more or less organised group of citizens who act together as a political unit." —Prof. Laski.

मैकाइवर—"राजनैतिक दल वह मनुष्य समुदाय है जो किसी ऐसे सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित हुआ हो जिसे वह संवैधानिक साधनों से शासन का आधार बनाना चाहता है।"[1]

गिल क्राइस्ट—"राजनैतिक दल नागरिकों के उस संगठित समूह को कहते हैं जो सामान्य सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं और एक ही राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और सरकार पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।"[2]

बर्क—राजनैतिक दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धान्तों पर सहमत हों तथा सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय हित का परिवर्द्धन करने के लिए एकता के सूत्र में बंधे हुए हों।'[3]

लीकॉक—राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो इकट्ठे मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नों पर एक जैसे होते हैं और वे एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।'[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं से राजनैतिक दल के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(1) दल के सभी सदस्यों को सिद्धान्त और नीतियों के सम्बन्ध में एकमत होना चाहिए।

(2) दल के सदस्यों को अनुशासन में रहते हुए एक इकाई के रूप में कार्य करना चाहिये।

(3) दल के पास राजनैतिक और आर्थिक कार्यक्रम होना चाहिये।

(4) दल का लक्ष्य शासन सत्ता प्राप्त करना होना चाहिये।

(5) अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु दल द्वारा संवैधानिक और शांति पूर्ण तरीकों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(6) दल के सदस्यों में सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय हितों की भावना होनी चाहिये।

---

1. "A Political Party is an association organised in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinant of government." —Mac Iver.

2. "A Political party may be defined as an organisation of citizens who profess to share the same political views and who by acting as a political unit, try to control the government." —Gilchrist.

3. "A Political Party is a body of men united for promoting by their joint endeavours the national interest, upon some particular principle in which they are all agreed." —Burke.

4. "By a political Party we mean more or less organised group of citizens who act together as a political unit. They share on profess to share the same opinions on public questions and by exercising their voting power towards a common end, seek to obtain control of the government." —Dr. Leacock.

राजनैतिक दलों का महत्व
(Importance of Political Parties)

प्रजातंत्र के लिये राजनैतिक दलों का होना अनिवार्य है क्योंकि राजनैतिक दलों के बिना प्रजातंत्र का संचालन ही असम्भव है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है, "राजनैतिक दल अनिवार्य है। कोई भी बड़ा स्वतंत्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी व्यक्ति ने यह नहीं दिखाया है कि प्रतिनिधि सरकार (Representative Govt.) उनके बिना कैसे चल सकती है। राजनैतिक दल मतदाताओं की अव्यवस्था में से शांति और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। यदि दल कुछ बुराइयों को उत्पन्न करते हैं तो वे दूसरी बुराइयों को कुछ कम या दूर भी करते हैं।"[1]

वस्तुतः राजनैतिक दल नागरिकों के सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति उदासीनता को नष्ट करके उनमें चेतना उत्पन्न करते हैं एवं उन्हें शिक्षित और संगठित करते हैं। राजनैतिक दलों के कारण ही सरकार का संचालन लोकेच्छा के अनुसार सम्भव होता है। विद्वान् लेखक लॉवेल ने उन्हें विचारों का दलाल (Brokers of ideas) कहा है क्योंकि उन्हीं के माध्यम से जनता के सम्मुख विविध प्रकार के विचार व्यक्त किये जाते हैं जिनसे जनमत के निर्माण और अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है।

राजनैतिक दलों के प्रकार
(Types of Political Parties)

राजनैतिक दलों को सामान्य रूप में चारों भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(1) अनुदारवादी (Conservative)—इस विचारधारा के राजनैतिक दल परिवर्तन विरोधी होते हैं। वे संस्थाओं को जैसे का तैसा ही रखना चाहते हैं और उसमें परिवर्तन का कभी भी समर्थन नहीं करते हैं। इंगलैंड का अनुदारवादी दल इसी प्रकार का है जो प्राचीन काल से चली आ रही संस्थाओं और नीतियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते हैं। इन्हें रूढ़िवादी या दक्षिणपंथी भी कहा जाता है।

(2) उदारवादी (Liberals)—उदारवादी दल वर्तमान संस्थाओं में सुधारों का अनुमोदन करते हैं पर अत्यधिक प्रगतिशील विचारों के आधार पर नहीं।

(3) प्रतिक्रियावादी (Reactionary)—ये दल परिवर्तन के घोर विरोधी होते हैं। विवेक और तर्क से दूर प्राचीन सभ्यता और संस्थाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं।

(4) प्रगतिवादी (Redicals)— ये दल सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं में आमूल चूल परिवर्तन के समर्थक होते हैं। समाजवादी और साम्यवादी दल इसी के अन्तर्गत आते हैं।

---

1 "Political Parties are inevitable. No free large country has been without them. No one has shown how representative Govt. could be worked without them. They bring order out of the chaos of a multitude of voters. If parties cause some evils, they avert and mitigate others" —Lord Bryce

राजनीतिक दलों के कार्य
(Functions of Political Parties)

टी. बी. स्मिथ के अनुसार राजनीतिक दल प्रजातंत्र की रीढ़ होते हैं। रा दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य करने होते हैं। मेरियम ने रा दलों के निम्नलिखित कार्य बतलाये हैं:—

(i) सार्वजनिक नीतियों का निर्माण
(ii) सत्ताधारी दल की आलोचना
(iii) जनता का राजनैतिक शिक्षण
(iv) व्यक्ति तथा सरकार में मध्यस्था

डा. मुनरो ने इसके कार्य निम्नलिखित बतलाये हैं:—

(i) जनता में राजनैतिक विचारों की सृष्टि
(ii) निर्वाचनों के लिए उम्मीदवारों का चयन
(iii) सामूहिक राजनैतिक प्रतिनिधित्व की स्थापना
(iv) नागरिक शिक्षा के माध्यम द्वारा जनहित को सुरक्षित रखना

न्यूमैन (Neumann) राजनैतिक दल को सामाजिक हित का ऐसा प्रति बतलाता है जो व्यक्ति तथा समाज के मध्य पुल का कार्य करता है। वह इन्हें विचार सौदागर कहता है जो अपनी दलीय नीतियों के प्रसारण में प्रत्येक समय संलग्न रहते राजनैतिक दलों को अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए अनेक कार्य करने पड़ते हैं जो मुख् निम्नलिखित हैं—

(1) सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में जनता का नेतृत्व—प्रत्येक जनसाधारण के लि आधुनिक युग की जटिल समस्याओं का समझना और उनका हल निकालना कठिन हो है। ऐसी स्थिति में राजनैतिक दल ही अपने विचार विमर्श द्वारा उनका हल निकाल जनता के समक्ष रखते हैं। लोकमत को अपने विचारों के अनुकूल बनाने के लिए ये प्रकाशन, समाचार पत्र, आकाशवाणी, भाषण आदि का सहारा लेते हैं। और अपने अ कूल लोकमत तैयार होने पर ही सरकार को कार्य करने अथवा न करने के लिए विव करते हैं। इसीलिए इन्हें "विचारों का दलाल" (Broker of Ideas) कहा गया है डा. आशीर्वादम् ने लिखा है, "निस्सन्देह आधुनिक राज्यों की जटिल परिस्थितियों समस्याओं और नीतियों को स्पष्ट करने में राजनीतिक दल महत्वपूर्ण योग देते हैं। जि प्रकार दोनों पक्षों के वकील की जिरह, बहस आदि से न्यायाधीश मामले को ठीक प्रका से समझ लेता है, उसी प्रकार राजनीतिक दलों के प्रचार से मतदाता देश की समस्या और उनका हल समझ कर अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लेते हैं।"

(2) सरकार और जनता के मध्य कड़ी—राजनीतिक दल लोकतांत्रिक शास पद्धति में जनता और शासन रूपी रथ में धुरी का कार्य करते हैं अर्थात् जनता के विचा एवं कठिनाइयों को शासन तक पहुँचाते हैं और शासन की नीतियों तथा सफलता विफलत की सूचना जनता को देते हैं।

(3) सरकार का संचालन—विधानसभा में बहुमत्यक दल ही सरकार का निर्माण करते हैं। सरकार के माध्यम से बहुमत दल अपने सिद्धान्तों को क्रियान्वित करवाता है। इस प्रकार उसका सरकार पर नियंत्रण रहता है। जो दल बहुमत में नहीं होता वह सत्तारूढ़ दल का विरोध करके उसकी स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण लगाने का प्रयास करता है।

(4) जनता का राजनीतिक शिक्षण—डा. हरमैन फाइनर ने ठीक कहा है कि राजनैतिक दलों की अनुपस्थिति में निर्वाचक मंडल असंभव नीतियों के कारण या तो दुर्बल हो जाते हैं या विनाशकारी। अतः राजनैतिक दल जनता को राजनीतिक शिक्षा देते हैं। प्रकाशनों, समाचार पत्रों, अधिवेशनों, सभाओं आदि के द्वारा वे जनता को राजनीतिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराते हैं। इससे जनता का दृष्टिकोण व्यापक बनता है और जनता में राजनीतिक चेतना और जागरण का प्रादुर्भाव होता है।

(5) सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य—राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र राजनीति तक ही सीमित नहीं रहता है अपितु वे सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान का भी प्रयत्न करते हैं। पिछड़े देशों मे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। भारत में हरिजनोद्धार छुआछूत उन्मूलन, स्त्री शिक्षा; कुटीर व गृह उद्योगों आदि के क्षेत्र मे भी कांग्रेस राजनैतिक दल ने कार्य किया है।

(6) सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य—शासन संचालन की सुविधा के लिए सरकार विभिन्न विभागों द्वारा कार्य करती है। परंतु विभागों में परस्पर सामंजस्य न हो तो सरकार सफल नहीं हो सकती है। अतः सत्तारूढ़ दल सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करता है।

(7) दल सम्बन्धी कार्य—राजनैतिक दल अपने संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए भी अनेक कार्य करते हैं। वे प्रकाशनों द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते हैं तथा अपने विचारों से प्रभावित व्यक्तियों को अपना सदस्य बनाते हैं। राजनैतिक दल समय समय पर सार्वजनिक सभाओं और अधिवेशनों का भी आयोजन करते हैं। तथा संगठन की सुदृढ़ता के लिए अपने सदस्यों को अनुशासन में रखते हैं।

दल पद्धतियां
(Party Systems)

दल पद्धतियां मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—

(1) एक दलीय पद्धति (Single Party System),

(2) द्विदलीय पद्धति (Bi-Party System) और

(3) बहुदलीय पद्धति (Multi Party System)

(1) एक दलीय पद्धति (Single Party System)—एक दलीय पद्धति में एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व रहता है और सरकार पर भी उसी दल का नियंत्रण रहता है। अधिनायकवादी व साम्यवादी देशों जैसे नाजी जर्मन, फासिस्ट इटली, सोवियत रूस, साम्यवादी चीन आदि देशों में एक दलीय व्यवस्था पाई गई है। इस पद्धति के समर्थक इसे ही वास्तविक पद्धति मानते हैं क्योंकि उनका कहना है कि जनतंत्र सम्पूर्ण जनता का शासन

है विभिन्न वर्गों की नहीं। इससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ होती है। विरोधी दलों के
शासन भी सुदृढ़ता पूर्वक संचालित होता है। परंतु यह पद्धति अप्रजातांत्रिक है। प्र
ही परस्पर विचारों का आदान प्रदान होता है। परंतु एक दलीय व्यवस्था में वि
बहुमुखी विकास अवरुद्ध हो जाता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त
है तथा उसका सर्वांगीण विकास रुक जाता है।

(2) द्विदलीय पद्धति (Bi-Party or two Party System)—द्विदलीय
दो दल प्रधान रहते हैं। और अन्य छोटे मोटे दलों का विशेष महत्व नहीं रहता है
बहुमत दल सत्तारूढ़ रहता है और अल्पमत दल, विरोधी दल का कार्य करता है
प्रजातांत्रिक पद्धति है। इसका उदाहरण ब्रिटेन और अमेरिका है। विरोधी दल
सत्तारूढ़ दल के स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने पर रोक लगती है। सरकार को
कमियां जानने का अवसर मिलता है तथा जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण के सा
दलों की अच्छाई बुराई का पता चलता रहता है। परंतु इसमें भी कुछ दोष है। बहु
का शासन में एकाधिकार हो जाता है और संसद की स्थिति कमजोर पड़ जाती है।
को भी दलों में से किसी एक को ही चुनना आवश्यक हो जाता है।

(3) बहुदलीय पद्धति (Multi-Party System)—बहुदलीय पद्धति में अनेक दल
और सभी दल अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रभावशाली होते हैं। अधिक दल होने पर
एक दल का स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है अतः कई दल मिलजुलकर संयुक्त मंत्रि
का निर्माण करते हैं। यह पद्धति फ्रांस, इटली आदि देशों में पाई जाती है। आज भा
भी यही व्यवस्था है। इसमें शासन में किसी एक दल की निरकुंशता नहीं हो पाती है
विभिन्न वर्गों को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। परंतु इस पद्धति से सरका
स्थायित्व नहीं आ पाता है एवं सरकार की नीतियों में भी एक रूपता नहीं रह पाती

दल पद्धति के गुण
(Merits of Party System)

पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने दल पद्धति की प्रशंसा करते हुए इसे प्रजातंत्र का प्राण क
है। मुनरो ने तो यहां तक कहा है कि दलीय शासन का दूसरा नाम ही लोकतंत्रीय शा
है। अपने गुणों का परिचय सभी को कराने में व्यक्तिगत क्षमता असमर्थ रहती है क्यों
प्रत्येक के पास इतना धन नहीं होता है कि वह अपने गुणों का अधिक व्यक्तियों से सराह
व समर्थन प्राप्त कर सके। राजनीतिक दल ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अप
इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। अतः राजनीतिक दल से ही लोकतंत्र सफल
प्राप्त कर सकता है। दलीय पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं:—

(1) जनमत का निर्माण—प्रजातंत्र का आधार ही जनमत है। दल पद्धति में परस्प
विचारों का आदान प्रदान होता रहता है तथा सरकार की भी आलोचना होती रहती है।
सरकार जनता की भावना के अनुकूल कार्य नहीं करती है तो उसे अपदस्थ होना पड़ता है।
मैकाइवर ने राजनीतिक दलों के महत्व पर विचार करते हुए लिखा है, "दल प्रणाली के
बिना राज्य में न तो नीति होती है और न सच्चा आत्म नियंत्रण ही।"

(2) लोकतंत्र की सफलता—लोकतंत्र की सफलता राजनीतिक दलों के अस्तित्व पर निर्भर करती है। इससे परस्पर मिलकर काम करने की भावना प्रबल होती है। किसी ने ठीक कहा है, "संगठित राजनीतिक दलों के अभाव मे संघर्षात्मक विचार समूह होंगे जिसमें सामंजस्य के लिए कोई ऐसी सर्वमान्य बात नहीं होगी जो उन्हें इकट्ठे मिलाकर प्रभावपूर्ण ढंग से काम करने योग्य बनावे।" लीकॉक ने इसके महत्व को प्रकट करते हुए लिखा है, "आधुनिक लोक राज्य इस कृत्रिम तथापि आवश्यक यंत्र के बिना व्यक्तिगत मतों का समूह मात्र बन कर रह जायेगा।"[1] जन सम्पर्क से ही जन सहयोग की सम्भावना हो सकती है और यह राजनैतिक दलों का ही सामर्थ्य है कि वे विशाल राज्यों में भी अपने व्यापक संगठन के माध्यम से यह कार्य सुलभ बना देते हैं। प्रो. हरमन फाइनर ने भी लिखा है, "राजनैतिक दल इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सारे राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाय जो कि समय तथा प्रदेश की दूरी के कारण प्राप्त करना असम्भव है।"

(3) नागरिक अधिकारों की सुरक्षा—राजनैतिक दलों से स्वेच्छाचारी शासन पर नियंत्रण लग जाता है और नागरिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं। जेनिंग्स (Jennings) ने लिखा है, "जब तक विपक्षी दल विद्यमान है अधिनायकतन्त्र नहीं हो सकता है।" इतना ही नहीं लोवेल (Lowell) ने लिखा है, कि "दल लोगों को सरकार पर नियंत्रण रखने योग्य बनाते हैं।" विपक्षी दल बहुमत दल की तानाशाही के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है जिससे नागरिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

(4) क्रांति की सम्भावनाएं कम—दलीय पद्धति मे क्रांति की सम्भावना कम हो जाती है। क्रांति में भी सरकारें बदली जाती है तो लोकतन्त्र में भी। परन्तु एक में मार-काट के द्वारा तो दूसरे में वोटों के द्वारा। लोकतंत्र में चूंकि समय-समय पर होने वाले निर्वाचनों के जरिये सरकार के परिवर्तन का अवसर उपलब्ध है, इससे अन्य व्यवस्था की अपेक्षा क्रांति की सम्भावनाएँ न्यूनतम रहती है।

(5) शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य—राजनैतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों में परस्पर सहयोग और सद्भावना द्वारा सामंजस्य स्थापित करते हैं। शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका पूर्णरूप से पृथक होती है फिर भी राजनैतिक दलों के कारण शासन का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "अमेरिका के संविधान की कठोरता के दोष को राजनैतिक दलों ने बहुत हद तक कम कर दिया है।"

(6) अच्छे कानूनों का निर्माण—सत्तारूढ़ दल द्वारा किसी कानून को व्यवस्थापिका में पूर्णतया विचार हुए बिना कानून का रूप प्रदान नहीं किया जा सकता है क्योंकि व्यवस्थापिका में प्रत्येक दल को अपने विचार व्यक्त करने एवं विधेयक की आलोचना करने के लिए पर्याप्त समय देना अनिवार्य होता है।

1. "A modern democratic state without political parties is some what artificial and yet essential unanimity would become a brawling chaos of individual opinion."
—Leacock.

(7) विचारों के बलास—सावेल के अनुसार राजनीतिक दल विचारों के दल रूप में कार्य करते हैं। दल जन इच्छा' को सरकार तक पहुंचाते हैं और सरकार की स विफलता को जनता तक पहुँचाते हैं।

(8) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का रक्षक—राजनीतिक दल वैयक्तिक स्वतंत्रता क रक्षा करते हैं। विरोधी दल सत्तारूढ़ दल की गलतियों का विरोध करते हैं तथा निरंकुश न बनने देने के विरुद्ध सदा चेतावनी देते रहते हैं। लास्की ने ठीक ही लि कि "राजनीतिक दल कैसरशाही से हमारी रक्षा करने में सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।"

(9) राष्ट्रीय एकता—राजनीतिक दलों के कारण देश में राष्ट्रीय एकता की स्थ होती है। प्रांतीयता, जातिवाद, धार्मिक, भाषावाद आदि संकीर्णता को त्याग करके व्य दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

दल पद्धति के दोष
(Demerits of Party System)

दल पद्धति में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें अनेक दोष भी पाये जाते हैं। अमे के संविधान निर्माताओं ने दल पद्धति का विरोध किया है। मार्क्सवादी दलीय प्रजातंत्र विकृत प्रजातंत्र कहते हैं। सर्वोदयवादी इसीलिये दल विहीन सरकार के पक्ष में हैं। सं में इसके दोष निम्नानुसार हैं।

(1) भ्रामक प्रचार—कुछ विद्वानों का मत है कि राजनीतिक दल वास्तविकता खून करते हैं। वे झूठे व्याख्यानों एवं बकवास के द्वारा साधारण एवं भोली-भाली जन को धोखे में डालने की चेष्टा करते हैं। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "राजनीतिक दल प विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के प्रति जनता को प्रभावित क की सदा ही चेष्टा करते रहते हैं और इस प्रकार दल बहुधा वास्तविकता का दमन क और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"

(2) गुटबन्दी को प्रोत्साहन—राजनीतिक दलों के कारण देश कई गुटों में ब जाता है। उनमें परस्पर संघर्ष चलता रहता है जो देश की एकता को आघात पहुँचाता है दल के उत्थान को राष्ट्रीय उत्थान की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। नागरिकों राष्ट्रीय प्रेम के स्थान पर दल गत भावना को प्रोत्साहन दिया जाता है। दल पद्धति केवल व्यवस्थापिका ही नहीं अपितु समस्त देश पारस्परिक विरोधी भावना से ओत-प्रोत हो जाता है जो राष्ट्रीय विकास में बाधक सिद्ध होती है।"

(3) नागरिकों का नैतिक पतन—चुनाव के समय विभिन्न राजनैतिक दल नैतिक एवं अनैतिक सभी प्रकार के साधनों द्वारा अपने-अपने दलों को जनता का समर्थन दिलाते हैं। वे सार्वजनिक जीवन में बेईमानी, भ्रष्टाचार एवं अवसर वादिता को प्रोत्साहित करते हुए सत्य बातों को छिपाकर झूठे लांछन लगाने में नहीं चूकते हैं। दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता को प्रचारित करने के दोषी होते हैं। इससे परस्पर तनाव और विरोधी भावना को बढ़ावा मिलता है।

(4) वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण—राजनीतिक दलों के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण होता है। दल के प्रत्येक सदस्य को अपने स्वयं के विचारों का त्याग करके दल की बातों का समर्थन करना पड़ता है। कई बार अनुशासन के नाम पर दल के योग्य सदस्यों को भी केवल इसलिए निकाल दिया जाता है कि क्योंकि वे अपने व्यक्तिगत विचारों का दल के तुच्छ विचारों के समक्ष त्याग नहीं कर पाते हैं। गिलबर्ट ने लिखा है, "मैंने हमेशा अपने दल के अनुसार मत दिया और स्वयं ने कभी कुछ भी नहीं सोचा।"[1]

(5) राष्ट्रीय हित की उपेक्षा—बहुधा राजनीतिक दल राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से विचार नहीं करके दल की भावना एवं दलहित के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। इस प्रकार दल को उन्नति की दृष्टि में रखकर राष्ट्र के लिए अहितकर कार्य करने वालों तक पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। इससे भ्रष्टाचार को बल मिलता है और राष्ट्र का विकास रुक जाता है।

(6) यंत्रवत् विरोध—गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "दल पद्धति किसी देश के राजनीतिक जीवन को यंत्रवत् बना देती है। इसमें विरोधी दल का एकमात्र उद्देश्य होता है, सत्तारूढ़ दल का विरोध करना। वे शासक दल के हर कदम का अंधाधुन्ध विरोध करते हैं, भले ही वह कदम गलत हो या सही, उपयोगिता और तर्क से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उनका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण हो जाता है कि एक दूसरे का विरोध कर शासन को हथियाना उनका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है।"

(7) स्वार्थियों को प्रोत्साहन—दल पद्धति में स्वार्थी, राजनीतिक साहसियों और अवसरवादियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। ऐसे लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नये-नये दलों का निर्माण करते हैं और जनता को बहकाते हैं। किसी ने कहा है कि "जिस प्रकार हर एक मुर्गा अपने निजी टीले पर खड़ा होना चाहता है उसी प्रकार राजनीतिक अवसरवादी अपने स्वार्थी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ता की तरह जहाँ तहाँ पैदा होता है वहाँ वहाँ की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है।"

(8) पूँजीपति वर्ग का शासन—दल पूँजीपतियों से आर्थिक सहायता लेते हैं जिससे राजनीतिक दलों की शक्ति धनवान व्यक्तियों के हाथों में आ जाती है। राजनैतिक दलों को आर्थिक सहायता देकर पूँजीपति सरकार को नियंत्रित कर लेते हैं और पूँजीपति वर्ग 'अदृश्य सरकार' (Invisible Government) बन जाता है।

(9) शासन योग्य व्यक्तियों की सेवा से वंचित—दल पद्धति के कारण शासन योग्य व्यक्तियों की सेवा से वंचित रह जाता है। क्योंकि बहुत से योग्य व्यक्ति होते हैं परन्तु विरोधी दल के होने के कारण उनकी सेवायें देश को उपलब्ध नहीं हो पाती है। केवल बहुमत दल के सदस्यों को ही मंत्रिमंडल में लिया जाता है।

1. "I always voted at my party call, and never thought of thinking for myself at all." —Gilbert.

(10) अपव्यय—दल पद्धति में बहुत सा समय और धन व्यर्थ की बहस में हो जाता है। यही समय और धन राष्ट्रहित में व्यय किया जाए तो देश बहुत उन्नति सकता है।

(11) अप्रजातांत्रिक संगठन—दलों का आन्तरिक संगठन अप्रजातांत्रिक होता प्रायः प्रत्येक दल पर कुछ नेताओं का नियंत्रण होता है जो जन इच्छा की उपेक्षा मनचाहा निर्णय लेते हैं इस प्रकार दलशाही की आड़ में तानाशाही की स्थापना होती है

दल पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय—निस्संदेह दल पद्धति में अनेक दोष और इन्हीं दोषों को देखते हुए पोप ने तो यहाँ तक कह दिया कि "दल कुछ व्यक्तियों लाभ के लिए अधिक व्यक्तियों का पागलपन मात्र है।" परन्तु इन आलोचनाओं का अभिप्राय नहीं है कि दल पद्धति बेकार है और उसका अन्त कर देना चाहिए अपितु पद्धति प्रजातंत्रीय शासन की सफलता के लिए अनिवार्य है अतः उसके दोषों को दूर क का प्रयत्न किया जाना चाहिए। प्रथम तो दलों का निर्माण राजनीतिक सिद्धान्तों आधार पर होना चाहिए। प्रजातांत्रिक देशों की जनता अशिक्षा और गरीबी से ग्रस्त न होनी चाहिए ताकि वह देश की राजनीतिक समस्याओं और दलों की नीतियों को सम सके। साथ ही पूँजीपति उनके अभावों का लाभ उठाकर उन्हें खरीद न सकें। साथ दलों का व्यापक दृष्टिकोण होना चाहिए। राजनैतिक नेताओं द्वारा दलीय हितों की अपेक्ष राष्ट्रहित को अधिक महत्व देना चाहिए। संकुचित विचारधारा धार्मिक, साम्प्रदायि जातियता, प्रान्तीयता आदि की भावना से ग्रस्त दलों को अवैधानिक ठहरा कर उन प रोक लगा देनी चाहिए। सत्तारूढ़ दल को विरोधी दलों के सुझाव एवं विचारों का भी आवश्यक और उपयुक्त आदर करना चाहिए। सिजविक ने दल पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय बतलाते हुए कहा है कि अध्यक्षात्मक शासन पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रपति का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाना चाहिए तथा कार्यपालिका के कर्मचारियों का पद दलबन्दी के अनुसार नहीं होना चाहिए। संसदीय शासन पद्धति में कानून निर्माण का भार कार्यपालिका के अतिरिक्त धारा सभाओं की अन्य समितियों को भी प्रदान किया जा सकता है। विभागीय अध्यक्षों की नियुक्ति दलीय आधार पर नहीं होनी चाहिए तथा विधायिका सभा के अविश्वास प्रस्ताव के बाद मंत्रिमंडल को पदत्याग करना चाहिए।

दबाव का समूह तथा गोष्ठीकक्ष में प्रभावित करना
(Pressure groups and Lobbying)

दबाव समूह कोई राजनीतिक दल नहीं है अपितु विशिष्ट हितों से सम्बन्धित व्यक्तियों के ऐसे समूह हैं जो विधायकों को प्रभावित कर अपने हित विशेषों की प्राप्ति करते हैं। इनका न कोई निश्चित कार्यक्रम होता है और न ये अपने विधायक खड़े करते हैं अपितु येन केन प्रकारेण स्वार्थ सिद्धि ही इनका मुख्य ध्येय होता है। प्रो. मदन गोपाल गुप्ता ने लिखा है, "दबाव समूह वास्तव में ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।" आडीगार्ड ने भी इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, "एक दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों का औपचारिक संगठन है जिनके एक

अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य अथवा स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा और वृद्धि कर सकें।" जनतंत्रीय प्रणाली वाले देशों में इसका अधिक प्रचलन है क्योंकि वहाँ पर स्वतंत्र ऐच्छिक समुदाय बनाने का सभी नागरिकों को अधिकार होता है। अमेरिका में ऐसे समुदायों के सदस्यों को लॉबिस्ट्स (Lobbyists) कहा जाता है। प्रत्येक विधायक भवन के संलग्न कमरे अथवा बरामदे को लाबी कहते हैं जहाँ पर अवकाश के समय विधायक आकर बैठते हैं और वहीं पर ये लॉबिस्टस् उन्हें अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करते हैं।

दबाव समूहों का महत्व—प्रारम्भ में इनका महत्व नहीं था बल्कि इन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। फैड्रिक के अनुसार, "क्या कूड़ा ढोने वाले और क्या राजनीति शास्त्र के गम्भीर छात्र सभी इन दबाव समूहों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।" परन्तु अब स्थिति में परिवर्तन आया है और इन्हें आवश्यक मान लिया गया है। चर्चिल ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है, "हमसे यह आशा नहीं की जाती कि हम सब एक शालीन सभा के सदस्य हैं जिनका अपना कोई विशिष्ट हित नहीं है। यह हास्यास्पद है। ऐसा केवल स्वर्ग में ही संभव हो सकता है, यहाँ पर नहीं।" ये समूह संसद सदस्यों का चुनावों में समर्थन करते हैं। उनके चुनावों में पैसा खर्च करते हैं और सदस्य चुने जाने पर वे भी इनके हितों की सुरक्षा करते हैं। इतना ही नहीं कुछ राजनैतिक दलों को विदेशी सहायता भी मिलती है ताकि वे अपने हितों की सुरक्षा कर सकें। एक विद्वान द्वारा इन्हें व्यवस्थापिका के पीछे की व्यवस्थापिका (Legislature behind Ligilasture) भी कहा है क्योंकि ये समूह कानून बनाने वाले सदस्यों पर पीछे की ओर से दबाव डालकर अपनी इच्छा एवं अपने हित का कानून बनवाने का प्रयास करते हैं।

दबाव समूहों के उदाहरण—दबाव समूह अनेक प्रकार के होते हैं जो कुछ अपने आकार के कारण तो कुछ सम्पन्नता के आधार पर दबाव समूहों का रूप धारण कर लेते हैं। अमेरिका के दबाव समूह

(1) चेम्बर आफ कामर्स अथवा उत्पादकों का राष्ट्रीय समूह
(2) अमेरिकी महाजनों का संघ (American Bankers assocation)
(3) राष्ट्रीय पैट्रोलियम संघ (National Petrolium Association)
(4) अमेरिकन फार्म ब्योरो एसोसियशन
(American form Bureau Association)
(5) अमेरिकन श्रमिक संघ (American Federation of Labour)
(6) अमेरिकन लीजन (American Legion)
(7) अमेरिकन वेटर्न्स कमेटी (American Veterans Committee)

(8) अमेरिकन एसोसियशन ऑफ रेलवे एक्जिक्यूटिव
(The American Association of Railway Executive)
(9) अमेरिकन मेडिकल एसोसियशन
(American Medical Association)

ब्रिटेन में दबाव समूहों के कुछ उदाहरण

(1) नेशनल फार्मेस यूनियन
(2) फेबियन सोसाइटी
(3) नेशनल यूनियन आफ माइन वर्कर्स
(4) ट्रान्सपोर्ट और जनरल वर्कर्स यूनियन
(5) इलैक्ट्रीकल ट्रेडर्स यूनियन

भारत में दबाव समूहों के प्रमुख उदाहरण

(1) ट्रेड यूनियन कांग्रेस
(2) अखिल भारतीय शिक्षक संघ
(3) भारतीय चिकित्सा संघ
(4) अखिल भारतीय अभियंता संघ
(5) चेम्बर आफ कामर्स
(6) कान्कॉर्ड आफ प्रिंसेज
(7) डालमिया जैन उद्योग संघ
(8) फिल्म उद्योग संघ

दबाव समूहों के तरीके
(Technigue of Pressure group)

विधायकों को अपनी ओर प्रभावित करने के लिए इन दबाव समूहों के द्वारा अनेक तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं इनमें से मुख्यतः निम्नलिखित हैं।

(1) प्रचार—प्रकाशन, पत्र-पत्रिकायें, आकाशवाणी, भाषण आदि।

(2) विशेषज्ञों की सेवाएँ—ये समूह विशेषज्ञों को अपनी सेवाओं में रखते हैं जो उन विषयों में सामग्री इकट्ठी करके विधायकों को अपने प्रभाव में लेते हैं।

(3) लाबीइंग—विधायकों से उनके अवकाश के क्षणों में सम्पर्क स्थापित करके उन्हें अपने प्रभाव में लेते हैं।

(4) निर्वाचनों में सक्रिय भाग—अपने हित समर्थक सदस्यों की चुनावों में सहायता व समर्थन करके।

(5) राजनैतिक दलों में कार्य—राजनैतिक दलों में भाग लेकर भी ये अपने हितों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

(6) विरोधी रुख अपनाकर—हड़तालें एवं हिंसात्मक कार्यवाइयों का सहारा लेकर भी दबाव समूह अपने हितों का समर्थन प्राप्त करते हैं।

दबाव समूह तथा राजनैतिक दल में अन्तर

(1) दबाव समूह की अपेक्षा राजनैतिक दल अधिक व्यापक होते हैं।

(2) दबाव समूहों की अपेक्षा राजनैतिक दलों का व्यापक दृष्टिकोण होता है।

(3) दबाव समूह की अपेक्षा राजनैतिक दल का प्रभाव जनता पर अधिक पड़ता है।

(4) राजनैतिक दलों के समान दबाव समूह सीधा चुनाव नहीं लड़ते हैं।

दबाव समूह तथा लाबीइंग में अन्तर

(1) दबाव समूहों का क्षेत्र लाबीइंग की अपेक्षा व्यापक होता है। वे व्यवस्थापिका और लोकमत दोनों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं जबकि लाबीइंग का कार्यक्षेत्र व्यवस्थापिका तक ही सीमित रहता है।

(2) लाबी दबाव समूह का एक साधन मात्र है जो विधायकों को प्रभावित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

अध्याय 12

जनमत

(Public Opinion)

(1) जनमत का अर्थ और परिभाषा
(2) जनमत का महत्त्व
(3) जनमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति के साधन
(4) स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाएँ
(5) स्वस्थ जनमत के लिये आवश्यक शर्तें

प्रजातंत्र में सम्प्रभुता जनता में निवास करती है अतः सरकार का उत्तरदायित्व जनइच्छा को ही कार्यान्वित करना होता है। जन इच्छा के संगठित रूप को ही जनमत कहते हैं। अतः प्रजातंत्र को जनमत पर आधारित सरकार कहा गया है। इतना होने पर भी जनमत की परिभाषा देना सरल कार्य नहीं है इसीलिए एक विद्वान् ने कहा है कि "जनमत एक ऐसा शब्द है कि इसकी परिभाषा देने के बजाए इसका अध्ययन होना चाहिए।" फिर भी इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की परिभाषा दी है।

जनमत का अर्थ और परिभाषा—

जनमत की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा निम्नानुसार है।

प्रो. सेठी के शब्दों में, "जनमत उसे कहते हैं जो विवेक और स्वार्थ रहित बुद्धि के आधार पर अवलंबित हो और जिसका लक्ष्य किसी जाति या वर्ग विशेष का हित नहीं अपितु सारे समाज का हित हो।"[1]

प्रो. अम्बादत्त पंत के अनुसार—"जनमत समाज में बहुसंख्यकों का मत है जिसको अल्प संख्यक भी अपने हितों के विरुद्ध नहीं समझते।"[2]

डा. बेनीप्रसाद के अनुसार—"यदि बहुसंख्या अल्प संख्या की भलाई ध्यान में नहीं रखकर कोई मत स्थिर करती है तो उसे जनमत नहीं कहते। हम उस मत को ही जनमत कहते हैं जो सारे समाज के उत्थान के लिए हो।"[3]

ब्राइस—"जनमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योग मात्र है जो वे सार्वजनिक हित से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।"[4]

सामान्य बोलचाल में जनमत का अभिप्राय सामूहिक मत से है अर्थात् समस्त जनता का मत ही जनमत है। परन्तु व्यवहार में किसी भी प्रश्न पर समस्त जनता का एकमत होना प्रायः असंभव है। कुछ का इससे अभिप्राय बहुमत से है परन्तु यह धारणा भी उचित नहीं है क्योंकि यदि बहुमत अल्पमत के विरुद्ध होता है तो कभी कभी उससे उसको अहित भी हो सकता है। अतः जनमत का अभिप्राय न तो एकमत से है और

---

1. "Public opinion may be defined as the views held by the people in general on questions relating to common welfare." —Prof. Sethi.
2. "Public opinion is the will of the majority in the society which is not considered contrary to their interests even by the minority." —Prof. A. D. Pant.
3. "If the majority expresses on opinion ignoring the welfare of the minority, that will not be considered public opinion. We call that opinion only as Public which is for the uplift of the whole society." —Dr Beni Prasad.
4. "Public opinion is the aggregate of the views men hold regarding matters that affect or interest the Community." —Lord Bryce.

न बहुमत से अपितु, जनमत का अर्थ सार्वजनिक हित से है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति का मत भी जनमत कहला सकता है। लॉवेल ने लिखा है, "जनमत के लिए बहुमत पर्याप्त नहीं होता और न सर्वसम्मति ही आवश्यक होती है। कोई भी मत जनमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा होना चाहिए जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो परन्तु वह भी उसे भय के कारण नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास के कारण स्वीकार करता हो।"[1]

अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि जनमत व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की अपेक्षा राष्ट्र का हित साधक होता है। अतः जनमत के निम्नलिखित लक्ष्य होते हैं।

(1) जनमत तर्क और विवेक पर आधारित होने के कारण उसमें स्थायित्व होता है।

(2) वह व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की अपेक्षा सर्वसाधारण का मत होता है।

(3) उसका उद्देश्य व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के हित साधन की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का हित साधन होता है।

(4) वह बहुमत का मत होते हुए भी अल्पमत के विरुद्ध नहीं होता है।

जनमत का महत्व
(Importance of Public opinion)

जनमत और प्रजातंत्र में अभिन्न सम्बन्ध है। बल्कि जनमत के शासन का नाम ही प्रजातंत्र है। ग्रीन ने लिखा है कि, "इच्छा राज्य का आधार है, शक्ति नहीं।"[2] ह्यूम ने तो सरकार के सभी स्वरूपों की आधार शिला जनमत को ही बतलाते हुए लिखा है कि, "सभी सरकारें चाहे वे कितनी बड़ी क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए जनमत पर ही निर्भर करती है।" गैसेट ने लिखा है, "जनमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को अपने शासन का मौलिक आधार मान कर धरती पर कभी कोई शासन नहीं कर सकता है।"[3]

प्रजातंत्र प्रायः अप्रत्यक्षरूप से कार्य करता है अर्थात् जनता स्वयं शासन न करके अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों को शासन कार्य सौंप देती है। इस प्रकार सम्प्रभुता दो भागों में विभाजित हो जाती है, एक राजनैतिक सम्प्रभुता जो जनता में निहित रहती है और दूसरी वैधानिक सम्प्रभुता जो शासक वर्ग में निहित रहती है। इन दोनों के बीच जनमत ही सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् जनता अपनी इच्छा व्यक्त करती है और शासकवर्ग उसे कार्यरूप में लागू करता है। किसी ने ठीक कहा है कि "वैधानिक राजसत्ता तथा अन्तिम राजनीतिक राजसत्ता के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करना ही जनमत का सच्चा कर्तव्य है।" जनमत शासक वर्ग को नियंत्रित करता है। उसे समय समय पर उचित

1. "A majority is not enough, and unanimity is not required, but the opinion must be such that while the minority may not share it, they feel bound by conviction and not by fear, to accept it." —Lowell.
2. "Will, not force, is the basis of the state." —Green.
3. "Never has any one ruled on earth by basing his rule essentially on any other thing than public opinion." —Gasset.

निर्देशन देकर निरंकुश होने से रोकता है। परन्तु सभी प्रकार का जनमत इस श्रेणी में नहीं आता है। सुविज्ञ, सुस्पष्ट और विस्तृत जनमत का ही प्रजातंत्र में आदर होता है।

प्रजातंत्र में जनमत सरकार के लिए एक ज्योति-स्तम्भ है क्योंकि यह सरकार का प्राण समझा जाता है। वस्तुतः प्रजातंत्र में जनता की आवाज़ ही परमात्मा की आवाज समझी जाती है और जो सरकार उसके अनुसार कार्य नहीं करती है, अगले निर्वाचन में परास्त हो जाती है। प्रजातंत्र में ही नहीं, अपितु राजतंत्र और तानाशाही में भी शासक वर्ग को जनमत का उचित ध्यान रखना पड़ता है।

जनमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति के साधन
(Agencies for the formulation of Expression Public opinion)

(1) समाचार पत्र—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी प्रकार के समाचारों को प्रकाशित करके साधारण जनता तक पहुँचाने का कार्य समाचार पत्रों का ही है। सरकार के कार्यों की आलोचना अथवा समर्थन करके राजनीतिक समस्याओं को जनता के समक्ष रखना समाचार पत्रों का ही कार्य है। विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने अमूल्य विचार देकर समाचार पत्र आम जनता की उदासीनता को समाप्त कर उसमें राजनैतिक चेतना उत्पन्न करते हैं तथा उसे एक निश्चित जनमत निर्धारण का भी अवसर प्रदान करते है। वे जनता की बात सरकार तक और सरकार की बात जनसाधारण तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। अर्थात् वे जनता और सरकार के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। औद्योगिक युग के व्यस्त जीवन में समाचार पत्र आवश्यक अंग बन गये हैं। समाचार पत्रों द्वारा सफलतापूर्वक अपने कर्तव्य पालन का एकमात्र कारण सरकारी अंकुश से मुक्त होना ही है। तानाशाही शासन में सर्वप्रथम समाचार पत्रों की स्वतंत्रता ही छीनी जाती है ताकि वे उसकी कमियों को जनता के सम्मुख रखकर जनमत को उसके विरुद्ध नहीं बना सकें। सही लोकतंत्र वही है जिसमें समाचार पत्रों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। विलकी ने ठीक लिखा है कि, "समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता ही एक सच्चे लोकतंत्र का जीवन है।"[1] लिपमैन ने तो लोकतंत्र में समाचार पत्रों के महत्त्व को व्यक्त करते हुए उन्हें लोकतंत्र का धर्मग्रंथ (Bible of Democracy) कहा है। क्योंकि अच्छे समाचार पत्र प्रजातंत्र के ज्योति-स्तम्भ (Light house) का कार्य करते हैं। परन्तु जनमत का सफल संचालन वे तभी कर सकते हैं जब वे स्वतंत्र, न्याययुक्त और पक्षपात रहित हों और तभी वे किसी देश के लिए वरदान सिद्ध हो सकते हैं।

(2) सार्वजनिक सभायें—सार्वजनिक सभाओं का भी जनमत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। समाचार पत्रों का तो शिक्षित वर्ग तक ही प्रभाव रहता है जबकि सार्वजनिक सभाएँ अशिक्षित वर्ग में भी राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर देती हैं। इनमें सरकारी नीतियों एवं सार्वजनिक समस्याओं पर योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों के व्याख्यानों द्वारा प्रकाश डाला जाता है जिससे जनमत के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

1. "Freedom of the press is the stuff of life for any vital democracy." W. Wilkie.

(3) राजनीतिक साहित्य—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक राजनीति के व्यापक प्रचार के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का प्रकाशन किया जाता है। इससे भी जनमत निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(4) राजनीतिक दल—जनमत निर्माण में राजनैतिक दलों का हाथ कम महत्वपूर्ण नहीं है। लास्की ने ठीक लिखा है, "वह (राजनीतिक दल) सभाएं एवं अधिवेशन आयोजित करता है तथा जनता को शिक्षित करने का प्रयास करता है। वह अपने एजेन्ट, व्याख्यानदाता एवं प्रचारक नियुक्त करता है। स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखता है।"[1] राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा नीतियों के प्रचार द्वारा जनमत का निर्माण करते हैं। गेटेल ने लिखा है, "राजनीतिक दल अपने स्वार्थों के समर्थन के लिए जनमत को आकर्षित करने के उद्देश्य से विस्तृत विचार-संघर्ष करते हैं। अपने दृष्टिकोण के अनुकूल समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के प्रयोग के अतिरिक्त वे दल के रंगमंच पाठ्य पुस्तकों तथा प्रलेखों, लघु-पुस्तकों, विज्ञापन-पत्रों एवं अन्य रूपों में प्रस्तुत विचारों की भरमार कर देते हैं।"

(5) रेडियो और टेलीविजन—विचारों के प्रसार और जनमत के निर्माण में रेडियो और टेलीविजन भी महत्वपूर्ण साधन है। इससे अशिक्षित व्यक्तियों को भी लाभ मिलता है। इससे मनोविनोद तो होता ही है साथ ही समाचार भी सुनने को मिलते हैं जिनका स्थायी और व्यापक प्रभाव पड़ता है। ये साधन जनता को सार्वजनिक समस्याओं से अवगत कराते हैं और जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

(6) निर्वाचन—आम चुनावों के समय विभिन्न राजनीतिक दल जनता के समक्ष अपनी नीति रखते हैं और अपने सिद्धान्तों को जनता को समझाकर उसका समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। निर्वाचन के समय विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा जो प्रचार एवं सत्तारूढ़ दल की आलोचना की जाती है उससे नागरिकों को राजनीतिक समस्यायें सुलझाने का अवसर मिलता है।

(7) व्यवस्थापिका सभा—व्यवस्थापिका सभाओं में विभिन्न राजनीतिक दलों एवं वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। जिस समय कोई विधेयक प्रस्तुत होता है उस समय वाद विवाद द्वारा विभिन्न दल अपने अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। व्यवस्थापिका में हुआ वाद विवाद जनमत के निर्माण में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। प्रत्येक समाचार पत्र उसे छापता है और जनता उसे बड़ी रूचि से पढ़ती है।

(8) धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं—धर्म मानव जीवन का विशिष्ट पहलू है। इसका मनुष्य जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता हैं। अतः धार्मिक विचारधारा का प्रभाव मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विचारधाराओं पर भी पड़ता है। सांस्कृतिक संगठन भी विचारों को प्रभावित करते है। इस प्रकार इनसे भी लोक चेतना जागृत होती है। और जनमत प्रभावित होता है।

---

1. "It (Political Party) holds meetings and organizes educational classes. It employees agents, speakers and convassers It raises funds for its activity. It seeks to permeate the local and the national press and propaganda." —Laski

(9) अफवाहें—जनता के विचारों को प्रभावित करने में अफवाहों का भी बड़ा हाथ है। अफवाह का आधार सर्वदा स्वार्थ सिद्धि होता है अतः कई बार गलत अफवाहें फैलाकर अचानक लाभ उठा लिया जाता है। इस प्रकार अफवाह भी जनमत निर्माण में सहायक होती है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाएं

(Hindrances to the Creation of Sound Public Opinion)

राजतंत्र और तानाशाही में तो स्वतंत्र जनमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के मार्ग में अनेकों बाधाएं होती हैं परन्तु प्रजातंत्र में भी सही एवं स्वस्थ जनमत के निर्माण में कुछ बाधायें होती हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन हम आगे कर रहे हैं:–

(1) निरक्षरता (Illiteracy)—स्वस्थ जनमत के मार्ग में यह सबसे बड़ी रुकावट है। शिक्षा के कारण बुद्धि और ज्ञान का विकास होता है जबकि निरक्षरता के कारण अच्छे और बुरे का भेद करने की योग्यता का अभाव होता है।

(2) दलीय समाचार-पत्र (Party Newspapers)—राजनैतिक दलों द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्र प्रायः पक्षपात पूर्ण समाचार देते हैं जिसके कारण वे सत्य के प्रचार में बाधक होते हैं। अतः उनसे सही जनमत के निर्माण की सम्भावना संदिग्ध ही है।

(3) राजनैतिक दलों का निर्माण गलत सिद्धांतों पर होना (Wrong Basis of Political Parties)—अनेकों बार जब राजनैतिक दलों का निर्माण विशुद्ध राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों पर न होकर धार्मिक या जातीय आधार पर होता है तो ऐसे दल जनता की धार्मिक या जातीय भावनाओं को भड़का कर वातावरण को दूषित करते हैं जिसके कारण साम्प्रदायिक दंगे आदि होते हैं और वैमनस्य व द्वेष का वातावरण उत्पन्न होता है।

(4) नागरिक जीवन के प्रति उदासीनता और राजनैतिक चेतना का अभाव (Indifference towards Civic life and Lack of Political Consciousness)—अनेकों नागरिक अपने व्यक्तिगत जीवन में इतने मस्त और व्यस्त रहते हैं कि उनकी सार्वजनिक जीवन के प्रति अरुचि सी रहती है। अतः उनमें राजनैतिक चेतना का अभाव होता है तब फिर उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सार्वजनिक समस्याओं को सुलझाने में अपना भाग ले सकेंगे।

(5) बुरी शिक्षा प्रणाली (Defective Educational System)—बुरे साहित्य एवं कुशिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों द्वारा भी संकुचित विचारों का प्रचार किया जाता है। ऐसी शिक्षा प्रणाली जो साम्प्रदायिकता या प्रांतीयता की संकीर्ण भावनाओं को फैलाने का कार्य करती है, दूषित है और सच्चे जनतंत्र के मार्ग में बाधक है।

(6) निर्धनता (Poverty)—निर्धनता भी एक बड़ी भारी रुकावट है जिसके कारण एक व्यक्ति सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार नहीं कर सकता है। 'भूखे भजन न होय गोपाला' की कहावत के अनुसार भूखे पेट व्यक्ति का भगवान की भक्ति में भी मन नहीं लगता है

(3) राजनीतिक साहित्य—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक राजनीति के व्यापक प्रचार के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का प्रकाशन किया जाता है। इससे भी जनमत निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(4) राजनीतिक दल—जनमत निर्माण में राजनीतिक दलों का हाथ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लास्की ने ठीक लिखा है, "वह (राजनीतिक दल) सभाएं एवं अधिवेशन आयोजित करता है तथा जनता को शिक्षित करने का प्रयास करता है। वह अपने एजेन्ट, व्याख्यानदाता एवं प्रचारक नियुक्त करता है। स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखता है।"[1] राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा नीतियों के प्रचार द्वारा जनमत का निर्माण करते हैं। मैटेल ने लिखा है, "राजनीतिक दल अपने स्वार्थों के समर्थन के लिए जनमत को आकर्षित करने के उद्देश्य से विस्तृत विचार-संघर्ष करते हैं। अपने दृष्टिकोण के अनुकूल समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के प्रयोग के अतिरिक्त ये दल के रंगमंच पाठ्य पुस्तकों तथा प्रलेखों, लघु-पुस्तकों, विज्ञापन-पत्रों एवं अन्य रूपों में प्रस्तुत विचारों की भरमार कर देते हैं।"

(5) रेडियो और टेलीविज़न—विचारों के प्रसार और जनमत के निर्माण में रेडियो और टेलीविजन भी महत्त्वपूर्ण साधन है। इससे अशिक्षित व्यक्तियों को भी लाभ मिलता है। इससे मनोविनोद तो होता ही है साथ ही समाचार भी सुनने को मिलते हैं जिनका स्थायी और व्यापक प्रभाव पड़ता है। ये साधन जनता को सार्वजनिक समस्याओं से अवगत कराते हैं और जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

(6) निर्वाचन—आम चुनावों के समय विभिन्न राजनीतिक दल जनता के समक्ष अपनी नीति रखते हैं और अपने सिद्धान्तों को जनता को समझाकर उसका समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। निर्वाचन के समय विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा जो प्रचार एवं सत्तारूढ़ दल की आलोचना की जाती है उससे नागरिकों को राजनीतिक समस्यायें सुलझाने का अवसर मिलता है।

(7) व्यवस्थापिका सभा—व्यवस्थापिका सभाओं में विभिन्न राजनीतिक दलों एवं वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। जिस समय कोई विधेयक प्रस्तुत होता है उस समय वाद विवाद द्वारा विभिन्न दल अपने अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। व्यवस्थापिका में हुआ वाद विवाद जनमत के निर्माण में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। प्रत्येक समाचार पत्र उसे छापता है और जनता उसे बड़ी रूचि से पढ़ती है।

(8) धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं—धर्म मानव जीवन का विशिष्ट पहलू है। इसका मनुष्य जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः धार्मिक विचारधारा का प्रभाव मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विचारधाराओं पर भी पड़ता है। संगठन भी विचारों को प्रमावित करते है। इस प्रकार इनसे भी लोक है। और जनमत प्रभावित होता है।

1. "It (Political Party) holds meetings and organizes ployees agents, speakers and convassers. It raises to permeate the local and the national press

अध्याय 13

स्थानीय स्वशासन

(Local Self Government)

1. स्थानीय स्वशासन का अर्थ
2. स्थानीय स्वशासन का महत्त्व
3. स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्य
4. स्थानीय स्वशासन के आय के साधन
5. स्थानीय संस्थाओं का संगठन
6. स्थानीय स्वशासन की समस्याएं

तब फिर सार्वजनिक प्रश्नों पर ध्यान कैसे दिया जा सकता है क्योंकि ऐसे व्यक्ति को सदैव अपने भरण पोषण की ही चिन्ता सताती रहती है।

स्वस्थ जनमत के लिये आवश्यक शर्तें (Conditions for the Formulation of Sound Public Opinion)—स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाओं के उपरोक्त विवरण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु निम्न शर्तें आवश्यक हैं:-

1. शिक्षित जनता
2. निष्पक्ष समाचार-पत्र
3. आदर्श शिक्षा प्रणाली
4. निर्धनता और साम्प्रदायिकता का अन्त
5. राजनैतिक दलों का आर्थिक और राजनैतिक सिद्धांतों पर निर्माण होना
6. नागरिकों में राजनैतिक जागृति और कर्तव्य पालन की भावना

---

(2) जान. जे. क्लार्क—स्थानीय सरकार एक राष्ट्र अथवा राज्य की सरकार का वह भाग होता है जो मुख्य रूप से ऐसे विषयों पर विचार करती है जिनका सम्बंध एक विशेष जिले अथवा स्थान के लोगों से होता है। साथ ही साथ वह उन विषयों पर भी विचार करती है जिन्हें संसद द्वारा इनके माध्यम से प्रशासित होने के लिए निश्चित कर दिया जाता है।

(3) कार्ल जे. फेड्रिक—स्वराज्य सरकार स्थानीय समाज की वह प्रशासकीय व्यवस्था है जो व्यवस्थापन के नियमों द्वारा इस प्रकार विनियमित होती है कि सरकार की सत्ता का उस समय प्रतिनिधित्व हो जबकि वह स्थानीय रूप से सक्रिय हो।

(4) मॉंटेग्यू हैरिस—स्वायत्त शासन एक ऐसा शासन है जो अपने सीमित क्षेत्र में प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करते हैं।

(5) जी.डी. एच. कोल—स्थानीय स्वशासन वह शासन है जिसमें नगर या गांव के रहने वाले स्थानीय लोगों को उनकी स्थानीय समस्याओं को उनकी इच्छानुसार हल करने का प्रयोग करते हैं।

(6) विलकाइस्ट—ये अधीन संस्थाएं हैं लेकिन एक सीमित क्षेत्र में इन्हें कार्य की स्वतंत्रता है।

(7) डा. आशीर्वादम्—स्थानीय शासन केन्द्रीय सरकार के अधिनियमों द्वारा निर्मित एक ऐसी शासकीय इकाई है जिसमें नगर या गांव जैसे एक क्षेत्र की जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं जो अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग लोक कल्याण के लिए करती है।

इस प्रकार स्थानीय स्वशासन से अभिप्राय स्थानीय संस्थाओं की स्थापना से है जिनका निर्माण स्थान विशेष के लिए किया जाता है। साथ ही उनमें स्थानीय समस्याओं के हल करने और स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग स्थानीय प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है।

स्थानीय स्वशासन का महत्व
(Importance of Local Self Government)

स्थानीय स्वशासन का प्रजातन्त्र की सफलता में बहुत बड़ा योगदान है। अतः इनका महत्व निम्नांकित रूप से व्यक्त किया जा सकता है।

(1) प्रजातन्त्र का आधार—प्रजातंत्र जनता का शासन है जिसमें जनता के प्रतिनिधि जनता के लिए कार्य करते हैं। परन्तु यह तभी सफल हो सकता है जबकि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए। यह कार्य स्वायत्त शासन के द्वारा ही पूरा किया जाता है। डी. टाकविल ने लिखा है कि "स्थानीय संस्थाएं प्रजातन्त्र के लिए उतनी ही आवश्यक है जितने कि प्राथमिक विद्यालय विज्ञान के लिए।"[1] लास्की ने लिखा है कि "कोई भी लोक-

[1] "Local Institutions are to democracy, what Primary Schools are to science." —Dr Toqueville.

मनुष्य के शरीर में जो महत्वपूर्ण कार्य मस्तिष्क का है वही कार्य राज्य में स्थानीय स्वशासन का है, क्योंकि इसके द्वारा नागरिकों को स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने तथा स्थानीय समस्याओं को हल करने का अवसर मिलता है। यदि किसी राज्य को श्रेष्ठ राज्य बनाना है तो आवश्यक है कि उसमे जनता की इच्छा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। इस कार्य के लिये आवश्यक है कि स्थानीय स्वायत्त शासन को अधिकाधिक बढ़ाया जाए। स्थानीय स्वायत्त शासन द्वारा ही राज्य अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अच्छी प्रकार से कर सकता है।

स्थानीय शासन की कारवाइयों से ही राज्य का जीवन पोषित होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसके बिना जन जीवन को सुविधा जनक बनाने में केन्द्रीय शासन का महत्त्व नही .हीं है। फिर भी इन शासन संस्थाओं के बिना कोई भी राज्य अपनी उन्नति करने में पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकता है। इसलिए जन जीवन के सुख और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी राज्य स्वशासन पर बल देते हैं और धन आदि की सहायता देकर उसे पोषित करते हैं। वे समय समय पर उसमें सुधार भी करते हैं ताकि सभी लोग अधिकाधिक सुखी बनें।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Local Self Government)

स्थानीय स्वशासन का अभिप्राय यह है कि स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन वहाँ के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाए। प्रशासनिक शक्ति केन्द्रीयभूत हो जाने से *स्थानीय सुविधाओं को विशेष ध्यान में रखकर स्वायत्त शासन के अन्तर्गत शासनिक शक्तियों* का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाता है। इस प्रकार उनको निश्चित अधिकार और सीमित स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाती है। इसका अर्थ स्पष्ट होते हुए भी भ्रमोत्पादक है अतः इसकी परिभाषा देने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रो. गिलक्राइस्ट ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि स्थानीय स्वशासन' शब्द को इसके विविध अर्थों के कारण परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता है। संघात्मक शासन प्रणाली में राज्य सरकारें भी इसी श्रेणी में आती हैं। व्यापक दृष्टि से देखें तो केन्द्रीय सरकार को छोड़कर सभी सरकारें इसी कोटि में आती है। दूसरा, इसकी परिभाषा देने मे यह कठिनाई आती है कि प्रत्येक देश में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। फिर भी कुछ विद्वानों ने इसकी परिभाषा दी है जो अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं।

(1) गोल्डिंग—स्थानीय सरकार को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है किन्तु संभवतः इसकी सबसे सरल परिभाषा यही है कि एक बस्ती के लोगों द्वारा अपने मामलों का स्वयं ही प्रबन्ध किया जाए।

(2) जान. जे. क्लार्क—स्थानीय सरकार एक राष्ट्र अथवा राज्य की सरकार का वह भाग होता है जो मुख्य रूप से ऐसे विषयों पर विचार करती है जिनका सम्बंध एक विशेष जिले अथवा स्थान के लोगों से होता है। साथ ही साथ वह उन विषयों पर भी विचार करती है जिन्हें संसद द्वारा इनके माध्यम से प्रशासित होने के लिए निश्चित कर दिया जाता है।

(3) कार्ल जे. फेड्रिक—स्वराज्य सरकार स्थानीय समाज की वह प्रशासकीय व्यवस्था है जो व्यवस्थापन के नियमों द्वारा इस प्रकार विनियमित होती है कि सरकार की सत्ता का उस समय प्रतिनिधित्व हो जबकि वह स्थानीय रूप से सक्रिय हो।

(4) मोंटेग्यू हैरिस—स्वायत्त शासन एक ऐसा शासन है जो अपने सीमित क्षेत्र में प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करते हैं।

(5) जी.डी. एच. कोल—स्थानीय स्वशासन वह शासन है जिसमें नगर या गांव के रहने वाले स्थानीय लोगों को उनकी स्थानीय समस्याओं को उनकी इच्छानुसार हल करने का प्रयोग करते हैं।

(6) गिलक्राइस्ट—ये अधीन संस्थाएं हैं लेकिन एक सीमित क्षेत्र में इन्हें कार्य स्वतंत्रता है।

(7) डा. आशीर्वादम्—स्थानीय शासन केन्द्रीय सरकार के अधिनियमों द्वारा निर्मित एक ऐसी शासकीय इकाई है जिसमें नगर या गांव जैसे एक क्षेत्र की जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं जो अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग लोक कल्याण के लिए करती है।

इस प्रकार स्थानीय स्वशासन से अभिप्राय स्थानीय संस्थाओं की स्थापना से जिनका निर्माण स्थान विशेष के लिए किया जाता है। साथ ही उनमें स्थानीय समस्याओं के हल करने और स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग स्थानीय प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है।

स्थानीय स्वशासन का महत्व
(Importance of Local Self Government)

स्थानीय स्वशासन का प्रजातन्त्र की सफलता में बहुत बड़ा योगदान है। अतः इसका महत्व निम्नांकित रूप से व्यक्त किया जा सकता है।

(1) प्रजातन्त्र का आधार—प्रजातंत्र जनता का शासन है जिसमें जनता के प्रतिनिधि जनता के लिए कार्य करते हैं। परन्तु यह तभी सफल हो सकता है जबकि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए। यह कार्य स्वायत्त शासन के द्वारा ही पूरा किया जाता है। डी. टाकविल ने लिखा है कि "स्थानीय संस्थाएं प्रजातन्त्र के लिए उतनी ही आवश्यक जितने कि प्राथमिक विद्यालय विज्ञान के लिए।"[1] लास्की ने लिखा है कि "कोई भी लो

1 "Local institutions are to democracy, what Primary Schools are to science."
—Dr Toqueville

तंत्र स्थानीय हित की उपेक्षा कर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। सार्थक होने की बात तो दूर रही, यदि एक जिले के निवासी स्वयं अपना प्रशासन चलायें, तो यह अत्यंत न्यायपूर्ण होगा। जिस धन को वे कर के रूप में देते हैं उस पर उन्हीं का अधिकार होना चाहिए। स्थानीय सरकारें प्रशासन में कार्य कुशलता एवं मितव्ययता उत्पन्न करती हैं। इनका कहना है कि जितनी दूर राजनैतिक निकाय होगा उतनी ही सम्भावनायें भ्रष्टाचार की बढ़ जायेगी। स्थानीय संस्थायें नौकर शाही के दोषों से मुक्त रहती हैं।" फाइनर स्थानीय स्वशासन को विकेन्द्रीकरण का उत्तम साधन बतलाते हुए लिखा है कि, "केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को रोकने के लिए स्थानीय स्वशासन सबसे उत्तम साधन है। इनसे सरकार के रूप एवं व्यवहार में उदारता तथा लोचशीलता आती है। स्थानीय शासन निश्चय रूप में केन्द्रीकरण के बढ़ते हुए खतरे के प्रति प्रतिक्रिया है। जनसम्पर्क, जो कि लोकतंत्र की आधारशिला है, सबसे अच्छा तरह इसी के सहारे पनप सकता है। व्यय में सचमुच मितव्ययता का साधन भी है। इनके अनुसार स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था द्वारा कठोर स्तरीकरण, नियमबद्धता तथा औपचारिकता समाप्त हो जाती है। इनसे जनता में आतंक, घृणा तथा विध्वंस की प्रवृत्ति का उन्मूलन होता है।" पं. नेहरू ने इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "स्थानीय स्वशासन लोकतंत्र की सच्ची पद्धति का आधार है और होना भी चाहिए। हमें प्रायः लोकतंत्र को सच्ची पद्धति की ऊपरी तरफ से सोचने की आदत पड़ गई है और हम नीचे की तरफ से लोकतंत्र के बारे में कुछ सोचते ही नहीं हैं, लोकतन्त्र शायद ही ऊपर से सफल न हो जब तक कि आप उसे नीचे से इस बुनियाद पर नहीं बनायेंगे।" प्रो. क्रूगी ने लिखा है कि "हम लोकतंत्र के सार को खो देते हैं यदि हम उसके सम्बन्ध में यह विचार करें कि यह दूर केन्द्र में नेताओं की वस्तु है।" अन्त में हम मोर्टेग्यू हैरिस के शब्दों मे कह सकते है कि अत्यधिक प्रतिक्रियावादी देशों में भी स्थानीय सरकारें पाई जाती हैं। ये वृक्ष की शाखाओं की भाँति है जिनकी अनुपस्थिति में वृक्ष की कोई उपयोगिता नहीं है। ये उससे दूरी पर रहकर भी उसका लाभ करती है।

(2) स्वशासन से प्रशिक्षण—स्वशासन से सबसे बड़ा लाभ यह है कि अधिकांश व्यक्ति प्रशासनिक समस्याओं से अवगत होते हैं और उनका हल करने के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उन्हें एक प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है जिससे वे देश के प्रशासनिक कार्यों में भाग ले सकते हैं और अपने अनुभवों से उसे कार्य रूप प्रदान कर सकते हैं। लास्की ने लिखा है, "स्थानीय स्वशासन की संस्था सरकार के किसी अन्य भाग की अपेक्षा अधिक शिक्षा प्रद है।"[1] इस प्रकार यह प्रायमिक प्रशिक्षण है और यह जितना ही सबल और संगठित होगा उतने ही प्रभावशाली व्यक्तित्व देश में उभरेंगे।

जन सहयोग की सम्भावना—प्रजातंत्र की सफलता के लिए जन सहयोग एक महत्वपूर्ण कुंजी है। अतः स्थानीय स्वशासन के माध्यम से जनता शासन में दिलचस्पी भाग लेती है और अपनी समस्याओं के बारे में स्वयं सोचती है। इस प्रकार कम खर्च में शासन को जन सहयोग सरलता से प्राप्त हो जाता है।

1. "The institutions of local self government are educative in perhaps a higher degree than any other part of the government." — Laski

(4) राजनीतिक और नागरिक शिक्षा—यह राजनैतिक अधिकारों के प्रयोग की शिक्षा देता है तथा नागरिक गुणों के विकास में भी सहयोग देता है।

(5) मितव्ययता—स्थानीय सरकारों की व्यवस्था से सरकार अत्यधिक व्यय से बच जाती है और कार्य शीघ्रता से निपट जाता है। इन संस्थाओं के अनेक कार्यकर्त्ता अवैतनिक होते हैं और वे जन सेवा की भावना से कार्य करते हैं। प्रो. लास्की ने तो स्थानीय सरकारों का समर्थन इस सीमा तक किया है कि वह समान जिले का प्रशासन ही स्थानीय सरकारों को समर्पित करने के पक्ष में है।

(6) सामान्य चेतना का विकास—स्थानीय स्वशासन से जनता में सामान्य चेतना का विकास होता है जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अत्यधिक आवश्यक है। इससे लोगों में परस्पर मिलजुल कर कार्य करने की भावना का विकास होता है। ब्राइस ने लिखा है, "स्थानीय संस्थाएं लोगों को न केवल दूसरों के लिए कार्य करना सिखाती है वरन् स्वयं अपने लिए मिलकर कार्य करना भी सिखाती है।"

(7) केन्द्र का भार हलका करना—देश की केन्द्रीय सरकार को बड़ी-बड़ी समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ता है अत. न तो उनके पास इतना समय होता है और न साधन कि वह स्थानीय समस्याओं की ओर ध्यान दे सके। अतः स्थानीय स्वायत्त संस्थाए जहाँ अपनी स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है वहाँ साथ ही वे केन्द्रीय सरकार को स्थानीय समस्याओं के भार से मुक्त कर देती है। इसीलिये कहा गया है कि "स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं केन्द्र को मिर्गी से तथा प्रान्तीय सरकार को लकवे से बचाती है।"[1]

(8) कार्य कुशलता—स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं स्थान विशेष की समस्याओं और उसके समाधान से भली-भांति परिचित होती हैं। साथ ही वे ऐसे ही कार्य करती हैं जो उसके क्षेत्र के हित में होता है। इससे प्रशासन में कार्य कुशलता बढ़ जाती है।

निष्कर्ष—स्वायत्त शासन प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है। लास्की ने स्वायत्त शासन के महत्व पर बल देते हुए ठीक ही लिखा है कि "प्रजातंत्र से पूरा लाभ उठाने के लिए हमें इस विचार को मानना ही होगा कि सभी समस्याएं केन्द्रीय नहीं हो सकती है और जो समस्याए केन्द्रीय नहीं हैं उनका समाधान स्थानीय व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है।"[2] विलसन ने भी लिखा है कि, "स्वायत्त संस्थाओं का काम केवल कुछ सेवाएं प्रदान करना ही नहीं है अपितु नागरिक उत्तरदायित्व और राजनैतिक शिक्षा की सीख नागरिकों को देनी है।"

1. "The local self government institutions save the central Government from epilepsy and the provincial Government from paralysis"

2. We cannot realise the full benefit of democratic Government unless we begin by the admission that all problems are not central problems and that the results of problems not central in the incidence requires decisions at the place, and by the persons where and by whom the incidence is most deeply felt." —Laski.

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्य
(Functions of local self-Institutions)

स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं अनेक कार्य करती हैं। जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

(1) सार्वजनिक कल्याण कार्य—ये संस्थाएं नागरिकों को सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से अनेक कार्य करती हैं जैसे—

(1) सफाई की व्यवस्था
(2) बीमारियों को रोकने की व्यवस्था
(3) चिकित्सालयों की व्यवस्था
(4) प्रकाश की व्यवस्था
(5) सड़कों का निर्माण व मरम्मत
(6) पार्कों की स्थापना
(7) पानी की व्यवस्था

(2) सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य

(1) मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था
(2) सार्वजनिक स्नानगृहों, तालाबों, शौचालयों, नलों आदि की व्यवस्था
(3) पुस्तकालयों, वाचनालयों आदि की व्यवस्था
(4) प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध
(5) संग्रहालयों, अजायबघरों आदि का प्रबन्ध

(3) शैक्षणिक कार्य

(1) पाठशालाओं की स्थापना
(2) रात्रि पाठशालाओं की व्यवस्था
(3) पुस्तकालयों की स्थापना

(4) आर्थिक कार्य

(1) खाद्य पदार्थों एवं शाक सब्जियों के मूल्यों का निर्धारण
(2) खेती और पशु पालन के विकास कार्य
(3) सिंचाई का प्रबन्ध
(4) उत्तम बीज और खाद का वितरण

(5) सुरक्षा कार्य

(1) अग्नि से सुरक्षा हेतु फायर ब्रिगेड की व्यवस्था
(2) हिंसक पशुओं को नष्ट करना
(3) सड़कों तथा गलियों में प्रकाश की व्यवस्था
(4) जानमाल की सुरक्षा का प्रबन्ध
(5) ग्राम रक्षा दल की स्थापना

(6) न्यायिक कार्य

(1) स्थानीय झगड़ों का निर्णय
(2) न्याय पंचायत न्यायपालिका का प्रमुख अंग है।

(7) प्रशासनिक कार्य
   (1) कर वसूली
   (2) योजना निर्माण में सहयोग
   (3) कानूनी सीमाओं के अन्तर्गत नियमों का निर्माण तथा उनका पालन
(8) विविध कार्य
   (1) छोटे बाँध बाँधना
   (2) व्यापार निगम खोलना
   (3) अनाथालय आदि की व्यवस्था
   (4) अकाल एवं बाढ़ से सुरक्षा
   (5) पुल, सड़क एवं प्रदर्शनियों का प्रबन्ध

अन्त में, हम वारेन के शब्दों में कह सकते हैं कि, "समाज का कोई ऐसा वर्ग न[illegible] है जिसकी वह कुछ न कुछ सेवा नहीं करती हो। समाज के कुछ वर्गों की सेवा तो [illegible] गर्भस्थली से मरघट तक करती है।"[1]

आय के साधन
(Sources of Income)

किसी भी संस्था की सफलता उसकी आय के पर्याप्त साधनों पर नि[illegible] है। यदि उसके पास आय के पर्याप्त साधन है तो वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति सफल[illegible] पूर्वक कर सकती है। अन्यथा वह अपना कार्य पूरा नहीं कर सकती है अथवा उसका का[illegible] क्षेत्र सीमित हो जायेगा। सामान्यतया स्थानीय संस्थाओं की आय के मुख्य साधन निम्[illegible] लिखित हैं:—

   (1) स्थानीय कर
   (2) सम्पत्ति कर
   (3) व्यवसाय कर
   (4) गृह कर
   (5) जल कर
   (6) बिजली कर
   (7) हाटों व मेलों में पशुओं की बिक्री पर कर
   (8) लाइसेंस फीस
   (9) चुंगी
   (10) राज्य सरकार से अनुदान

स्थानीय संस्थाओं का संगठन
(Organisation of Self Government)

शहरों और गाँवों की विविध समस्याएं हैं अत: इनके संगठनों में भी भिन्नता [illegible]

1. "There is no sections of the community which is does not serve in some wa[illegible] To some sections of the community it ministers continuously from the crad[illegible] to grave" —Warr[illegible]

जाती है। अब हम विभिन्न देशों की स्वायत्त संस्थाओं के स्वरूप पर विचार करेंगे।

भारत—भारत में ग्रामीण क्षेत्र के लिए पंचायती राज की स्थापना की गई है। इसकी तीन इकाइयां हैं—ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद। जिला परिषद ग्राम पंचायतों के बजट की स्वीकृति देता है और उनके कार्य का निरीक्षण करता है। ग्राम पंचायतों के सभापति सरपंच पंचायत समिति के प्रधान और जिला परिषद के प्रमुख कहलाते हैं जो जनता के प्रतिनिधि होते हैं। साथ ही सरकारी कर्मचारी इनके सचिव होते हैं। इन संस्थाओं का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र विशेष के लिए विकास योजना बनाना तथा उन्हें कार्यान्वित करना है। कृषि, सिंचाई, स्वास्थ्य, सफाई, प्रकाश, शिक्षा, पशु पालन आदि इनके प्रमुख कार्य हैं। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए विभिन्न प्रकार के कर व सरकारी अनुदान द्वारा धन एकत्रित करती है।

शहरी क्षेत्रों में दूसरे प्रकार की संस्थाएं हैं वे ग्रामीण क्षेत्र की भांति सीढ़ीनुमा नहीं हैं। देश के बड़े बड़े नगरों जैसे कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, पटना आदि में नगर निगम (Corporation) है। जिन नगरों की जनसंख्या दस हजार से अधिक है वहां नगर परिषदें (Municipal Board) हैं और इससे कम जनसंख्या वाले नगरों की देखभाल के लिए नगर क्षेत्र समितियां (Town or Notified Area Committees) हैं। इसके अतिरिक्त उद्देश्य विशेष के लिए अन्य स्वायत्त शासी संस्थाएं भी होती हैं जैसे नगर सुधार न्यास (Improvement Trust) बड़े-बड़े बन्दरगाहों के लिए बन्दरगाह ट्रस्ट (Port Trust) सैनिक छावनियों के लिए छावनी ट्रस्ट (Cantonment Board) आदि। इनमें भी अधिकांशतः जनता के प्रतिनिधि होते हैं। परन्तु किसी किसी में सरकार द्वारा मनोनीत कुछ अधिकारी भी रहते हैं।

ब्रिटेन—ब्रिटेन में स्थानीय स्वशासन का संगठन बहुत पहले से है। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए एडमिनिस्ट्रेटिव काउंटी, नन काउंटी बोरो, अरबन डिस्ट्रिक्ट, रूरल डिस्ट्रिक्ट तथा पेरिश है। इनकी संख्या 62, 301; 572; 475; तथा 11,000 है। शहरी क्षेत्रों के लिए काउंटी बोरो हैं जिनकी संख्या 83 है। लंदन के लिए पृथक से एक एडमिनिस्ट्रेटिव काउंटी है।

सं. रा. अमेरिका—अमेरिका में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए टाउनशीप, काउंटी प्लान और दोनों का मिश्रित प्लान भी है। शहरी क्षेत्रों के लिए मेयर कौंसिल प्लान कमीशन प्लान और सीटी मैनेजर प्लान है।

फ्रांस—फ्रांस की स्थानीय संस्थाएं अन्य देशों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार के अधिक अधीनस्थ हैं। सारा देश 89 डिपार्टमेंट में विभाजित है। इन डिपार्टमेंटों को 266 एराण-डाइजमेंटों में विभाजित किया गया है और इन्हें 36800 कम्यूनों में। प्रिफेक्ट और मेयर यहां के स्थानीय शासन के प्रमुख अधिकारी हैं।

रूस—रूस में निम्नतम धरातल पर स्थानीय स्वशासन की इकाइयां मौजूद हैं। प्रत्येक इकाई में श्रम जीवियों के प्रतिनिधियों की एक सोवियत (Soviet of the working people's Deputies) होती है जिसका निर्वाचन दो वर्ष के लिए होता है। इन्हें व्यापक अधिकार प्राप्त हैं फिर भी इसे स्वशासन की संज्ञा देना उचित नहीं है क्योंकि सोवियत संघ में केन्द्रीयकरण की मात्रा अधिक है।

अध्याय 14

संविधान

(Constitution)

1. संविधान का अर्थ एवं परिभाषा
2. संविधान का महत्व
3. संविधान का वर्गीकरण
   - (i) विकसित और निर्मित
   - (ii) लिखित और अलिखित संविधान
   - (iii) कठोर और लचीला अनमनीय संविधान
   - (iv) एकात्मक और संघात्मक
   - (v) गणतंत्रात्मक और अगणतंत्रात्मक
4. उत्तम संविधान की विशेषताएं

संविधान राष्ट्र की एकता और उसकी मौलिक मान्यताओं का सूचक होता है। राजतंत्र में तो इसका विशेष महत्त्व नहीं है परन्तु प्रजातंत्र की तो इसके बिना कल्पना करना भी असम्भव है। संविधान शासक और शासित के मध्य संतुलन सेतु है। इसके अभाव में राज्य में अराजकता फैलने का डर है।[1]

संविधान की उत्पत्ति प्राचीन ग्रीस के एथेन्स नगर राज्य से दृष्टिगोचर होती है। 624 ई. पू. से 704 ई. पू. तक 11 संविधानों का निर्माण हुआ था। अरस्तू ने अपनी पुस्तक में कई संविधानों का वर्णन किया है और एक आदर्श संविधान का नमूना भी दिया है। प्लेटो ने भी संवैधानिक सरकार को विशेष महत्त्व दिया है।

रोम के राज्यों में जब शासक निरंकुशता से शासन शक्तियों का दुरुपयोग करने लगे तो वहाँ पर गणतंत्रात्मक संविधान की रचना उनकी शक्तियों पर नियंत्रण लगाने से की गई।

संविधान का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Constitution)

संविधान कॉंस्टीट्यूयर (Constiture) शब्द से बना जिसका अर्थ स्थापना होता है। संविधान वह मूलभूत नियम है, जो राज्य के विभिन्न अंगों की व्यवस्था से संबंधित है। वह राज्य की शक्ति और जनता के अधिकारों के मध्य समन्वय का कार्य करता है। विभिन्न विद्वानों ने संविधान की विभिन्न परिभाषाएं दी है जो मुख्यतः निम्नलिखित है—

डायसी—"संविधान का अभिप्राय उन सब नियमों से है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से राज्य की सार्वभौमिक शक्तियों के वितरण और प्रयोग को निर्धारित करते हैं।[2]

लास्की—"नियमों का वह भाग संविधान कहलाता है जिसके द्वारा यह निर्धारित होता है कि (i) ऐसे नियम कैसे बनाये जाएं (ii) किस प्रकार से बदले जाएं और (iii) उन्हें कौन बनाये।"[3]

---

1 "As a concept constitutional is in means essentially limited government, a system of restraints on both rulers and ruled." —J. S Rowcek.

2 "All rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of sovereign power in the state make up the constitution of the state." —Dicey

3 "The portion of the rules which settles (a) how such rules are to be made (b) the in which they are to be changed (c) who are to make them, is called the of the state." —Laski

ब्राइस—"शासन संविधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकार के आकार का निर्णय और उनके प्रति नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों को निश्चित करते हैं।"[1]

लीकॉक—"किसी राज्य के ढांचे को उसका शासन विधान कहा जाता है।"[2]

हर्मन फाइनर—"संविधान प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं का ब्योरा है।"[3]

वूल्जे—"किसी राज्य का संविधान उन नियमों का संग्रह होता है जो राज्य की शासन शक्ति (सरकार की शक्ति), नागरिकों के अधिकार और सरकार तथा नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में करते हैं।"[4]

अरस्तू—"संविधान राज्य के कार्य तथा नागरिकों के अधिकारों को निश्चित करता है।"[5]

गैटेल—"वे मौलिक सिद्धान्त जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है उसका संविधान कहलाता है।"[6]

जेलिनेक—"राज्य का संविधान उन न्यायिक सिद्धांतों का संग्रह होता है जो राज्य के मुख्य अंगों का वर्णन करते हैं, उनकी उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालते हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं, उनके कार्यक्षेत्र को दिखाते हैं। और उनमें हर एक का राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मौलिक स्थान नियत करता है।"[7]

आस्टिन—"संविधान वह है, जो सर्वोच्च शासन की रचना को निर्धारित करता है।"[8]

गिल क्राइस्ट—"संविधान, वे नियम तथा अधिनियम हैं जो लिखित या अलिखित रूप में शासन की व्यवस्था का निश्चय, उनके विविध अंगों के अधिकारों के वितरण तथा उन सिद्धांतों का निर्णय करते हैं जिनके अनुसार किसी देश की सरकार चलाई जाती है।"[9]

1. "Constitution is a set of established rules embodying and enacting the practice of Government." —Bryce.
2. "Constitution is the form of Government." —Leacock.
3. "Constitution is a system of fundamental political institutions" —Herman Finer
4. "Constitution is the collection of principles according to which the powers of the Government, the rights of the governed and the relation between the two are adjusted." —Woolsey.
5. "Constitution is the way in which citizens who are the component parts of the state, are arranged in relation to one another." —Aristotle.
6. "The fundamental principles that determine the form of a state are called its constitutions." —Gettell.
7. "Constitution is a body of judicial rules which determine the supreme organs of the states, prescribe their mode of creation, their mutual relation, their sphere of action and finally the fundamental place of each of them in relation to state." —Jellineck.
8. "Constitution fixes the structure of supreme Government." —Austin.
9. "That body of rules or laws, written or unwritten which determines the organisation of Government, the distribution of powers of the various organs of the Government and general principles on which these powers are exercised." —Gilchrist.

संविधान का महत्व
(Importance of Constitution)

संविधान समाज की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज अथवा देश का अलग अलग संविधान होता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सभी देशों के लिए संविधान का होना आवश्यक नहीं है जैसे निरंकुश शासन प्रणाली में कोई संविधान नहीं होता है। कुछ विद्वान इंगलैंड में भी कोई संविधान नही मानते हैं। परंतु ऐसे विद्वान संविधान का अर्थ अत्यन्त संकुचित अर्थ में करते हैं। वे लिखित संविधान को ही संविधान की संज्ञा देते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि संविधान नियम, उप नियम, प्रथा आदि का वह समूह है जिससे राज्य और नागरिकों के सम्बंध का ज्ञान होता हो। जेलिनेक ने लिखा है, "संविधान हीन राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि संविधान बिना राज्य की सत्ता असम्भव है। संविधान के अभाव में राज्य को अराजक कहा जाता है।"[1]

संविधानों का वर्गीकरण
(Classification of Constitutions)

संविधानों का मुख्यतः निम्न वर्गीकरण किया जाता है।

(1) विकसित और निर्मित संविधान
(Evolved and Enacted Constitution)

(2) लिखित और अलिखित संविधान
(Written and Unwritten Constitution)

(3) कठोर और लचीला संविधान
(Rigid and Flexible Constitution)

(4) एकात्मक और संघात्मक संविधान
(Untary and Federal Constitution)

(5) गणतंत्रात्मक और अगणतंत्रात्मक संविधान
(Republic and Non-republic Constitution)

(1) विकसित तथा निर्मित संविधान—विकसित संविधान इतिहास की देन है। यह किसी निश्चित समय पर निर्मित किया हुआ नहीं है अपितु युगों के राजनैतिक विकास का फल होता है। यह किसी संविधान निर्मात्री सभा द्वारा बना हुआ न होकर समय और परिस्थितियों की देन होता है। ऐसा संविधान मूलतः अलिखित होता है जिसमें प्रथाएँ, परम्पराएँ, अभिसमय, लोकाचार, न्यायालयों के निर्णय आदि होते हैं। शासन के स्वरूप की भाँति ही विकसित संविधान का विकास भी शनैः शनैः हुआ है ब्रिटेन का संविधान इसका सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। ब्रिटिश संविधान को "बुद्धि और आकस्मिकता की सन्तान" Child of wirdom and chance) कहा जाता है। ब्रिटिश संविधान सिद्धांत में अब भी

1. "A state without a constitution would not be a state but a regime of anarchy" —Jellineck.

निरंकुश राजतंत्र है परंतु व्यवहार में सारी शक्तियाँ मंत्रिमण्डल मे निहित है तथा सम्राट नाम मात्र का शासक है। विकसित संविधान का विकास जनता द्वारा सम्राटों के विरुद्ध शताब्दियों के संघर्ष के कारण हुआ।

विकसित संविधान में संशोधन करने के लिए किसी खास प्रणाली की आवश्यकता नहीं होती वरन् समय और परिस्थितियों के अनुसार इसमें शनैः शनैः परिवर्तन होता रहता है। ऐसा संविधान मानव-हित और राज्य-हित के लिए सर्वोत्तम है जो सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति और रक्तपात को रोकता है। 'ऑग' ने लिखा है कि "ब्रिटिश संविधान एक सचेष्ट जीवधारी के समान है जिसमे निरंतर तथा स्थायी विकास की क्षमता है।"[1]

विकसित संविधान का अवगुण यह होता है कि शासन का ढांचा पहले से सोच विचार कर नहीं बनाया जाता है बल्कि ऐतिहासिक क्रम की धारा के अनुसार बनाया जाता है इसलिए कभी कभी इसका विकास समुचित रूप से सही दिशा में नहीं हो पाता है।

इसके विपरीत निर्मित संविधान वह संविधान कहलाता है जिसका निर्माण किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होता है। इसे देश के नागरिक संविधान निर्मात्री सभाओं के माध्यम से बनाते हैं जिसका निर्माण काफी विचार-विमर्श के बाद होता है। ऐसा संविधान मूलतः लिखित होता है जिसमें शासन के स्वरूप, जनता के मौलिक अधिकारों प्रशासकीय व्याख्या तथा संविधान के आदर्श सिद्धांतों का समावेश पाया जाता है। अमेरिका का संविधान एक लिखित संविधान है जिसका निर्माण 1787 ई० मे फिलाडेलफिया सम्मेलन द्वारा हुआ। विश्व के अधिकांश संविधान निर्मित एवं लिखित है। फ्रांस मे पहला संविधान 1830 ई० में, दूसरा 1 48 ई० में, तीसरा 1871 ई० में चौथा 1946 ई० में और पाँचवाँ 1958 ई० में बनाया गया। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा इटली में नए संविधान बनाए गए। भारत मे नया संविधान 26 नवम्बर 1949 ई० को पूरा हुआ और 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ।

यह वर्गीकरण पूर्णतः मान्य नहीं है। कुछ विद्वान विकसित और निर्मित संविधानों के इस अंतर को महत्वपूर्ण नहीं मानते। प्रत्येक संविधान मे परम्पराएँ होती हैं और लिखित भाग भी। आलोचकों का कहना है कि कोई भी संविधान न तो पूर्ण विकसित हो सकता है और न पूर्णतः निर्मित ही। उदाहरणार्थ इंगलैंड के संविधान में विकसित और निर्मित दोनों ही तत्वों का समन्वित विकास पाया जाता है। इसके लिखित अंगों के अन्तर्गत, मैग्नाकार्टा, पिटिशन ऑफ राइटस, स्टेट्यूट ऑफ वेस्ट मिनिस्टर आदि प्रमुख हैं। विकसित अंग के दृष्टांत रूप में मंत्रिमंडल की नियुक्ति लोकसभा के अध्यक्ष का स्थान, दल पद्धति का विकास आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इसी प्रकार अमेरिका जैसे लिखित संविधान मे भी दल पद्धति, राष्ट्रपति के निर्वाचन के सबंध में अनेक महत्वपूर्ण संवैधानिक विकास हुए हैं। इस प्रकार ब्रिटिश संविधान यद्यपि मुख्यतः विकसित संविधान

1. "The British constitution is a living organism." —Ogg.

है, फिर भी उनमें लिखित अंश वर्तमान है। ठीक इसी तरह अमरीकी संविधान यद्यपि मुख्यतः लिखित है। फिर भी उसमें विकसित अंश मौजूद है। निष्कर्षतः संविधानों को पूर्णतः विकसित या निर्मित संविधानों के वर्गों में नहीं रखा जा सकता है।

(2) लिखित और अलिखित संविधान—प्रो० गार्नर ने लिखा है कि लिखित तथा अलिखित संविधानों में लगभग वही अंतर है जो विकसित एवं निर्मित संविधान में है। लिखित संविधान उसे कहते हैं जिसकी बुनियादी बातें लिखी हुई होती है। लिखित संविधान वह लिखित प्रलेख होता है जिसके द्वारा मौलिक अधिकारों, शासकीय संस्थाओं तथा राज्य के आधारभूत सिद्धांतों का लिखित रूप से उल्लेख किया जाता है। लिखित संविधान के निर्माण का समय निश्चित होता है। उसमें कोई भी संस्था विकासगत नहीं होती। लिखित सविधान मे संशोधन लाने के लिए विशेष तरीके का प्रयोग करना पड़ता है। लिखित संविधान तीन प्रकारसे आगे बढ़ते हैं—रीति रिवाजों से, न्यायिक विवेचनों से तथा संशोधनों से। इसमें शासन विधि का व्यापक विवरण होता है। लिखित संविधान मुख्यतः अमेरीका, भारत, रूस, फ्रांस, चीन, जापान, स्वीट्जरलैंड आदि देशों में है। मन चाहे रूप में लिखित सविधान को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसमें सरकार के विभिन्न अंगों का विशद विवेचन होता है। गार्नर ने लिखा है, "लिखित संविधान एक पवित्र लेख होता है जो कि साधारण कानूनो से अलग होता है, जिसका एक अलग स्त्रोत तथा उच्च कानूनी सत्ता रहती है और वह एक अलग विधि से संशोधित हो सकता है।"[1]

इसके विपरित "अलिखित संविधान वह संविधान है जिसका अधिकांश भाग अलिखित होता है। उसमें अधिकतर रीति-रिवाज तथा न्यायालयों के निर्णय शामिल होते हैं। इस प्रकार के संविधानों को किसी विशेष समय में संविधान सभा द्वारा नहीं बनाया जाता। अतः संविधान का निर्माण नहीं अपितु, विकास होता है।" परन्तु यह बात ध्यान में रखी जाय कि विश्व का कोई भी संविधान न तो पूर्ण रूप से लिखित है और न पूर्ण रूप से अलिखित। प्रत्येक संविधान में दोनों प्रकार के अंश पाये जाते हैं। किंतु जिस संविधान का अधिकांश भाग अलिखित होता है, हम उसे अलिखित संविधान कहते हैं। इतिहास के क्रमिक विकास के साथ-साथ राजनीतिक संस्थाओं में भी परिवर्तन होता है। सदियों के परिवर्तन और व्यवहार के बाद कुछ नियम राज्य शासन के स्थायी नियम बन जाते हैं और वे संविधान के अभिन्न अंग का रूप ले लेते हैं। गार्नर ने लिखा है, "अलिखित संविधान वह है जिसकी अधिकांश बातें किसी पत्र या लेख-पत्रों के संग्रह में लिखी हुई नहीं होती।"[2] अलिखित संविधान का आधार अलिखित रीति-

1. "A written constitution is generally an instrument of special sanctity distinct in character from all other laws proceeding from a different source having a higher legal authority and alterable by a different procedure. —Garner

2. "An unwritten constitution is one in which most, but not all, of the prescriptions have never been reduced to writing and formerly embodied in a document or collection of documents." —Garner.

रिवाज, राजनैतिक परम्पराएँ, व्यवहारिक नियम और न्यायिक निर्णय हैं। ब्रिटिश संविधान के प्रायः सभी नियम अभिसमयों पर आधारित हैं। सम्राट की स्थिति, मंत्रिमंडल तथा प्रधानमंत्री की शक्तियां और नियुक्ति, मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व, राजनैतिक दलों का कार्य, लोकसभा के अध्यक्ष की स्थिति आदि प्रमुख संवैधानिक तत्व रूढ़ियों पर ही आधारित है। अलिखित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिटेन का संविधान है किन्तु उसमें भी बहुत से भाग लिखित हैं। जैसे मैगनाकार्टा, एक्ट ऑफ सक्सेसन, बिल ऑफ राइट्स, 1919 का संसदीय एक्ट, डरहम रिपोर्ट आदि। अलिखित संविधानों में परिवर्तन करने के लिए किसी खास तरीके का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। ऐसे संविधान इसी कारण परिवर्तनशील होते हैं और समय की गति के साथ अपने कदम को मिलाकर चलने की क्षमता रखते हैं। इनमें कठोरता नहीं होती। ऐसे संविधानों में परम्पराओं को महत्त्व दिया जाता है। जिनका उल्लंघन कानूनी अपराध भले न हो परन्तु वह जनमत के विरोध को आमंत्रित करता है जो अधिक भयंकर है।

अंतर की यथार्थविकता:—एम. स्टीवर्ट ने लिखा है, "लिखित तथा अलिखित संविधानों का अंतर इतिहासकारों के लिए चाहे रुचिकर हो किन्तु राजनीतिज्ञों के लिए नहीं है। प्रत्येक संविधान के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कितनी सरलता से उसे परिवर्तित किया जा सकता है तथा परिवर्तन करने के लिए नियमों का किस सीमा तक गंभीरतापूर्वक निर्वाह होता है।"[1] गार्नर, फाइनर, स्ट्रांग तथा ब्राइस आदि लेखकों ने लिखित एवं अलिखित संविधानों के उपर्युक्त विभेद को अवैज्ञानिक एवं मिथ्यापूर्ण माना है विश्व का कोई भी संविधान न तो पूर्णतः लिखित है और न पूर्णतः अलिखित। लिखित संविधान में लिखित विधियों की मात्रा अधिक रहती है और परम्पराओं पर आधारित विधियों की मात्रा कम। उसके विपरीत अलिखित संविधान में प्रथाओं एवं परम्पराओं का अनुपात अधिक रहता है और लिखित कानूनों का कम। इस प्रकार लिखित और अलिखित संविधान में केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं। गार्नर का कहना है कि लिखित और अलिखित संविधानों में केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं।[2] लार्ड ब्राइस लिखते हैं, "लिखित संविधान व्याख्याओं द्वारा विकसित, न्यायिक निर्णयों द्वारा सुशोभित एवं रीति-रिवाजों द्वारा समृद्ध होते हैं जिससे कुछ समय के बाद उनका मूल रूप अपने पूर्ण प्रभाव को प्रकट नहीं करता।"[3] स्ट्रांग ने भी इस वर्गीकरण का विरोध करते हुए कहा

---

1. "The formal difference between written and unwritten is therefore of more interest to the historian than to the political scientist. The significant questions about any constitution are 'How easily can it be changed' and 'How strictly is it observed.'" —M. Steevert.

2. "The distinction between written and unwritten constitution is really one of degree rather than of kind." —Garner.

3. "Written constitution are developed by interpretations fringed with decisions and enlarged by customs, so that after a time the letter of their text does not carry the full effect." —Bryce

कि "यह मिथ्या भेद है क्योंकि कोई भी ऐसा संविधान नहीं जो पूर्ण रूप से लिखित हो।"[1]

लिखित संविधान के गुण

(Merits of Written Constitution)

(1) निश्चित एवं स्पष्ट—लिखित संविधान का सर्वप्रथम गुण उसका निश्चित और स्पष्ट होना है। संविधान के निश्चित और स्पष्ट होने के कारण ही इसमें विभिन्न मतों में वाद-विवाद की गुंजाइश नहीं रहती है।

(2) सुगम शासन की जननी—लिखित संविधान को सुगम शासन की जननी कहा जाता है क्योंकि इसमें शासन संगठन तथा नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या पायी जाती है।

(3) मौलिक अधिकारों की घोषणा—लिखित संविधान में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए निश्चित व्यवस्था की जाती है तथा नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है। मौलिक अधिकारों की घोषणा के कारण ही जनता के अधिकार और स्वतंत्रताएं निरंकुश शासन से सुरक्षित रहते हैं।

(4) पवित्र लेख—लिखित संविधान एक पवित्र लेख माना जाता है। क्योंकि लिखित संविधान बहुत विचार-विमर्श के बाद बनाया जाता है और लोग इसका पालन अधिक श्रद्धा से करते हैं। काफी सोच-विचार के पश्चात् विवेक के आधार पर इसका निर्माण किया जाता है। इस कारण यह समाज के राजनैतिक जीवन को भी स्थायी बनाता है।

(5) स्वार्थी गुटों के हाथ में खिलौना नहीं बनता है—स्वार्थी राजनैतिक दल इसमें इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते हैं इस कारण लिखित संविधान स्वार्थी गुटों के हाथ में खिलौना नहीं बन सकता है।

(6) शासन पर नियंत्रण—लिखित संविधान में शासन पर अच्छा नियंत्रण रहता है क्योंकि सरकार की शक्तियाँ और कार्यक्षेत्र का लिखित संविधान में स्पष्ट विवरण रहता है। इसी कारण सरकार मर्यादित रूप से कार्य करती है। लिखित संविधान में शासन पर कड़ा नियंत्रण रहने के कारण नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है।

(7) संघात्मक शासन व्यवस्था—संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए लिखित संविधान सर्वाधिक उपयुक्त है। वस्तुतः संघात्मक शासन व्यवस्था लिखित संविधान में ही संभव है।

(8) दृढ़ और स्थायी—लिखित संविधान अधिक दृढ़ और स्थायी रहता है। स्पष्टता, दृढ़ता और निश्चितता के गुणों के कारण लिखित संविधान को अधिक मान्यता प्रदान की जाती है एवं इन गुणों के कारण ही लिखित संविधान अधिक पवित्र माना जाता है।

---

1. "This is really a false distinction because there is no constitution which is entirely written." —*Strong*.

लिखित संविधान के दोष
(Demerits of Written Constitution)

(1) विकसित नहीं होता है---लिखित संविधान का सबसे बड़ा दोष यह होता है कि राष्ट्र की उन्नति के साथ-साथ विकसित नहीं होता है।

(2) क्रांति का भय---लिखित संविधान में क्रांति तथा विद्रोह का भय सदैव बना रहता है क्योंकि इसमें बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन आसानी से नहीं किये जा सकते हैं।

(3) अपरिवर्तनशील संविधान---लिखित संविधान में परिवर्तन लाने के लिए विशिष्ट प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है अतः उसमें समयानुकूल परिवर्तन लाना कठिन कार्य है अतः लिखित संविधान में समाज की आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों के अनुकूल सरलता से परिवर्तन नहीं हो सकता है।

(4) जनमत का दर्पण नहीं---आलोचकों का कहना है कि लिखित संविधान जनमत का दर्पण नहीं होता क्योंकि उसमें परिवर्तन लाना साधारण बात नहीं है। लिखित संविधान में ऐसा भी होता है जैसा कि मैकाले ने लिखा है कि "विचार आगे बढ़ जाते हैं लेकिन संविधान स्थिर रह जाता है।"

(5) राजनैतिक जीवन में विवाद का विषय---लिखित संविधान देश के राजनैतिक जीवन में सदा विवाद का विषय बना रहता है। कानून बनाने वाले इसकी धाराओं की भिन्न-भिन्न रूप से तथा विपरीत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। भारतीय संविधान को इसी आधार पर "विधि विशारदों का स्वर्ग" (Lawyer's Paradise) कहा है और अमेरिका के संविधान के विषय में कहा जाता है कि "संविधान वही है जो न्यायाधीश कहते हैं।"

(6) देश की प्रगति में बाधक---लिखित संविधान में संशोधन बहुत कठिनता से होते हैं, अतः यह देश की प्रगति के मार्ग में कभी-कभी बाधक सिद्ध होता है। डा. गार्नर ने लिखित संविधान के दोषों पर टिप्पणी करते समय ठीक हो लिखा है, कि "यह राजनीतिक जीवन और राष्ट्र की प्रगति के सिद्धांत को अनिश्चित काल के लिये एक लेखपत्र में दबाकर मरने का प्रयत्न करता है। यह ऐसा हो प्रयत्न है जैसा कि एक व्यक्ति के लिए उसकी भावी शारीरिक वृद्धि तथा आकार का विचार किए बिना कोट बनवाना।"

अलिखित संविधान के गुण
(Merits of Unwritten Constitution)

(1) परिवर्तनशील---अलिखित संविधान नमनीय (Flexible) होता है। संविधान अलिखित होने के कारण उसे समय और परिस्थिति के अनुसार आसानी से ढाला जा सकता है। यह देश की बदलती हुई सामाजिक,आर्थिक और राजनैतिक दशाओं का परिचायक होता है क्योंकि उनके अनुकूल ही इसमें संशोधन किये जा सकते हैं। ब्राइस ने ठीक ही कहा है, "अलिखित संविधान बिना उनके ढाँचे का विनाश किये इच्छा के अनुसार झुकाव या खींचे

जा सकते हैं और जब संकट टल जाता है, तब वे उसी प्रकार पहली अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।'[1]

(2) क्रांति से बचाव—अलिखित संविधान समयानुसार बदलने के कारण क्रांति एवं राजनीतिक उथल पुथल के भय को दूर करता है क्योंकि यह जनता की माँग के अनुसार बदलता है। अलिखित संविधान को क्रांतिकारियों की मांगों के अनुसार आसानी से ढाला जा सकता है। अलिखित संविधान के प्रति जनता का अधिक विरोध नहीं रहता। यह जनता की सभी मांगों को अपने में समाविष्ट कर सकता है तथा उसमें परिवर्तन लाने के लिए क्रांति या विद्रोह की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(3) आघातों का सरलतापूर्वक सामना करना है—अलिखित संविधान संकट काल में बहुत ही गुणकारी सिद्ध होता है क्योंकि यह परम्पराओं पर आधारित है। इसलिए सरकार आवश्यकतानुसार संविधान के नियमों को आसानी से बदल सकती है उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध के समय इंगलैंड में युद्ध के निमित्त शासन-यंत्र को आसानी से पुनः संगठित किया जा सका जबकि अमेरिका में कार्यपालिका को अत्यन्त मर्यादित रूप में काम करना पड़ता था। डा. गार्नर ने लिखा है, "ऐसा संविधान आघातों की हानि के बिना शीघ्र संभल जाता है जहाँ लिखित संविधान की इतनी चोट पहुँचती है कि संभलना कठिन है।"

(4) प्रगतिशील—अलिखित संविधान राजनैतिक जीवन के स्वभाविक विकास का परिणाम है। क्योंकि संविधान के नियम सदियों प्रयोग में आने के बाद स्थिर हो जाते हैं। यह राष्ट्र के प्रौढ़ होने के साथ स्वयं भी विकसित और विस्तृत होता है। तथा जनमत का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार अभिसमयों पर आधारित संवैधानिक नियम भूत, वर्तमान और भविष्य को एक कड़ी में जोड़ देते हैं।

(अलिखित संविधान के दोष)

(Demerits of Unwritten Constitution)

(1) अनिश्चित और अस्पष्ट:—आलोचकों का कहना है कि अलिखित संविधान निश्चित तथा स्पष्ट नहीं होता है।

(2) दृढ़ता और स्थायित्व का अभाव—अलिखित संविधान अत्यधिक लचीला होता है। और अपने इस लचीलेपन के कारण वह दृढ़ और स्थायी नहीं होता।

(3) संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए अनुपयुक्त:—अलिखित संविधान संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं होता क्योंकि उसमें केन्द्र और राज्यों के बीच का सम्बंध अलिखित होने के कारण अनिश्चित, अस्पष्ट तथा विवादपूर्ण बन जाता है।

(4) प्रशासन कार्य में गड़बड़ी का भय—अलिखित संविधान में प्रशासन कार्यों में गड़बड़ी होने का भय बना रहता है क्योंकि सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों और कार्य क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या अलिखित संविधान में प्रायः नहीं रहती है। इसमें शासन व्यवस्था सदा एक रहस्य का विषय बनी रहती है क्योंकि उसमें अनिश्चितता रहती है।

1. "The Constitution is what the Judge say it is"

(5) न्यायालय के हाथों में खिलौना.—अलिखित संविधानों की न्यायाधीश अपनी इच्छानुसार व्याख्या करते हैं इसलिए अलिखित संविधान न्यायालय के हाथों में खिलौना बन जाता है।

(6) नागरिक स्वतंत्रता के अपहरण का भय—अलिखित संविधान में नागरिकों की स्वतंत्रता की स्पष्ट परिभाषा तथा उनकी रक्षा के साधनों की कहीं भी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती है इसलिए अलिखित संविधान में नागरिक स्वतन्त्रता के अपहरण का भय बना रहता है।

(7) लचीला संविधान—अलिखित संविधान बहुत ही लचीला होता है। और उसे किसी भी दिशा में, किसी भी समय मोड़ा जा सकता है। अतः कभी कभी उसमें क्षणिक आवेश में भी परिवर्तन लाये जाते हैं, यद्यपि ये परिवर्तन, विवेक पूर्ण नहीं होते। राजनैतिक दलों को अलिखित संविधान में खुलकर खेलने का मौका मिलता है।

(8) लोकतन्त्र के अयोग्य:—अलिखित संविधान के बारे में आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अलिखित संविधान केवल उन राष्ट्रों के लिए ही ठीक बैठ सकते हैं जिनकी लोकतंत्रात्मक परम्पराएँ हों और जो लोकतंत्रात्मक प्रयोगों (Democratic Experiments) में काफी प्रौढ़ हो चुके हों। ऐसे राष्ट्र जो अभी ही स्वतंत्र हुए हैं और जिनकी लोकतंत्रात्मक परम्पराएँ न हो, वहाँ पर अलिखित संविधान सफल नहीं हो सकता है।

(9) मौलिक अधिकारों की घोषणा का न होना:—अलिखित संविधानों का एक अवगुण यह भी होता है कि उनमें से नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा नहीं होती है। इसलिए अलिखित संविधान जनता की स्वतन्त्रता और अधिकारों को सुरक्षित रखने में असफल होते हैं।

कठोर और लचीला संविधान

प्रो. टी. एफ. स्ट्रांग ने लिखित तथा अलिखित संविधानों के अन्तर को असत्य, काल्पनिक तथा भ्रमात्मक माना है। ब्राइस भी कहता है कि यद्यपि लिखित तथा अलिखित संविधानों में अन्तर आवश्यक है परन्तु इस हेतु ये शब्द 'लिखित' तथा 'अलिखित' उपयुक्त नहीं है। अतः वह संविधानों का वर्गीकरण नमनीय लचीले या सुपरिवर्तनशील (Flexible) तथा कठोर या दुष्परिवर्तनशील (Rigid) में करता है। लचीला संविधान उस संविधान को कहते हैं जहाँ पर देश में संवैधानिक तथा साधारण कानूनों में अन्तर नहीं है और वहाँ पर दोनों कानूनों का निर्माण तथा संशोधन एक ही सत्ता के हाथ में रहता है तथा एक ही तरीके से होता है। लचीले संविधान को विधान सभा के द्वारा साधारण प्रक्रिया, (जिसका प्रयोग संसद या विधान सभा साधारण कानून बनाने के लिए करती है) द्वारा ही संशोधित किया जाता है। अतः लचीले संविधान का तात्पर्य उसकी सरल संशोधन प्रणाली से है। यदि संविधान में संशोधन करने वाली प्रक्रिया ठीक साधारण कानून बनाने वाली प्रक्रिया के समान है तो वह संविधान लचीला कहलाता है। इंगलैंड का संविधान लचीले संविधान

का सबसे अच्छा उदाहरण है क्योंकि इंगलैंड में साधारण तथा संवैधानिक कानूनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वहाँ पर संसद (Parliament) के पास राजसत्ता है और संसद किसी भी कानून को एक ही तरीके से बना और बदल सकती है, चाहे वह साधारण कानून हो या संवैधानिक।

इसके विपरीत कठोर संविधान में संवैधानिक कानूनों के निर्माण और संशोधन की प्रक्रिया साधारण कानून के निर्माण और संशोधन की प्रक्रिया से भिन्न रहती है। ऐसे संविधान को सर्वोच्च विधि समझा जाता है। इसलिए कठोर संविधान में संशोधन करने के लिए एक विशेष तरीके का सहारा लिया जाता है।

डा. गार्नर ने लचीले और कठोर संविधान का अन्तर समझाते हुए लिखा है कि "लचीला संविधान वह है जिसकी साधारण कानून से अलग अधिक शक्ति एवं सत्ता नहीं है और जो साधारण कानून की भांति ही बदला जा सकता है, चाहे वह एक प्रलेख (Document) अथवा अधिकतर रिवाजों के रूप में हो।"[1]

इसके विपरीत कठोर संविधान की परिभाषा करते हुए डा. गार्नर लिखते हैं, "कठोर संविधान वह है जो भिन्न स्त्रोत से उत्पन्न होता है और पद में साधारण कानून से वैध दृष्टि में कहीं उच्च है तथा इसका संशोधन भी किसी भिन्न तरीके से होता है।"[2]

कठोर और लचीले संविधान में मुख्यतः यह भेद है कि दोनों के संशोधन के तरीके अलग-अलग होते हैं और उनका निर्माण भी भिन्न-भिन्न सभाओं के हाथों में रहता है। कठोर संविधान में उच्च कानून द्वारा विधान मंडल की शक्तियां संविधान में निश्चित होती है परन्तु लचीले संविधान में विधान मंडल की शक्तियां असीमित रहती है। जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन मे है। कठोर संविधान सदैव लिखित होता है परन्तु लचीला संविधान लिखित तथा अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रो. स्ट्रांग का कथन सत्य ही है, "जो संविधान लिखित नहीं है वे लचीले ही होंगे परन्तु यह भी सम्भव है कि लिखित संविधान कठोर न हो।"[3]

लचीले संविधान के गुण
(Merits of Flexible Constitution)

(1) अनुकूलता—परिवर्तनशील या लचीले संविधान का एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि इसको समय और आवश्यकता के साथ तथा बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार

1. "That law which posses no higher legal authority than ordinary laws and which may be altered in the same way as other laws whether they are embodied in a single document or consist largely of conventions, should then be classified as flexible, movable or elastic constitution" —Garner.

2. "Rigid constitutions are those which emanate from a different source than ordinary laws and which may be amended by different processes." —Dr. Garner.

3. "It is true that a non-documentray constitution is always flexible but it is quite possib[illegible] constitution not to be rigid" —Strong.

आसानी से बदला जा सकता है। साधारण नियमों की भाँति संवैधानिक संशोधन किये जा सकते हैं उदाहरणार्थ, इंगलैंड में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ साथ सम्राट की शक्तियों में भी महान् परिवर्तन हो गए और परिस्थिति अब इतनी बदल गई कि इंगलैंड में निरंकुश राजतंत्र केवल सिद्धांत में ही रह गया है वरना व्यवहार में सम्राट या महारानी की शक्तियाँ पूर्णतः सीमित हो गई है और उसको (व्यवहार मे) केवल अपने मंत्रियों को चेतावनी, सलाह, प्रोत्साहन देने का अधिकार रह गया है। उसी प्रकार ब्रिटेन में कभी कोई खूनी राज्य क्रांति नहीं हुई और न उसकी भविष्य में भी होने की संभावना है क्योंकि समयानुकूल संविधान में परिवर्तन लाया जा सकता है। इस तरह लचीले संविधान में में समाज की नयी आवश्यकताओं के अनुकूल बनने की क्षमता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के होते हुए भी अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन स्थगित नहीं किया जा सका जबकि इंगलैंड में चैम्बरलेन की सरकार को परिवर्तित कर श्री चर्चिल की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सरकार का गठन किया गया तथा संसद की अवधि बढ़ा दी गई।

(2) परिस्थितियों से समायोजन का गुण:—लचीले संविधान का एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है वह कि परिस्थितियों के अनुसार नये-नये विचारों और भावों को प्रश्रय देता है। यह स्पष्ट ही है कि "परिवर्तन प्रकृति का नियम है।" समय के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए समयानुकूल राष्ट्र के विचारों में भी परिवर्तन आता रहता है। यदि नये विचारों और भावनाओं को संविधान में प्रश्रय नहीं मिले तो संविधान मानव हित के लिए नहीं होगा। सुपरिवर्तनशील या लचीला संविधान मानव-जीवन की भाँति गतिशील है।

(3) लोचशीलता—लचीले संविधान के लाभ उसकी महत्त्वपूर्ण लोचशीलता में मौहित है। ब्रिटिश संविधान की लोचशीलता की ओर संकेत करते हुए फ्रीमेन ने लिखा है कि "इंगलैंड में विदेशी विजयों एवं आंतरिक विप्लवों के होते हुए भी जनता के राष्ट्रीय जीवन की परम्परा निरंतर अटूट रही है, किसी भी समय भूत वर्तमान की कड़ी पूर्णतः टूटी नहीं है, किसी भी समय किसी आदेशपूर्ण सिद्धांत के वशीभूत होकर ब्रिटिश लोग पूर्णतः नवीन संविधान बनाने के लिए नहीं बैठे हैं। उनके विकास का प्रत्येक चरण पिछले चरण का स्वाभाविक परिणाम रहा है, कानून व संविधान का प्रत्येक परिवर्तन एक नई वस्तु लाने के लिए नहीं हुआ है बल्कि उसके द्वारा जो कुछ भी प्राचीन था, उसी का विकास और उसी की उन्नति हुई है।"

(4) प्रगतिशील राष्ट्रों के लिए हितकर:—लचीला संविधान प्रगतिशील राष्ट्रों के लिए अधिक हितकर होता है। प्रगतिशील राष्ट्र, जो संविधान को किसी खास समय में निर्मित करता है, जब वह प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने लगता है, तब उसे अपनी आवश्यकतानुसार संविधान में हेरफेर करना पड़ता है। अगर वह इस प्रकार का हेरफेर नहीं करे तो उसकी प्रगति रुक जायेगी। इसीलिए नमनीय संविधान प्रगतिशील राष्ट्रों के लिए अधिक हितकर होता है।

(5) राष्ट्रीय एकता की स्थापना:—लचीला संविधान राष्ट्र में एकता लाता है। वह आसानी से बदला जा सकता है। अतः नागरिकों के किसी भी समुदाय की माँग को

और निश्चित नहीं होता है अतः राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए इसको मनमाना अर्थ निकालते हैं। वस्तुतः ऐसे संविधान प्रजातंत्र के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं।

(5) राजनैतिक दृष्टि से अशिक्षित व्यक्तियों के लिए अनुपयुक्त—लचीला संविधान उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं है जो राजनैतिक दृष्टि से प्रायः अशिक्षित हैं अथवा जिनके पास राजनैतिक प्रशिक्षण नहीं है तथा राष्ट्रीयता, चरित्र एवं प्रार्थिक सम्पन्नता आदि का अभाव है।

कठोर संविधान के गुण
(Merits of Rigid Constitution)

(1) स्थायित्व का अधिक होना—कठोर संविधान में दृढ़ता तथा विश्वास का समन्वय रहता है। कठोर संविधान को सारी जनता एक पवित्र लेख मानती है क्योंकि ऐसा संविधान लम्बे वाद-विवाद एवं दूरदर्शी विचारों तथा विवेक का परिणाम होता है अतः स्वाभाविक रूप से ही वह अधिक स्थायी होता है।

(2) अधिक स्पष्ट तथा निश्चित—कठोर संविधान का एक गुण यह होता है कि वह स्पष्ट और निश्चित होता है। इसमें सरकार की सभी शक्तियों और कार्यों का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन रहता है।

(3) दलीय राजनीति से ऊपर—कठोर संविधान राजनैतिक दलों के अस्थिर स्वार्थ पूर्ण कार्यक्रमों से ऊपर रहता है। दलीय हित उसके स्वरूप को प्रभावित नहीं कर पाता। इसमें सत्ताधारी दल अपनी स्थिति का लाभ नहीं उठा पाता। उसे संविधान की सर्वोच्चता के सम्मुख झुकना ही पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनमनीय संविधान नमनीय संविधान की तरह राजनैतिक दलों के हाथों में खिलौना नहीं बन सकता।

(4) सरकार की शक्तियों को सीमित करना—प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए सरकार की निरंकुश शक्तियों पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है और यह केवल कठोर संविधान में ही हो सकता है न कि नमनीय संविधान में।

(5) अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा—आज मौलिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में किया जाता है। परन्तु उनकी पूर्ति के लिए कठोर संविधानों का ही सहारा लिया जाता है। संविधान में जनता अपने अधिकारों को पढ़ सकती है, उन्हें समझ सकती है तथा नष्ट होने से रोक सकती है। यदि उनके अधिकारों की अवहेलना होती है तो वह न्यायालय की शरण में जा सकती है।

(6) विधान मंडल पर नियन्त्रण—कठोर संविधान में विधानमंडल की भावी निरंकुशता पर प्रतिबंध रहता है। इसमें विधानमंडल ऐसा कोई नियम नहीं बना सकता जिससे संविधान की किसी धारा का उल्लंघन होता हो। ऐसा संविधान संसद से ऊपर होता है। अतः इसमें जनता का विश्वास निरंतर बना ही रहता है।

(7) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा—कठोर संविधान अल्पसंख्यकों में विश्वास उत्पन्न करता है तथा उन्हें बहुमत के आतंक से बचाता है। यह लोकतंत्र को [illegible]

यह बात है [illegible] यह है कि नागरिकों की विभिन्न और विशेष आवश्यकताओं को पूरि करने की क्षमता यह संविधान रखता है। इसलिए देश में क्रान्ति का डर बहुत कम रह जाता है।

(6) राष्ट्र की वास्तविक स्थिति का प्रतिबिम्ब—[illegible] ने कहा है कि "लोक कल्याण के लिए जितने भी संविधान बने हैं उनमें सबसे उत्तम संविधान वह है जो राष्ट्र के विकास के साथ विकसित होता है। राष्ट्र के साथ विकसित होने के कारण वह किसी भी समय वास्तविक एवं राजनैतिक व्यवस्था को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। ऐसा संविधान लचीला ही हो सकता है, कठोर नहीं।

(7) आंतरिक विद्रोह और क्रांतियों से रक्षा—लचीले संविधान का यह बड़ा भारी गुण है कि इससे राष्ट्र की आंतरिक विद्रोहों तथा क्रांतियों से रक्षा होती है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में लचीले संविधान के कारण वहाँ क्रांतियाँ और विद्रोह बहुत कम हुए हैं और लोगों के जीवन का क्रम टूटा नहीं जबकि फ्रांस में जो कि इंग्लैंड के बिल्कुल समीप है क्रांतियों और विकट परिस्थितियों के कारण अब तक पांच संविधान बन चुके हैं।

लचीले संविधान के दोष
(Demerits of Flexible Constitutions)

(1) लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त—बहुत से विद्वान लचीले संविधान को लोकतंत्र के लिए उपयुक्त नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि लचीले संविधान में राज्य के पदाधिकारियों को स्वविवेक निर्णय की अत्यधिक शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं जो जनहित के लिए घातक है। इससे नौकरशाही को प्रोत्साहन मिलता है और जनता अपनी सुरक्षा नहीं कर पाती। आलोचकों का कहना है कि नमनीय संविधान कठोरता की मात्रा के अभाव में सत्ताधारी राजनैतिक दल के हाथों में एक खिलौना बन जाता है।

(2) अस्थिरता—लचीले संविधान का बड़ा भारी दोष यह है कि वह परम्पराओं पर अवलम्बित होने के कारण स्थिर नहीं रह सकता। इसमें निश्चितता नहीं होती है क्योंकि उसका स्वरूप बदलता रहता है। परम्पराओं के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है तथा उन्हें तोड़ने पर दंड की कोई व्यवस्था भी नहीं की जाती। कई बार जोशीले नेता अपनी स्वार्थ-सिद्धि या जनता के जोश को ठंडा करने के लिए संविधान में इच्छानुसार आवश्यक परिवर्तन भी करवा लेते हैं।

(3) भावनाओं का शिकार—लचीले संविधान की आलोचना करते हुए आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि नमनीय संविधान उन व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाता है जो भावुक होते हैं और जल्दबाजी में कोई भी विवेक शून्य कदम उठा सकते हैं। ऐसे संविधान में परिवर्तन पूर्ण विवेक के आधार पर नहीं होते हैं अपितु भावुकता के आधार पर जल्दी में कर दिये जाते हैं जिनकी स्थायी आवश्यकता नहीं होती।

(4) अस्पष्ट और अनिश्चित—लचीले संविधान का एक दोष यह है कि वह स्पष्ट

और निश्चित नहीं होता है अतः राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए इसको मनमाना अर्थ निकालते हैं। वस्तुतः ऐसे संविधान प्रजातंत्र के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं।

(5) राजनैतिक दृष्टि से अशिक्षित व्यक्तियों के लिए अनुपयुक्त—लचीला संविधान उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं हैं जो राजनैतिक दृष्टि से प्रायः अशिक्षित हैं अथवा जिनके पास राजनैतिक प्रशिक्षण नहीं है तथा राष्ट्रीयता, चरित्र एवं आर्थिक सम्पन्नता आदि का अभाव है।

कठोर संविधान के गुण
(Merits of Rigid Constitution)

(1) स्थायित्व का अधिक होना—कठोर संविधान में दृढ़ता तथा विश्वास का समन्वय रहता है। कठोर संविधान को सारी जनता एक पवित्र लेख मानती है क्योंकि ऐसा संविधान लम्बे वाद-विवाद एवं दूरदर्शी विचारों तथा विवेक का परिणाम होता है अतः स्वाभाविक रूप से ही वह अधिक स्थायी होता है।

(2) अधिक स्पष्ट तथा निश्चित—कठोर संविधान का एक गुण यह होता है कि वह स्पष्ट और निश्चित होता है। इसमें सरकार की सभी शक्तियों और कार्यों का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन रहता है।

(3) दलीय राजनीति से ऊपर—कठोर संविधान राजनैतिक दलों के अस्थिर स्वार्थ पूर्ण कार्यक्रमों से ऊपर रहता है। दलीय हित उसके स्वरूप को प्रभावित नहीं कर पाता। इसमें सत्ताधारी दल अपनी स्थिति का लाभ नहीं उठा पाता। उसे संविधान की सर्वोच्चता के सम्मुख झुकना ही पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनमनीय संविधान नमनीय संविधान की तरह राजनैतिक दलों के हाथों में खिलौना नहीं बन सकता।

(4) सरकार की शक्तियों को सीमित करना—प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए सरकार की निरंकुश शक्तियों पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है और यह केवल कठोर संविधान में ही हो सकता है न कि नमनीय संविधान में।

(5) अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा—आज मौलिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में किया जाता है। परन्तु उनकी पूर्ति के लिए कठोर संविधानों का ही सहारा लिया जाता है। संविधान में जनता अपने अधिकारों को पढ़ सकती है, उन्हें समझ सकती है तथा नष्ट होने से रोक सकती है। यदि उनके अधिकारों की अवहेलना होती है तो वह न्यायालय की शरण ले जा सकती है।

(6) विधान मंडल पर नियन्त्रण—कठोर संविधान में विधानमंडल की भावी निरंकुशता पर प्रतिबंध रहता है। इसमें विधानमंडल ऐसा कोई नियम नहीं बना सकता जिससे संविधान की किसी धारा का उल्लंघन होता हो। ऐसा संविधान संसद से ऊपर होता है। अतः इसमें जनता का विश्वास निरंतर रूप से बना रहता है।

(7) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा—कठोर संविधान अल्पसंख्यकों में विश्वास जागृत करता है तथा उन्हें बहुमत के आतंक से बचाता है। यह लोकतंत्र को आधारभूत

समस्याओं में से एक है कि किस प्रकार अल्पसंख्यकों का सहयोग प्राप्त किया जाय, कठोर संविधान इस दिशा में एक कदम की पूर्ति कर सकता है।

(8) नागरिकों के मौलिक अधिकार अधिक सुरक्षित—नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करने की दृष्टि से प्रत्येक संविधान द्वारा अपने नागरिकों को कुछ अधिकार दिये जाते हैं। अधिक महत्वपूर्ण अधिकारों का वर्णन संविधान में किया जाता है जिन्हें मौलिक अधिकारों का नाम दिया गया है तथा उनकी रक्षा की जिम्मेदारी भी संविधान द्वारा सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों पर डाली गई है। वस्तुतः कठोर संविधान में ही इस प्रकार के अधिकार अधिक सुरक्षित रहते हैं।

कठोर संविधान के दोष
(Demerits of Rigid Constitutions)

(1) परिस्थितियों के साथ असमायोजन—कठोर संविधान में परिवर्तन करना कठिन होता है। कठोर संविधानों में भविष्य में आने वाली परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित करने की क्षमता नहीं होती। समय की गति से भी वे पीछे रहते हैं। जिस समय वे बनते हैं उस समय की समस्याओं की पूर्ति करने में तो वे सफल हो जाते हैं किन्तु भविष्य में आने वाली आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल समस्याओं में परिवर्तन करने की क्षमता अनमनीय संविधान में प्रायः कम होती है। कोई नहीं कह सकता कि जो बातें आज संविधान में रखी गई हैं, वे पचास या सौ वर्ष के बाद भी ठीक सिद्ध होंगी जबकि राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति बदल चुकी होगी। कठोर संविधान में परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं हो पाता।

(2) क्रांति की सम्भावना—लार्ड मैकाले ने कहा था कि "विप्लवों का महत्वपूर्ण कारण यह है कि जहाँ राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है, संविधान वहीं के वहीं निश्चल खड़े रहते हैं।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि कठोर संविधान को बनाते समय भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखने के कारण भविष्य की प्रवृत्तियों का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। इसलिए संविधान द्वारा निर्मित शासन व्यवस्था को बदलने के लिए क्रान्तियाँ होती हैं तथा भविष्य को निश्चित और स्थिर भी नहीं किया जा सकता है। संविधान में संशोधनों की कठिनाई ही विप्लवों को जन्म देती है। जब एक वर्ग में निहित स्वार्थ के कारण हम संविधान में परिवर्तन नहीं कर पाते हैं तो जनता में स्वाभाविक रूप से उसके प्रति विद्रोह की भावना जागृत हो उठती है जिसकी ज्वाला में स्वयं संविधान भी जलकर भस्म हो सकता है।

(3) समय के अनुसार आसानी से नहीं ढाला जा सकता—कई बार संविधान में परिवर्तन बहुत आवश्यक हो जाते हैं परन्तु कठोर संविधान में वे परिवर्तन आसानी से नहीं किए जा सकते हैं। परिणाम स्वरूप समाज में अनेक आन्दोलन चल पड़ते हैं और संविधान के उल्लंघन होने और टूटने का भय उत्पन्न हो जाता है।

1. "The most important cause of all revolutions is the fact that while nations move ... stand still." —Lord Maclale

(4) रूढ़िवादी स्वरूप—कठोर संविधान प्रायः रूढ़िवादी होता है। यह रूढ़िवादी इसलिए होता है कि इसके निर्माताओं में वह दिव्य दृष्टि नहीं होती जिससे वे भावी परिस्थितियों की कल्पना कर उनका समावेश इसमें कर सकें। उदाहरण के लिए हमारे संविधान निर्माता शायद यह नहीं सोच सकें कि ऐसा भी सम्भव हो सकता है केन्द्र में एक दल का शासन है और राज्यों में दूसरे दलों का। उन परिस्थितियों में केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्धों का निर्वाह कैसे सम्भव हो सकेगा। वे ये भी नहीं सोच सके कि राज्यपाल केन्द्र के हाथ में यन्त्र के समान है-एक ऐसा यंत्र जो राजनैतिक दलों की सरकारों को गिराने में प्रयोग किया जा सकता है। आज राज्यपाल के पद के विषय में जो संघर्ष चल रहा है वह राजनीतिज्ञों के लिए चिंता का विषय बन चुका है। संविधान में संशोधन करना अब सरल नहीं रहा क्योंकि संसद के दोनों सदनों में एक दल का दो तिहाई बहुमत नहीं है।

(5) न्यायाधीशों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होने की सम्भावना—कठोर संविधान की व्याख्या न्यायाधीशों के हाथ में रहती है। अतः अपने पक्ष में निर्णय करवाने के लिए कभी-कभी कार्यपालिका या विधान मंडल में बहुमत दल न्यायाधीशों की नियुक्ति अथवा निर्वाचन राजनीतिक ढंग से करते हैं।

(6) न्यायाधीशों के हाथ में अत्यधिक शक्ति—संघात्मक सरकार में उच्चतम न्यायालय के हाथ में बहुत शक्ति आ जाती है क्योंकि केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों में झगड़ों को निबटाने और संविधान की व्याख्या करने का अधिकार इसके हाथ में रहता है। यद्यपि इसमें संविधान न्यायाधीशों के हाथ में खिलौना नहीं बनता है तथापि वे संविधान की व्याख्या नये ढंग से कर सकते हैं। एक विद्वान् ने लिखा है कि "यह सच है कि हम एक संविधान के अधीन रहते हैं किंतु संविधान क्या है, यह तो न्यायाधीश ही तय करते हैं।" संविधान का अर्थ निकालना न्यायाधीशों के हाथ में होता है और जो कानून संविधान के अनुसार नहीं होते हैं, उनको वे अवैधानिक घोषित कर सकते हैं। अमेरिका और भारत के उच्च न्यायालयों ने अनेक ऐसे कानूनों को अवैध घोषित किया है जो संविधान की किसी धारा के विरुद्ध थे।

(7) न्यायपालिका द्वारा अनुचित हस्तक्षेप—कठोर संविधानों का एक दुखद चित्र यह भी होता है कि वह न्यायिक हस्तक्षेपों एवं उपेक्षाओं से उत्पीड़ित रहता है और जनता की सेवायें उस सीमा तक नहीं कर पाता जितनी की आशा की जाती है। न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप संविधान की गति को समाप्त कर देता है। कुछ सीमा तक तो यह उचित है किन्तु इसका अधिक प्रयोग हानिकारक है।

---

1. "The flexible constitution places constitutional law and ordinary law on the same level in the seneso that both are enacted in the same way and both procced from the same source" —Salt.
2. "The rigid constitution possesses a special higher status standing above the ordinary law and being more difficult to change." —Dicey.

कठोर एवं लचीले संविधानों की तुलना
(Rigid and Flexible Constitutions Compared)
(लक्षणों की दृष्टि से)

कठोर	लचीला
(1) संविधान लिखित होता है।	(1) संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकार का होता है।
(2) संविधान की विशिष्ट प्रक्रिया होती है।	(2) संविधान की विशिष्ट प्रक्रिया नहीं होती है।
(3) साधारण एवं संवैधानिक कानूनों में अंतर किया जाता है।	(3) साधारण एवं संवैधानिक कानूनों में कोई अंतर नहीं किया जाता है।
4. संविधान में सर्वोच्चता संविधानों में रहती है।	4. संविधान में सर्वोच्चता संसद में रहती है।
5. संविधान निर्मित होता है।	5. संविधान विकसित होता है।
6. संविधान को घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता है।	6. संविधान को आवश्यकतानुसार घटाया जा सकता है।
7. कानून बनाने वाली तथा संविधान बनाने वाली सत्ता मे अंतर किया जाता है।	7. कानून बनाने वाली तथा संविधान बनाने वाली सत्ता में अन्तर किया जाता है।
8. न्यायालय संसद द्वारा निर्मित नियमों को अवैध घोषित कर सकता है।	8. संसद द्वारा निर्मित किसी नियम को न्यायालय अवैध घोषित करने की शक्ति नहीं रखता है।

(गुण और अवगुण की दृष्टि से)

कठोर	नम्य
1. इसमें परिस्थितियों के अनुकूल अपने को समायोजित करने की क्षमता नहीं नहीं होती है।	1. इस लोचशीलता के कारण परिवर्तित परिस्थितियों के साथ अपने को समायोजित करने की क्षमता होती है।
2. विप्लव उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है।	2. विप्लव की सम्भावना कम होती है।
3. यह रूढ़िवादी होता है।	3. यह रूढ़िवादी नहीं होता है।
4. राष्ट्र की मानसिक स्थिति का अत्युत्तम प्रतिबिंब नहीं होता है।	4. राष्ट्र की मानसिक स्थिति का सही प्रतिनिधित्व करता है।
5. राजनैतिक दलों का शिकार नहीं बन पाता।	5. राजनैतिक दलों के हाथों में खिलौना मात्र रह जाता है।
रहती है।	6. स्थिरता का अभाव रहता है।

7. सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है।	7. राजनैतिक दृष्टि से अशिक्षित व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं है।
8. न्यायालय का हस्ताक्षेप रहता है।	8. न्यायालय के हस्ताक्षेप से मुक्त रहता है।
9. प्रजातंत्र के लिए अति उत्तम है।	9. प्रजातंत्र के लिए अति उत्तम नहीं है।
10. अधिकारों की सुरक्षा रहती है।	10. अधिकारों की सुरक्षा कम रहती है।

(5) एकात्मक तथा संघात्मक संविधानः— संविधानों का वर्गीकरण इस आधार पर भी किया जाता है कि केन्द्र और राज्य सरकार की शक्तियों का विभाजन किस आधार पर हुआ है। इस आधार पर संविधानों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—एकात्मक (*Unitary*) तथा संघात्मक (*Federal*) *एकात्मक संविधानों में शक्तियाँ केन्द्रित रहती हैं।* शासन की शक्तियाँ अपने अधिकार केन्द्र से ही प्राप्त करती है। केन्द्रीय सरकार की इच्छा की पूर्ति की दृष्टि से स्थानीय सरकारों का गठन किया जाता है। वे पूरी तरह से केन्द्र की इच्छा के अधीन रहती हैं। उनके अधिकार एवं कर्त्तव्यों में परिवर्तन का एक मात्र अधिकार केन्द्र को ही होता है। सार्वभौमिकता केन्द्र में नीहित रहती है। प्रांतों की शक्तियों का स्वरूप केवल प्रशासकीय होता है। एक नागरिकता का सिद्धांत भी एकात्मक संविधान की व्यवस्था में अपनाया जाता है। इंगलैंड, जापान तथा श्रीलंका में इसी प्रकार के संविधान पाये जाते हैं।

इसके विपरीत *संघात्मक संविधान* वह संविधान है *जिसकी उत्पत्ति एक से अधिक* राज्य सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए करते हैं। संघात्मक व्यवस्था तब पैदा होती है जब कुछ पूर्व स्वतन्त्र राज्य अपनी सार्वभौमिकता का विलय, एक नूतन राज्य की सृष्टि के लिए, कर डालते हैं। संघ में सम्मिलित होने वाला प्रत्येक राज्य अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रहता है। इसमें सामान्य हित के विषय केन्द्र को तथा स्थानीय महत्व के विषय राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। संविधान लिखित एवं दुष्परिवर्तनशील होता है और दोहरी नागरिकता होती है। अमेरिका जैसे संघों में राज्य विधान मंडलों को भी संविधान में संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार प्राप्त है। इसमें उच्चतम न्यायालय की भी व्यवस्था की जाती है जो संविधान को संरक्षण प्रदान करता है। इसमें केन्द्र और संघ की अन्य इकाइयों के अधिकार सीमित होते हैं।

किन्तु प्रो. के. सी. ह्वीयरे ने लिखा है संविधानों का यह वर्गीकरण भी संतोषप्रद न होकर *भ्रमात्मक है। एकात्मक संविधान में भी स्थानीय* सरकारों को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त रहते हैं तथा विकेन्द्रीकरण की ऐसी व्यवस्था पायी जाती है कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि क्या उसका वास्तविक स्वरूप एकात्मक ही है। इसके विपरीत संघात्मक संविधान कागज पर इतने विकेन्द्रित रहते हैं और व्यवहार में इतने केन्द्रित कि उन्हें सरलता से संघात्मक संविधान नहीं कहा जा सकता। भारत का संविधान संघात्मक होते हुए भी एकात्मक है। इसी प्रकार सोवियत रूस का संविधान अत्यन्त संघात्मक होते हुए केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। अतः हमें संविधान के स्वरूप तक न रहकर उसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार करना चाहिए।

(5) गणतंत्रात्मक तथा अगणतंत्रात्मक—गणतंत्रात्मक संविधान उन संविधान को कहते हैं जिन संविधान में राष्ट्र का प्रधान किसी निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित होता है अमेरिका, भारत, फ्रांस आदि देशों के संविधान गणतन्त्रात्मक संविधानों की श्रेणी में आते हैं। इसके विपरीत नेपाल, इंग्लैंड, ईरान, जोर्डन आदि देशों के संविधान अगणतन्त्रात्मक कहलायेंगे क्योंकि वहाँ राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा सम्पन्न नहीं होता।

उत्तम संविधान की विशेषतायें

(Regulrites of a good Constitution)

एक अच्छे संविधान में क्या होना चाहिए यह राजनीति शास्त्र के अन्य विवादास्पद प्रश्नों की भाँति एक कठिन प्रश्न है इस संबंध में दो दृष्टिकोण हैं—एक दृष्टिकोण के प्रदान करने वाले अमरीकी सुप्रीम कोर्ट के जन्मदाता जॉन मार्शल थे। उनका मत था कि एक अच्छे संविधान को कानून मूलक हो रहना चाहिए तथा उसमें व्यर्थ की बातों को नहीं भरना चाहिए। इससे संविधान में संक्षिप्तता भी बनी रहेगी और किसी प्रकार का कोई भ्रम भी उत्पन्न नहीं होगा तथा न्यायिक विवेचनाओं की सहायता से संविधान आगे बढ़ता भी रहेगा। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि संविधान अधिक से अधिक व्यापक होना चाहिये और उसमें प्रत्येक बात का सविस्तार वर्णन होना चाहिए। ऐसा करने से संविधान में विश्वास उत्पन्न होगा और उसका मार्ग भी प्रशस्त रहेगा। प्रो. गेटेल ने उत्तम संविधान की निम्नलिखित विशेषताएं बतलाई हैं—

(1) लिखित होना—एक उत्तम संविधान का प्रथम लक्षण यह है कि वह लिखित होना चाहिए। लेकिन लिखित संविधान अपनी उपादेयता प्रमाणित करने में तभी सफल हो सकता है जबकि उसकी रचना देश की राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर की गई हो। जिससे कि संविधान प्रत्येक समस्या का समाधान कर सकता है।

(2) स्पष्टता—उत्तम संविधान में राज्य के संगठन, उसका स्वरूप, उसके विविध अंगों की शक्तियों, नागरिक अधिकारों आदि के बारे में स्पष्टता रहती है। इससे वाद-विवाद का अवसर कम आता है क्योंकि इसमें संविधान की अधिकतर बातें स्पष्ट एवं असंदिग्ध होती है।

(3) दृष्टिकोण की व्यापकता—उत्तम संविधान के लिए यह आवश्यक है कि उसमें शासन का सम्पूर्ण एवं स्पष्ट चित्र होना चाहिए। संविधान की रचना करते समय विधान के विभिन्न तत्वों के प्रति व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

(4) निश्चितता—उत्तम संविधान में संविधान के हर विषय का निश्चत विवरण रहना चाहिए ताकि कानून को समझने में आसानी रहे तथा उसकी सुरक्षा भी संभव हो।

(5) सूक्ष्मता—संविधान का आवश्यकता से अधिक विस्तृत एवं विवरण युक्त होना अच्छा नहीं है अर्थात् वह सूक्ष्म होना चाहिये। किन्तु सूक्ष्मता से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें स्पष्टता एवं व्यापकता का अभाव हो जाय। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि उसमें व्यर्थ की बातों का समावेश नहीं करना चाहिए।

(6) **परिस्थितियों में सामंजस्य.**—संविधान में परिवर्तनशीलता का अंश अवश्य होना चाहिए ताकि उसे परिवर्तित, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के साथ ढाला जा सके उसमें ऐसे संशोधन यथा संभव तथा समयानुकूल किया जा सके जिससे समाज के लिए उसकी उपयोगिता निरंतर बनी रहे। जो आज हमारे लिए उपयुक्त है, वह कल भी हमारे लिए उपयुक्त रहेगा, यह निश्चित नहीं है। जिस संविधान में यह क्षमता व्यवस्था नहीं है वह समय के साथ नहीं चल सकता और समाज का हित अच्छी प्रकार से नहीं कर सकता।

(7) **परिवर्तनशीलता:**—उत्तम संविधान वह है जो समय की मांग को परिलक्षित करे। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। समय के अनुसार नयी-नयी आवश्यकता पैदा होती है। अतः संविधान को परिवर्तित परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहना चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है जबकि उसके अंदर संशोधनों के माध्यम और रीति-रिवाजों की क्षमता हो। स्थायी संविधान शासन को संकीर्ण बना देता है। यह जनता के अनुकूल नहीं रहने के कारण इसमें क्रांति का भय रहता है। अतः उत्तम संविधान के लिए परिवर्तनशीलता का गुण अति आवश्यक है।

(8) **मौलिक अधिकारों की घोषणा:**—उत्तम संविधान में नागरिकों के अधिकारों की स्पष्ट घोषणा होनी चाहिये। नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक संविधान को ही उत्तम संविधान कहा जा सकता है। इसके लिए हर संविधान को नागरिकों के अधिकारों की घोषणा तथा उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिये।

(9) **न्यायालय की स्वतंत्रता:**—न्यायालय की स्वतन्त्रता भी उत्तम संविधान का एक मुख्य लक्षण है। न्यायपालिका संविधान का अभिभावक तथा नागरिक अधिकारों की संरक्षक है अतः संविधान में उसकी स्वतन्त्रता की गारंटी के लिए व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

अध्याय 15

प्रतिनिधित्व तथा निर्वाचन

(Representation and Election)

(1) मताधिकार के सिद्धांत

(2) वयस्क मताधिकार

(3) महिला मताधिकार

(4) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन

(5) बहुल एवं गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली

(6) डाक द्वारा मताधिकार

(7) अनिवार्य मतदान

(8) सार्वजनिक एवं गुप्त मतदान

(9) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र एवं बहुसदस्यीय निर्वाचन के गुण-दोष

(10) अल्प संख्यकों के प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ

- (i) आनुपातिक प्रतिनिधित्व
- (ii) सूची प्रणाली
- (iii) सीमित मत प्रणाली
- (iv) संचित मत प्रणाली
- (v) पृथक निर्वाचन प्रणाली
- (vi) सुरक्षित स्थान युक्त निर्वाचन प्रणाली

उप निर्वाचन

प्रतिनिधित्व प्रणाली के लिए आवश्यक शर्तें

प्राचीनकाल में अधिकांश राज्यों में राजतंत्रात्मक प्रणाली थी। राजा और उसके द्वारा नियुक्त कर्मचारी शासन का संचालन करते थे। भारत में वैशाली तथा यूरोप मे ग्रीस के नगर राज्यों में प्रजातांत्रिक प्रणाली भी थी तो वह प्रत्यक्ष प्रणाली थी क्योंकि उनका स्वरूप बहुत छोटा था। आधुनिक युग में अधिकांश राज्यों की शासन प्रणाली प्रजातांत्रिक है अर्थात् जनता द्वारा उनके शासन का संचालन होता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से जनता शासन संचालन में भाग नहीं लेती है क्योंकि आज के कई राज्य, क्षेत्र और जनसंख्या दोनों ही दृष्टि से बहुत बड़े हैं अतः जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से शासन मे भाग न लेकर अपने द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों पर शासन संचालन के कार्य का दायित्व डालती है। जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों के चुनाव की रीति को ही निर्वाचन कहा जाता है।

मताधिकार के सिद्धान्त (Theories of Franchise)—मताधिकार के सम्बन्ध मे सर्वसम्मत आधार नहीं है। इसके सम्बन्ध में निम्न दो प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हैं—

प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि चूंकि राज्य के कानून और नीतियां सबको प्रभावित करती है उसका निर्णय भी सबको करना चाहिए। अतः जनता के सभी वर्गों के हित संरक्षण हेतु सभी को मतदान का अधिकार मिलना चाहिए।

द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार मताधिकार जन्म सिद्ध अधिकार नहीं है। यह राज्य द्वारा प्रदत्त एक पवित्र अधिकार है जिसके द्वारा विवेक पूर्ण तरीके से प्रतिनिधि का निर्वाचन किया जाता है। अतः यह अधिकार योग्य व्यक्तियों को ही दिया जाना चाहिये।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार व्यापक मतदान का समर्थन किया गया है परन्तु यहाँ व्यापक मतदान से अभिप्राय वयस्क व्यापक मतदान से है। दूसरे सिद्धान्त का आशय है कि मताधिकार राज्य द्वारा ऐसे लोगों को प्रदान किया जाना चाहिये जो सार्वजनिक हित के लिये इसे सर्वाधिक योग्यता के साथ प्रयुक्त करने की योग्यता रखते हों। सार्वजनिक हित में मतदान की क्या योग्यता होनी चाहिए, इसके लिए एकमत नहीं हैं। अलग-अलग राज्यों ने अलग-अलग कानून बना रखे हैं। सही रूप में देखा जाय तो वयस्क मताधिकार ही लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धान्त होना चाहिये यद्यपि इसमें भी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग मतदान से वंचित रह जाता है। व्यवहार में प्रायः मताधिकार के सम्बन्ध में प्रायः निम्न बातों संबंधी प्रतिबन्ध पाये जाते हैं।

(1) आयु(Age)—इस सम्बन्ध में सर्व सम्मत विचार है कि बच्चों को मत देने का अधिकार नहीं होना चाहिए क्योंकि उनमें सूझबूझ, बुद्धि तथा योग्यता की कमी रहती है। अतः वयस्क होने तक उनको मताधिकार नहीं दिया जा सकता है। पर कितनी आयु वाले को वयस्क समझा जाए इस सम्बन्ध में विभिन्न काल और देश के अनुसार विभिन्न

मत है। 1814 ई. में फ्रांस में 30 वर्ष की आयु वाले को मताधिकार था। 1830 ई. में यह आयु 25 वर्ष और 1848 ई. में 21 वर्ष करदी गई। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी, बेल्जियम आदि अन्य यूरोपीय देशों में यह आयु सीमा 25 वर्ष निश्चित की गई थी। वर्तमान काल में इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस भारत आदि देशों में यह आयु 21 वर्ष निर्धारित की गई है जबकि रूस में 18 वर्ष और स्विटजरलैंड में 20 वर्ष है। आज इसे अधिकांश देशों में 18 वर्ष निर्धारित करने की मांग प्रबल हो रही है।

(2) सम्पत्ति (Property)—सैकी तथा मिल ने मताधिकार के लिए सम्पत्ति को महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि जिनके पास सम्पत्ति है उन्हें समाज की व्यवस्था व शांति की अधिक चिन्ता होती है और अराजकता फैलने पर उन्हें ही सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। जिनके पास शांति भंग होने पर नष्ट होने के लिए कोई वस्तु नहीं है उन्हें समाज की व्यवस्था की परवाह नहीं होती है अतः राजनीतिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्ति की योग्यता रखने वाले लोगों को ही राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए। जे. एस. मिल ने लिखा है, "मताधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो किसी न किसी रूप में सरकार को कर देते हैं। ऐसे लोगों को जो किसी भी प्रकार का कर नहीं देते, राज्य में राजनैतिक अधिकार भी नहीं मिलने चाहिए, क्योंकि उनकी गांठ से पैसा जाता नहीं इसलिए उन्हें उसकी परवाह नहीं होती और वह मितव्ययता से काम नहीं ले सकते।"[1]

परन्तु आधुनिक युग में सम्पत्ति पर आधारित मताधिकार का सिद्धान्त अमान्य ठहरा दिया गया है। शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति निर्धनों का खून चूस कर सम्पत्ति एकत्रित कर लेते हैं। रस्किन ने लिखा है कि पहले सब मनुष्यों के पास बराबर सम्पत्ति थी, फिर धीरे-धीरे छल पूर्वक बलवान लोगों ने निर्बलों की सम्पत्ति को हड़पना शुरू किया। इस प्रकार समाज में असमानता उत्पन्न हुई।

(3) शिक्षा (Education)—मताधिकार उन लोगों को मिलना चाहिए जो शिक्षित हों क्योंकि शिक्षित व्यक्ति ही राजनैतिक समस्याओं का सही रूप में मूल्यांकन कर सकते हैं। अशिक्षित व्यक्ति इस योग्य नहीं होते हैं कि वे राजनैतिक समस्या को ठीक से समझ सकें और न उनमें उतनी क्षमता होती है कि वे परिपक्व प्रकार के निर्णय दे सकें। इसलिए मतदाता के विषय में उनके निर्णय भी उनके राजनैतिक समस्याओं के अज्ञान पर आधारित होने के कारण अशुद्ध होते हैं। प्रशासकीय सूत्र का निर्देशन तथा नियन्त्रण ऐसे अशिक्षित व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के हाथ में छोड़ देना देश के लिए कभी भी घातक सिद्ध हो सकता है। आधुनिक युग में मतदाता के लिए शिक्षा का महत्व और भी अधिक है

1. "It is important that the assembly which notes the taxes either general or local, should be elected exclusively by those who pay something towards the tax imposed. Those who pay no taxes, disposing of by their votes other peoples' every motive to be lavish and none to economise"

—J. S. Mill

क्योंकि राजनैतिक समस्या के विषय में राजनैतिक दलों के प्रचार को समझने के लिए मतदाता को शिक्षित होना चाहिए। जे. एस. मिल कहता है कि शिक्षित व्यक्तियों को एक से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए।

परन्तु आधुनिक युग मे शिक्षा पर आधारित मताधिकार का सिद्धांत अमान्य ठहराया गया है। मताधिकार के उचित तथा विवेकपूर्ण प्रयोग के लिए मतदाता का शिक्षित होना अनिवार्य है लेकिन यह निश्चित करना कठिन है कि मतदाता के लिए शिक्षा का स्तर क्या होना चाहिए। ब्राइसलास्की तथा फाइनर आदि लेखकों ने मिल के विचारों से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि मत का सम्बन्ध बहुत कुछ हमारी भावनाओं से है जिनकी पूर्ति शिक्षा सम्बन्धी योग्यता की शर्तें लगा देने से नहीं हो सकती। यह भी नही माना जा सकता है कि शिक्षित वर्ग द्वारा किये गये निर्णय सदैव ही प्रबुद्ध पूर्ण होते हैं। मताधिकार में हमें शिक्षा की नहीं वरन् सामान्य विवेक तथा सामान्य निर्णय करने की क्षमता की आवश्यकता होती है। यह मान लेना गलत है कि शिक्षित व्यक्ति ही राजनैतिक समस्याओं को सुलझा सकते हैं अतः शिक्षा को मताधिकार का आधार स्वीकार करना बड़ी भारी भूल है। अतः मताधिकार के विवेकपूर्ण प्रयोग के लिए मतदाता का शिक्षित होना आवश्यक है फिर भी शिक्षा की योग्यता मताधिकार के लिए अनिवार्य नहीं कही जा सकती। यदि इसे अनिवार्य मान लिया जाय तो मतदाताओं की बहुत बड़ी संख्या इसके अयोग्य हो जायेगी तथा लोकतंत्र उपहास बन कर रह जायगा।

(4) धर्म (Religion)—धर्म सम्बन्धी योग्यता को भी मताधिकार का आधार माना गया है। पहले कुछ राज्यों में मताधिकार उन्हीं लोगों को दिया जाता रहा है जो राज्य द्वारा समर्थित धर्म के अनुयायी हो परन्तु आधुनिक युग में मताधिकार का आधार धर्म नहीं माना जाता है। परन्तु निर्वाचित होने के लिए धार्मिक योग्यता की बात आज भी कुछ राज्यों में लागू है। स्वयं इंग्लैंड में गिरजाघरों के अधिकारी मंत्री और रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी लोकसभा के सदस्य नहीं हो सकते, नेपाल मे एक हिन्दू और पाकिस्तान में एक मुसलमान ही राष्ट्रपति हो सकता है परन्तु आज अधिकांश राज्यों की प्रवृत्ति धर्म प्रधानता से हटकर निरपेक्षता की ओर है तथा धर्म को मताधिकार की योग्यता अथवा अयोग्यता का आधार नहीं मानती हैं।

(5) नस्ल (Racial)—कुछ देशों में मतदाताओं की योग्यता का आधार नस्ल रखा जाता है और उसके अनुसार किसी नस्ल-विशेष के लोगों को मत देने का अधिकार दिया जाता है तथा अन्य नस्ल वालों को मताधिकार से वंचित रखा जाता है। उदाहरणार्थ अमेरिका के दक्षिणी राज्यो में नीग्रो [illegible] के व्यक्तियों को इस प्रकार के अधिकार से वंचित रखा जाता है, जर्मनी [illegible] का अधिकार हिटलर ने छीन लिया था, दक्षिणी अफ्रीका में अब [illegible] प्त है किंतु आधुनिक युग मे धर्म और नस्ल के ये [illegible] जहाँ भी इस प्रकार का मतभेद है वहां इनके विरु[illegible] करने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं।

(6) लिंग (Sex)—बहुत से राज्यों में लिंग को मताधिकार का आधार माना जाता रहा है और केवल पुरुषों को ही मतदान का अधिकार दिया जाता रहा है। स्वीट्जरलैंड में यह सिद्धान्त आज भी मान्य है। यूरोप के अनेक राज्यों में जहाँ रोमन कैथोलिक धर्म का प्राधान्य है केवल पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है और स्त्रियाँ मताधिकार से वंचित है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही स्त्री मताधिकार के लिए आंदोलन अति तीव्र हो गया है। 1950 तक विश्व के सभी राष्ट्रों ने, कुछ अपवादों को छोड़कर, स्त्री मताधिकार को स्वीकार कर लिया है। फिनलैंड में 1907 में उन स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिल गया था जो कर देती थी और जिन्होंने 24 वर्ष की अवस्था प्राप्त कर ली थी। 1915 तक डेनमार्क में भी यह अधिकार स्त्रियों को प्राप्त हो गया था। ब्रिटेन में स्त्रियों को यह अधिकार सीमित रूप से 1918 में उपलब्ध हुआ तथा 1924 तक पुरुष और स्त्रियों राजनैतिक दृष्टि से सारे व्यवधान समाप्त हो गये। रूस मे 1918 में हा 18 वर्ष प्रत्येक स्त्री को मताधिकार प्राप्त हो गया था। 1919 में जर्मनी में स्त्रियों को मत देने अधिकार दिया गया। आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया तथा पोलैंड के नवीन संविधानों ने स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया। आइरिश संविधान ने 1922 में, रूमानियाँ ने 19 में तथा स्पेन ने 1931 में स्त्री-मताधिकार को स्वीकार कर लिया। फ्रांस में स्त्रियों मत देने का अधिकार 1946 में चतुर्थ गणतन्त्र के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। भार के नवीन संविधान ने भी इसे गणराज्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

(7) आवास (Residence)—कुछ देशों में मताधिकार के लिए आवास योग्यता निश्चित की गई है। अमरीकी प्रतिनिधि सभा के लिए यह आवश्यक है उम्मीदवार जिस राज्य से निर्वाचित होना हो, उस राज्य का निवासी होना चाहिये इसके विपरीत भारत में आवास को अनिवार्य नहीं बनाया गया है। किसी एक क्षेत्र क निवासी दूसरे क्षेत्र से ही नहीं, बल्कि एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य से भी खड़ा हो सकता है।

(8) पद (Office)—अधिकांश राज्यों में यह बंधन लगा दिया गया है कि कुछ विशेष पदों पर आसीन अधिकारी व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं हो सकते हैं उदाहरणार्थ भारत में कोई भी व्यक्ति जो सरकारी या किसी लाभ के पद पर हो विधान मंडल का सदस्य नहीं हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मंत्रीगण कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते हैं।

(9) चुनाव दुराचरण--निर्वाचन के लिये न्यायपूर्ण आचरण और नियमों का पालन आवश्यक है। जो प्रत्याशी चुनाव में इन नियमों को भंग करता है, उसे अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। चुनाव दुराचरण का निर्धारण स्वतंत्र न्यायालय द्वारा किया जाता है।

(10) अनुभव (Experience)—मारती का कहना था कि अनुभवी व्यक्ति को ही ... के चुनाव में खड़ा होने की अनुमति मिलनी चाहिये। विधान मण्डल हेतु

किसी भी प्रतिनिधि को स्थानीय संस्थाओं में काम करने का कम से कम तीन वर्ष का अनुभव अवश्य होना चाहिये।

वयस्क मताधिकार
(Adult Suffrage)

आज अधिकांश जनमत इस पक्ष में है कि प्रत्येक बालिग को मताधिकार दिया जाय। यदि राज्य के समस्त वयस्क व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्राप्त हो तो उसे वयस्क अथवा सार्वजनिक मताधिकार कहा जायेगा। वयस्क मताधिकार को ही सर्व-साधारण मताधिकार कहा जाता है। इसके अनुसार अल्प वयस्क, विक्षिप्त दिवालिये अपराधी और विदेशी लोग ही मताधिकार से वंचित रखे जाते हैं। तथा निश्चित आयु के सभी स्त्री पुरुषों को मतदान का अधिकार प्रदान किया जाता है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क
(Arguments In Favour of Adult Franchise)

(1) प्रजातन्त्र के सिद्धांतों के अनुकूल—वयस्क मताधिकार प्रजातन्त्र के सिद्धांतो के अनुकूल है। प्रजातन्त्र जनता का शासन है। जनता द्वारा ही शासन का संचालन होना चाहिये लेकिन आकार और जनसंख्या की विशालता के कारण सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य मे भाग नहीं ले सकते अतः अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से वे शासन में भाग लेते हैं। प्रतिनिधियों में चुनाव के लिए उन्हे मत देने का अधिकार होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब सार्वजनिक मताधिकार के सिद्धांत को प्रश्रय दिया जाय।

(2) पूर्ण लोकतन्त्र का निर्माण होना— वयस्क मताधिकार के पक्ष में एक प्रबल तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि इसके माध्यम से पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना होती है। यदि लोकतंत्र ऐसा शासन है जिसमें सम्प्रभुता जनता के पास है तो लोकतन्त्रीय राज्य के लिये वयस्क मताधिकार रखना आवश्यक है यदि मताधिकार के साथ सम्पत्ति आदि की कोई शर्त लगा दी जाती है तो उसे नियन्त्रित लोकतंत्र कहा जायगा। यदि समस्त व्यक्तियों को मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता तो हम उसे पूर्ण लोकतंत्र की संज्ञा नहीं दे सकते। वह अधिक से अधिक अर्द्ध लोकतंत्र है। पूर्ण लोकतंत्र का निर्माण केवल तभी सम्भव हो सकता है जबकि मत देने का अधिकार सबमें निहित हो और वह है वयस्क मताधिकार की पद्धति।

(3) व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य—वयस्क मताधिकार की पद्धति व्यक्तित्व विकास के लिये भी आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रगतिशील शासन व्यवस्था में अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए पूर्ण अवसर एवं सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास तभी सुलभ बना सकता है जबकि उसे शासकीय कार्यों में भाग लेने का अधिकार दिया जाय। इस अभाव के कारण उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं होता।

(4) समानता के सिद्धांत की पूर्ति—वयस्क सार्वजनिक मताधिकार समानता के सिद्धांत की पूर्ति करता है प्रजातंत्र में सभी नागरिक बराबर हैं। सरकार के निर्माण तथा उसके संचालन में सभी को समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए केवल वयस्क मताधिकार ही नागरिकों को ऐसा अवसर प्रदान करता है।

(5) सीमित मताधिकार से केवल अल्पसंख्यकों को लाभ—सीमित मताधिकार से केवल अल्पसंख्यकों को लाभ होता है जिस राज्य में कुछ ही व्यक्तियों को मताधिकार दिया जाता है, उसका तात्पर्य यह है कि अन्य व्यक्तियों को उस राजनैतिक अधिकार से वंचित रखा जाता है। जिनके पास मत देने का अधिकार होगा, वे ही शक्ति का प्रयोग करने में सफल होंगे। ये विशेष वर्ग के मताधिकारी राजकीय शक्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित के लिए न करके व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिये करेंगे। अतः कुछ व्यक्तियों के हाथों में जो राज्य की शासन सत्ता हो उससे न्याय प्रियता की आशा करना व्यर्थ है।

(6) राष्ट्र प्रेम की शिक्षा—वयस्क मताधिकार नागरिकों को राष्ट्र प्रेम की शिक्षा देता है। निर्वाचन में भाग लेने के कारण नागरिक अपने को शासन तथा राष्ट्र का अंग समझने लगते हैं और उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत होती है।

(7) धन प्रभावहीनः—सार्वजनिक मताधिकार के अन्तर्गत धनी व्यक्ति मतदाताओं की संख्या की अधिकता के कारण प्रभावित नहीं कर सकते हैं। अर्थात् इस व्यवस्था में धन द्वारा मत खरीदने की संभावना कम हो जाती है।

(8) नीतियों के निर्माण में सबका हाथ होना आवश्यकः—जब तक वयस्क मताधिकार की व्यवस्था नहीं होती, तब तक शासकीय नीतियों के निर्माण में भाग लेने का प्रत्येक को अवसर उपलब्ध नहीं होता। राष्ट्रीय नीतियों का सबंध सबसे हैं, अतः उनका निश्चय सबके द्वारा सम्पन्न होना चाहिये। वस्तुतः इसी से राष्ट्रीय प्रेम का विकास होगा तथा नागरिकों में व्याप्त मानसिक उदासीनता दूर होगी। जनता के किसी वर्ग को इससे वंचित रखना उसके अधिकारों को छीनना है।

(9) नागरिकों में स्वाभिमान की भावना की जागृतिः—सार्वजनिक मताधिकार नागरिकों में स्वाभिमान की भावना पैदा करता है। चुनाव के समय जनता यह महसूस करती है कि राज्य की अंतिम शक्ति उसी के हाथ में है यह व्यवस्था जनता को अपनी वास्तविक शक्ति का ज्ञान कराती है।

वयस्क मताधिकार के, विरूद्ध तर्क
(Argument against Universal Adult Suffrage)

1) शासन मूर्खों, अयोग्यों तथा दारिद्रों के हाथ में:—साधारण जनता अशिक्षित तथा अज्ञानी होती है। वह न तो अपने मतों का महत्व समझ सकती है और न ही उसका प्रयोग समुचित रूप से कर सकती है। अतः हाथ में शासन की अन्तिम बागडोर देने का है शासन को मूर्ख, अयोग्य और दरिद्र व्यक्तियों के हाथ सुपुर्द करना।

(2) शासन सम्बन्धी प्रश्नों की-जटिलता —वयस्क मताधिकार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि साधारण व्यक्तियों में कानून की जटिलता को समझने की क्षमता नहीं होती। आज का कानून तथा प्रशासन इतना उलझा हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे समझने की क्षमता नहीं रखता। इसके अलावा आज प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इतनी व्याप्तता आ गई है कि उसके पास समय का प्रायः इतना अभाव है कि वह शासन की जटिल समस्याओं के बारे में विचार ही नही कर सकता है।

(3) विवेकहीन तथा घातक.—कुछ विचारकों का कहना है कि वयस्क मताधिकार प्रणाली विवेकहीन और घातक है। इस व्यवस्था में मतदाताओं से विवेकपूर्ण आचरण की आशा नहीं की जा सकती है। सामान्य व्यक्ति प्रायः मतदान का प्रयोग बिना विचारे तथा दूरगामी परिणामों को सोचे बिना ही करते हैं।

(4) केवल सीमित व्यक्तियों को मताधिकार.—मताधिकार को एक पवित्र कर्त्तव्य माना गया है। अतः इसका प्रयोग भी सार्वजनिक हित मे किया जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में मताधिकार केवल उन्ही व्यक्तियों को मिलना चाहिये जो इसका उपयोग सतर्कता के साथ करे।

(5) स्त्री-मताधिकार का विरोध:—कुछ विद्वानों का मत है कि स्त्रियों को मताधिकार दिया गया तो उससे पारिवारिक शांति तो भंग होगी ही किन्तु साथ ही साथ मत का प्रयोग दोहरा हो जायगा।

उनके अनुसार स्त्रियों का कार्य क्षेत्र घर तथा परिवार तक सीमित है उन्हें सामाजिक या राजनैतिक मामलों में घसीटना उचित नहीं है। साथ ही मानसिक तथा शारीरिक कमजोरियों के कारण स्त्रियाँ राजनैतिक उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकती। अतः उन्हें मत देने का अधिकार नहीं देना चाहिये।

(6) सम्पत्ति स्वामियों के साथ अन्याय:—इस सिद्धांत के समर्थक मिल (J. S. Mill) हैं उनका कहना है कि मताधिकार के साथ-साथ सम्पत्ति विषयक आहर्यता अवश्य लगाई जाय क्योंकि जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति नहीं होती तथा जो कर नहीं देते उनमें अनुत्तरदायित्व की भावना का आधिक्य पाया जाता है। मिल का कहना है कि राजनैतिक जीवन में शिक्षित तथा अशिक्षित को यदि एक ही स्तर पर रखा गया तथा जिनके पास सम्पत्ति है और जिनके पास सम्पत्ति नहीं है उनके निर्वाचन में समानाधिकार दिए गए, तो वह अन्यायपूर्ण होगा। जनता में शिक्षा तथा उत्तरदायित्व के प्रति कोई उत्साह नही रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वयस्क मताधिकार के विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण ही नहीं है अपितु, असमाजवादी, अलोकतन्त्रीय तथा पूंजीवादी मनोवृत्ति के हैं। मताधिकार एक पवित्र जन्मसिद्ध अधिकार है जिस पर धन अथवा सम्पत्ति की शर्त लगाना न्याय संगत नहीं है। मताधिकार का प्रयोग तो बहुत कुछ सामान्य योग्यता पर निर्भर करता है। वास्तव में उच्चशिक्षा तथा विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक योग्यता राजनैतिक क्षेत्र में अज्ञानता के विरुद्ध कोई गारंटी नहीं है। टी. ई. स्मिथ

ने अपनी पुस्तक (Elections in Developing Countries) में लिखा है कि "एशिया, अफ्रीका तथा पश्चिमी द्वीप समूहों के मिश्रित अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया कि लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए विस्तृत शिक्षा एवं साक्षरता कोई आवश्यक शर्तें नहीं है।" (The Combined experience of Asia, Africa and the West-Indies clearly demonstrates that widespread education and literacy are not essential Conditions for the successful working of democracy) वयस्क मताधिकार की व्यवस्था लोकतन्त्र की अनिवार्य दशा है। इसके बिना लोकतन्त्र खोखला होकर रह जायगा। अतः लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए वयस्क मताधिकार की उचित व्यवस्था करनी होगी।

महिला मताधिकार
(Women Suffrage)

महिला मताधिकार का प्रयोग 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शुरू हुआ है तथा 1950 तक लगभग सभी राष्ट्रों ने स्त्री मताधिकार को स्वीकार कर लिया है। स्त्रियों को मताधिकार दिया जाना चाहिये अथवा नहीं, यह विषय अत्यन्त विवाद ग्रस्त है। जो लोग इस मत को मानते हैं कि स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिए वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

स्त्री मताधिकार के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Women Frenchise)

(1) स्त्रियों को सरकार से पृथक करना अनुचित:—लोकतन्त्र जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है। जनता में स्त्री और पुरुष दोनों शामिल हैं। सरकार दोनों ही वर्गों की समस्याओं से सम्बन्धित है। जो बात दोनों वर्गों (स्त्री तथा पुरुष) से सम्बन्धित हो उस पर विचार एवं निर्णय दोनों के द्वारा होना चाहिये। अगर स्त्रियों को मत देने का अधिकार नहीं होगा तो वे सरकार के प्रति उदासीन हो जायेंगी। स्त्री मताधिकारके अभाव में प्रजातन्त्र सफल नहीं कहा जा सकता है। स्त्री और पुरुषों में प्रकृति के अनुसार कोई अंतर नहीं है। अतः दोनों को मताधिकार का समान अधिकार मिलना चाहिये। सिजविक ने लिखा है,"स्त्रियों को केवल इस आधार पर मत के अधिकार से वंचित करना अनुचित है कि वे स्त्रियाँ हैं, यदि उनमें अन्य प्रकार की योग्यताएँ हैं। आज औद्योगिक युग में स्त्रियों को विशेषाधिकार तथा सुरक्षा नहीं देना अन्याय होगा।"[1]

(2) स्त्रियों को अधिक सुरक्षा की आवश्यकता:—जे. एस. मिल का कहना था कि स्त्रियों को पुरुषों से अधिक अधिकार मिलने चाहिये। क्योंकि स्त्रियाँ शरीर से दुर्बल होती हैं। अतः उन्हें पुरुषों की अपेक्षा सुरक्षा की अधिक आवश्यकता होती है। जे. एस. मिल ने लिखा है, "मैं राजनैतिक अधिकारों के संबंध में स्त्री और पुरुष के भेद को उतना

1. "I see no adequate reason for refusing the franchise to any selfsupporting adult, otherwise eligible, on the score of sex alone; and there is a danger of material injustice resulting from such refusal. —Sidgewick

प्रकार अनुचित मानता हूँ जिस प्रकार बालों के रंग को।" अगर स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया जायगा तो स्त्रियाँ अपने स्वार्थों के लिए संघर्ष भी कर सकेंगी। इस अधिकार से उनमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता तथा नैतिक गुणों का विकास होगा। अतः स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिये।

(3) समस्त जनता का लाभ :—व्यवहारिक रूप में देखा गया है कि जहाँ कहीं भी महिला मताधिकार को स्वीकार किया गया है वहाँ स्वाभाविक रूप से स्त्रियों की दशा में तो सुधार हुआ है किन्तु साथ ही उन्होंने समाज के निर्बल वर्गों के लिए कानून बनवाने में विशेष रूप से भाग लिया है। इस प्रकार सार्वजनिक कल्याण के लिए महिला मताधिकार का काफी योगदान रहा है।

(4) परिशोधक प्रभाव :—कुछ विद्वानों का मत है कि राजनीति में महिलाओं के आने से समाज की बहुतसी बुराइयाँ परिष्कृत हो जायेंगी। राजनैतिक व्यवहार में निष्ठा, विश्वास तथा स्निग्धता के व्यवहार को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। विनीत स्वभाव का फिर से उदय होगा। मन के साथ कार्य करने तथा शिक्षा के क्षेत्र में संवेदना एवं सहनशीलता के अनुपम गुणों का विकास होगा स्त्रियों के संसर्ग में मानवतावादी दृष्टिकोण पल्लवित होगा और भौतिकवाद का भूत लौकिकतावाद के प्रभाव के सम्मुख कमजोर पड़ जाएगा।

(5) महिला मताधिकार से कुटुम्ब पर स्वास्थ्य प्रभाव :—महिला मताधिकार के विरुद्ध कुछ आलोचकों का कहना था कि इससे परिवार की शांति भंग हो जायगी और स्त्री पति की सहगामिनी होने के स्थान पर विरुद्धगामिनी होगी। किन्तु यह तर्क उपयुक्त नहीं है। इसके विपरीत स्त्री-मताधिकार का परिवार पर स्वस्थ प्रभाव होगा। पति-पत्नि के पारस्परिक आदान प्रदान से दोनों का ही ज्ञान कोष व्यापक बनेगा। स्त्रियाँ राजनीति की विविध समस्याओं से परिचित होने के कारण अपने बच्चों को सही निर्देश दे सकेगी तथा उनका पथ प्रदर्शन करने में सफल हो सकेगी। परिणाम स्वरूप श्रेष्ठ नागरिकों के निर्माण में स्त्रियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगी तथा परिवार की जटिलताएँ बढ़ने की अपेक्षा कम होंगी।

(6) स्त्रियों को मताधिकार न देना अप्रजातंत्रीय तथा अन्यायपूर्णः—पुरुषों की भाँति राज्य के प्रति स्त्रियों के भी कर्त्तव्य होते हैं। कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा का भाव जितना प्रखर स्त्रियों में होता है, उतना पुरुषों में संभव नहीं है। जब राज्य उनसे कर्त्तव्य निष्ठा प्राप्त करता है तथा उनसे इसकी अपेक्षाभी करता है तो नैतिकता के किस माप से उन्हे इस अधिकार से वंचित कियाजाना न्याय संगत कहा जा सकता है। स्त्रियों को इस मूल्यवान अधिकार से वंचित करना प्रजातंत्र तथा न्याय के विरुद्ध ही कहा जायगा। शारीरिक कोमलता का बहाना लेकर स्त्रियों को मताधिकार न देना सर्वथा अनुचित है।

(7) स्त्रियाँ भी कम प्रगतिशील नहीं होती :—स्त्रियों के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि वे प्रायः धार्मिक तथा रूढ़िवादी होती हैं तथा सहज विश्वासी होती हैं। स्त्रियों के बारे में यह कहना भी गलत है कि स्त्रियों के राजनीति में आने से दुष्प्रभाव बढ़

जायेंगे। परन्तु यह तर्क सर्वथा अनुपयुक्त है। व्यवहारिक अनुभव हमें यह बतलाता है कि आज योग्यता की दृष्टि से किसी प्रकार का लिंग भेद पूर्णतया अनुपयुक्त है। आज स्त्रियां भी उतनी ही प्रगतिशील है जितने की पुरुष। अतः स्त्रियों को प्रत्येक दृष्टि से मताधिकार मिलना ही चाहिये। स्त्रियों को यह अधिकार दिए बिना राजनीति अपूर्ण रहेगी।

स्त्री मताधिकार के विपक्ष में तर्क
(Arguments against Women Franchise)

(1) शारीरिक दुर्बलता—स्त्री मताधिकार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि स्त्रियां शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होती हैं। उनमें कोमलता अधिक मात्रा में होती है। अतः वे नागरिक कर्त्तव्यों को वहन करने की क्षमता कम रखती है। लोक कार्यों का भार वे वहन नहीं कर सकती। इसका कुप्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ेगा। बाह्य जीवन के क्षेत्र का अधिक परिश्रम स्त्रियों में नारीत्व को नष्ट करके उनमें आकर्षण तथा स्वाभाविक लावण्य की इतिश्री कर देगा। स्त्रियां पुरुषों के समान हर क्षेत्र में काम नहीं कर सकती हैं। गार्नर ने लिखा है, "महिला मताधिकार के विरोधियों का कहना है कि चूंकि औरतें शारीरिक दुर्बलता के कारण मर्दों के समान नागरिक के सभी दायित्वों को नहीं निभा सकती हैं, इसलिए उन्हें विशेषाधिकार मांगने का अधिकार नहीं है।"[1]

(2) गृह शांति नष्ट होना—स्त्री मताधिकार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि स्त्री का कार्य क्षेत्र घर है। उसका कार्य स्वरूप दीक्षा तथा घरेलू प्रशिक्षण द्वारा बच्चों को हृष्ट-पुष्ट बनाकर तथा उनमें अच्छी आदतें डालकर समाज के लिए आदर्श नागरिक तैयार करना है। उनका क्षेत्र घर की चाहर दीवार है। यदि स्त्री को भी घर से बाहर अपनी गतिविधियों का विस्तार करना पड़े तो फिर हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि बच्चों को स्वस्थ प्रशिक्षण मिल सकेगा तथा उनमें भावी सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति आस्था उत्पन्न की जा सकेगी। यदि पति-पत्नी दोनों पृथक-पृथक विचार धाराओं के हुए तो घरेलू शांति विक्षिप्त होगी तथा बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इससे उनका दाम्पत्य जीवन दूभर हो जायेगा। गार्नर ने लिखा है, "यदि वे (पति-पत्नी) अपने आप को राजनैतिक समस्याओं में उलझाकर घर से उदासीन हो जाती हैं तो जिस घर की वे रक्षक हैं तथा जिन बच्चों का पालन-पोषण उनका मुख्य कर्त्तव्य है उनकी उपेक्षा हो जायगी।"

(3) दोहरा मतदान—स्त्री मताधिकार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि इससे दोहरा मतदान होता है। स्त्री अपने पति की इच्छानुसार अपने मत का प्रयोग करती है तो उस मत की कीमत नहीं रहती है। इससे अच्छा यही है कि पुरुषों को ही दो मत देने का अधिकार दे दिया जाये। दोहरे मतदान से मतदान में जो स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की आशा करते हैं वह नहीं आ पाती।

---

1. It is said by some opponents of women suffrage that since women are physically incapable of all the duties and obligations of citizenship which devolve upon males, they have no right to demand this privilege" —Garner.

(4) राजनैतिक दलदल में फंसना नारी के लिए अनुचित—ब्लंशली ने लिखा है, "राजनैतिक स्त्री का सम्मान करना पुरुष के लिए असंभव है। स्त्री-मताधिकार से स्त्री में स्वाभाविक गुणों का नाश होगा। स्त्री के स्वाभाविक गुण हैं, लज्जा, कोमलता, सहनशीलता, नम्रता, दया, संवेदना आदि, जिन्हें उस समय तक सुरक्षित नहीं रख सकते जब तक कि स्त्रियां राजनैतिक दावपेचों में अपने को फंसा नहीं ले। अरस्तु ने कहा था कि राजनैतिक दल-दल में फंसने के लिए पुरुष बनाएँ गए हैं स्त्रियां नहीं।

(5) स्वभाव और विश्वास से वे राजनीति के लिए अनुपयुक्त— स्त्री-मताधिकार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि वे स्वभाव एवं विश्वास से राजनीति के लिए निःसंदेह उपयुक्त नहीं होती हैं। सैनिक सेवा वे नहीं कर सकती। कठोर जीवन की उनसे आशा नहीं की जा सकती वे हल्के कार्य करने की क्षमता रखती हैं।

निर्वाचन एवं मतदान की प्रणालियाँ
(Election and System of Election)

लोक तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का आधार निर्वाचन और मतदान होता है। और निर्वाचन तथा मतदान के सम्बन्ध में अब तक अनेक प्रणालियां जगत के समक्ष आ चुकी हैं। निर्वाचन और मतदान के लिए जिन विविध प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है वे इस प्रकार है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन
(Direct and Indirect Elections)

प्रत्यक्ष निर्वाचनः— जब प्रतिनिधियों का निर्वाचन मताधिकारियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप में हो तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान तथा केन्द्र पर स्वयं जाकर अपनी पसन्द के उम्मीदवार के पक्ष में अपना मत डालता है। जिस उम्मीदवार के पक्ष में अधिक मत जाते हैं उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति का प्रयोग भारत, इंगलैंड, संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, स्विट् जरलैंड, सोवियत रूस, आदि सभी देशों में होता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुणः-

1 प्रत्यक्ष सम्पर्कः-प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में प्रतिनिधियों एवं निर्वाचकों से प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क स्थापित होता है तथा दोनों दलों में मैत्री भाव विकसित होता है। प्रतिनिधि तथा उसके मताधिकारियों में स्वस्थ परम्पराओं की उत्पत्ति होती है। जो लोकतन्त्र को सबल एवं सफल बनाती है।

(2) प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति अधिक लोकतन्त्रीयः— अप्रत्यक्ष निर्वाचन की अपेक्षा प्रत्यक्ष निर्वाचन लोकतन्त्र के अधिक निकट है। इसमें जनता को प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिलता है। अतः जनता में राजनीतिक रूप से एक मनोवैज्ञानिक भावना का विकास होता है कि वे ही सरकार के बनाने वाले हैं।

(3) राजनैतिक जागरूकता का विकास : - प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से राजनैतिक जागरूकता का विकास होता है क्योंकि प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में जनता चुनाव में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है।

(4) मतदाताओं की राजनैतिक शिक्षा:—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में प्रत्येक उम्मीदवार अपनी नीति तथा कार्यक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है । इससे मतदाताओं को महत्वपूर्ण राजनैतिक शिक्षा मिलती है।

(5) सार्वजनिक कार्यों में रूचि उत्पन्न करना:—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से जन साधारण में सार्वजनिक कार्यों में रूचि को प्रोत्साहन मिलता हैं। इसमें जनता अपने को संप्रभु समझकर निर्वाचन एवं सार्वजनिक महत्व के कार्यों में अधिक रूचि लेती है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में इस प्रकार की भावना तथा तत्परता का निः सन्देह अभाव पाया जाता है।

(६) प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण:- प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में प्रतिनिधियों पर निर्वाचकों का पूर्ण नियन्त्रण रहता हैं। यदि वे जनता के विश्वास को धोका देते हैं तो उनकी व्यापक आलोचना होती है। कुछ देशों में तो प्रतिनिधियों को निर्वाचकों द्वारा वापस बुलाने तक का अधिकार स्वीकार किया गया है। रूस में तो विधायकों को अपने निर्वाचन क्षेत्र से प्रत्येक समय सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है।

(7) व्यापक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्तिः—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से व्यापक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति होती है। इसमें राजनैतिक दल अपने अपने आर्थिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों को जनता के समक्ष रखते हैं जिससे जनता को उनका परिचय ही प्राप्त नही होता अपितु उनमें विश्लेषणात्मक बौद्धिकता का विकास होता है। इसमें जनता को अपने विचार प्रकट करने के भी अधिक अवसर मिलते हैं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोषः-

(1) निर्वाचकगण योग्य नहीं होते—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का एक दोष यह है कि इस प्रणाली में निर्वाचक गण बहुधा इतने योग्य नहीं होते हैं कि वे किसी उम्मीदवार को उपयुक्तता के सम्बन्ध में कोई साधिकार निर्णय दे सकें और उसकी सत्यता के विषय में आश्वस्त रह सकें। अविकसित राज्यों के मतदाताओं में इस प्रकार का अभाव बहुधा पाया जाता है।

(2) जनता गुमराह हो जाती है:—प्रत्यक्ष निर्वाचन का एक दोष यह है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में उन लोगों के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहती है जो चित्ताकर्षक भाषणों तथा मिथ्या विश्वासों से जनता की सात्विकता को ठग लेते हैं और निर्वाचन के उपरान्त अपने स्वार्थ सिन्धु में जल विहार का आनन्द लूटा करते हैं। तथा प्रायः जन कल्याण से विमुख ही रहते हैं।

(3) **अधिक खर्चीली व्यवस्था**—प्रत्यक्ष निर्वाचन में बहुत अधिक व्यय होता है क्योंकि इसमें उम्मीदवार को अधिक मतदाताओं से संपर्क स्थापित करना पड़ता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में धन तथा साधनों का दुरुपयोग भी होता है। निर्वाचनों में पैसा पानी की तरह बहता है। इस दृष्टि से अर्ध-विकसित देशों के लिए ऐसी खर्चीली निर्वाचन पद्धति उपयुक्त नहीं है।

(4) **नैतिकता का ह्रास**—प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में प्राय. नैतिकता का ह्रास होता है क्योंकि प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में प्रायः सच्चरित्र तथा योग्य व्यक्ति तो निर्वाचनों की बीमारी से दूर रहते हैं तथा भ्रष्ट व्यक्ति ही अधिक संख्या में आगे आने का प्रयास करते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन—अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में मतदाता प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते बल्कि कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उनके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। अर्थात् प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक मंडल (Electoral College) द्वारा होता है, स्वयं मतदाता द्वारा नहीं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में एक बार मतदाता निर्वाचक मडल का निर्वाचन करते हैं और दूसरी बार निर्वाचक मंडल के सदस्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। उदाहरणार्थ भारत में लोकसभा तथा राज्य की विधान-सभाओं के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता स्वयं चुनाव में भाग लेती है और प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। इसके विपरीत भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति राज्यसभा और राज्य की विधान सभाओं के प्रतिनिधियों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा होता है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही इनके चुनाव में भाग लेते हैं, आम जनता नहीं। इस प्रकार सोवियत संघ तथा फ्रांस में भी उच्च सदनों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न होता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

(1) **अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में वयस्क मताधिकार के दोष दूर हो जाते हैं**—अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में वयस्क मताधिकार के अधिकांश दोषों का अंत हो जाता है। अप्रत्यक्ष पद्धति में अच्छे तथा स्वस्थ गुणों से सम्पन्न प्रतिनिधियों के निर्वाचित होने की अधिक गुंजाइश रहती है। अप्रत्यक्ष पद्धति से निर्वाचित व्यक्ति प्राय: अधिक निष्पक्ष तथा दूरदर्शी होते हैं। इस निर्वाचन में जन साधारण की भावुकता का अभाव होता है तथा परिपक्व बुद्धि के प्रतिनिधि अपने से योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन कर सकते हैं।

(2) **अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में दल पद्धति के दोष कम हो जाते हैं**—इस पद्धति में मतदाताओं की संख्या कम होने के कारण उन पर गन्दी दलगत राजनीति अथवा राजनैतिक दलों के प्रचार का प्रभाव कम पड़ता है तथा मतदाता अपनी बुद्धि से निर्णय करने की स्थिति में होते हैं।

(3) **कम खर्चीली पद्धति**—प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की भाँति अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में धन का दुरुपयोग नहीं होता। अप्रत्यक्ष पद्धति में प्रचार एवं निर्वाचन सम्बन्धी उत्तेजनात्मक अभियानों में धन का व्यय कम करना पड़ता है।

(4) योग्य एवं सक्षम व्यक्तियों का चयन—प्रत्यक्ष पद्धति में निर्वाचकगण की अयोग्यता एवं भावुक व्यवहार के कारण दूरदर्शी एवं योग्य प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं हो पाते लेकिन अप्रत्यक्ष पद्धति में यह दोष नहीं पाया जाता। इसमें योग्य से योग्य व्यक्ति निर्वाचित होकर आ सकता है। निर्वाचक मंडल के सदस्य समझदार तथा अनुभवी व्यक्ति होते हैं अतः वे बुद्धिमान एवं योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सफलता पूर्वक कर सकते हैं।

(5) नवोदित प्रजातन्त्रों के लिए अधिक उपयुक्त—कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों की धारणा है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली उन राष्ट्रों के लिए उपयुक्त एवं लाभदायक है जिन्होंने अभी हाल में ही प्रजातंत्र का मंगलमय मुहूर्त में स्वागत किया हो। ऐसे देशों में अधिकांश संख्या ऐसे व्यक्तियों की होती है जो शिक्षित ही नहीं अपितु साक्षर भी नहीं है और उनके द्वारा अयोग्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना स्वाभाविक है। अयोग्य व्यक्तियों के निर्वाचन से जन साधारण में निराशा उत्पन्न होती है तथा लोकतन्त्र पर विश्वास कम होता जाता है। अतः ऐसे राज्यों के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति उपयोगी प्रमाणित हो सकती है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष

(1) अप्रत्यक्ष पद्धति अलोकतान्त्रीय है—यह पद्धति अलोकतंत्रीय है क्योंकि इसमें मताधिकार थोड़े से लोगों तक ही सीमित रहता है।

(2) राजनैतिक उदासीनता—इस प्रणाली में जन साधारण में राजनैतिक उदासीनता बनी रहती है क्योंकि उसका संबंध निर्वाचन से नहीं है। परिणाम स्वरूप जन-साधारण में राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का आभास भी नहीं रहता है।

(3) अप्रत्यक्ष पद्धति में दल पद्धति के दोष पूर्णतः समाप्त नहीं होते—यह मानना गलत है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति में राजनैतिक दलों के दोष पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। जहाँ व्यवस्थित दल प्रथा पाई जाती है वहाँ अप्रत्यक्ष प्रणाली के अपनाने से भी दल पद्धति के दोषों का निवारण नहीं होता। राजनैतिक दलों के सदस्य दल पद्धति के आधार पर ही निर्वाचित होकर आते हैं अतः उनके द्वारा निर्वाचित सदस्य भी दलीय आधार पर ही निर्वाचित किये जाते हैं अमेरिका का उदाहरण हमारे सम्मुख है, वहाँ राष्ट्रपति के निर्वाचकों का निर्वाचन दलीय आधार पर होता है और फलतः राष्ट्रपति का निर्वाचन केवल औपचारिक मात्र होता है।

(4) अप्रत्यक्ष पद्धति में भ्रष्टाचार व्यापक बनता है—अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति के समर्थकों का कहना है कि इसमें भ्रष्टाचार कम होता है परन्तु इसके विपरीत आलोचकों का कहना है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में भ्रष्टाचार अधिक होने की संभावनाएँ हैं। इसमें निर्वाचक मंडल के सदस्यों की संख्या कम होने के कारण उन्हें भ्रष्टाचार तथा रिश्वत की ओर आसानी से आकर्षित किया जा सकता है।

बहुल एवं गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली
(Plural and Weighted Voting)

आधुनिक लोकतन्त्र के युग में एक व्यक्ति तथा एक मत के सिद्धांत का प्रयोग किया जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि शासन की सफलता और उत्तमता के लिए योग्यता के आधार पर व्यक्तियों को एक से अधिक मत देने का अधिकार देना चाहिये। कुछ आलोचकों का कहना है कि एक व्यक्ति तथा एक मत के सिद्धांत के प्रयोग से राज्य की प्रगति सही ढंग से नहीं हो सकती है तथा शासकीय उत्तमता के लिये भी यह प्रणाली उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस प्रणाली में सिरों की ही गिनती होती है, उनके अन्दर छिपे हुए मस्तिष्कों की परख नहीं होती। इसी कारण कुछ राज्यों में प्रगति एवं उत्तमता के लिए विशेष योग्यता के आधार पर एक मतदाता को एक से अधिक मत देने का अधिकार दिया जाता है। इस पद्धति को बहुल मतदान प्रणाली कहा जाता है इस प्रणाली के मानने वालों का विचार है कि जो व्यक्ति धन, सम्पत्ति तथा विद्या आदि की विशेष योग्यता रखता हो उन्हें एक से अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिये। । इस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिए दो विधियों का प्रयोग किया जाता है:—

(1) बहुल मतदान—बहुल मतदान प्रणाली में एक ही व्यक्ति को कई रूपों में मताधिकार के प्रयोग करने का अधिकार मिलता है। कहीं पर वह एक कर दाता के रूप में मताधिकारी बनता है, कहीं पर सम्पत्ति का स्वामी होने के नाते तथा कहीं पर अधिक शिक्षित होने की दृष्टि से अधिक मत डालने का अधिकारी बनता है।

(2) भारित एवं गुरुता मतदान—जो व्यक्ति अपनी शिक्षा, आयु अथवा सम्पत्ति के कारण अधिक योग्यता रखते हैं, उसी दृष्टि से कम योग्यता वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए।

19वीं शताब्दी में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा सिजविक ने इस पद्धति का समर्थन किया था। इस प्रणाली को संशोधित रूप में 1893 में बेल्जियम में प्रारम्भ किया गया था। वहाँ 25 वर्ष के नागरिक को एक मत तथा जो व्यक्ति 35 वर्ष की अवस्था प्राप्त कर चुका हो, 5 फ्रैंक कर के रूप में देता हो तथा जिसके एक वैध सन्तान हो उसे एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार दिया गया। दो अतिरिक्त मत उन व्यक्तियों को प्रदान किये गये जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की है। लेकिन एक व्यक्ति को तीन से अधिक मत देने का अधिकार नहीं था। ब्रिटेन में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार ही मत देता था किन्तु 1981 के सुधार अधिनियम ने मतों की संख्या दो तक सीमित कर दी थी। 1948 के सुधार अधिनियम के अनुसार बहुल अधिकार समाप्त ही कर दिया गया था। कीनिया में प्रत्येक मताधिकारी को उसकी योग्यता के अनुसार कई मत देने का अधिकार है और उसे अपने सारे मत उसी निर्वाचन क्षेत्र में प्रयोग में लाने होते हैं जहाँ उसे पंजीकृत किया गया है। उत्तरी आयरलैंड में भी इसका प्रयोग किया गया था, सूडान में भी

पहले इसका प्रयोग किया जा चुका है। 1918 में भारत में भी बहुल मतदान प्रणाली का प्रचलन प्रारम्भ किया गया था किन्तु 1948 में Peoples Representation Act द्वारा इस दूषित पद्धति को सदैव के लिए समाप्त कर दिया गया है।

पक्ष में तर्क—

(1) बहुल तथा गुरुत्वपूर्ण मतदान प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि इस प्रणाली से सर्व साधारण मताधिकार के दोषों का निवारण हो जाता है।

(2) दूरदर्शी, योग्य एवं कर्मठ प्रतिनिधियों के चयन के लिए मतदाताओं के जो इसकी क्षमता रखते हों अतिरिक्त मत उपलब्ध होना चाहिए।

(3) सब व्यक्तियों के एक ही स्तर पर रखने से योग्य एवं दूरदर्शी मताधिकारियों की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। मत का स्तर केवल उसकी गणना मात्र नहीं है वरन् मतदाताओं में उपयुक्त योग्यता का विकास करना है।

(4) जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति होती है, उनमें उन व्यक्तियों की अपेक्षा उत्तरदायित्व की भावना अधिक होती है, जिनके पास सम्पत्ति नहीं होती।

(5) इस प्रणाली से शिक्षा के प्रसार को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

विपक्ष में तर्क:—

(1) वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के विरुद्ध है—यह प्रणाली वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के विरुद्ध है जो कि लोकतंत्र का आधार है।

(2) सामाजिक अन्याय पर आधारित प्रणाली—इस प्रणाली से सामाजिक अन्याय उत्पन्न होगा। यह सम्पत्ति सम्पन्न वर्ग के विशेषाधिकारियों की वकालत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। समानता के बिना लोकतंत्र का विकास असम्भव है। शिक्षा एवं सम्पत्ति की उपलब्धि बहुत कुछ अवसर तथा सौभाग्य पर अवलम्बित है जो व्यक्ति सौभाग्य से समृद्ध परिवार में उत्पन्न होते हैं उन्हें समस्त सुख सुविधाएं मिलती हैं। अगर लोकतंत्र को जनता का शासन कहते हैं तो सम्पत्ति सम्पन्न व्यक्तियों को वे अधिकार नहीं मिलने चाहिए जो दूसरे व्यक्तियों को उपलब्ध न हों अन्यथा यह पक्षपात पूर्ण स्थिति होगी।

(3) सारी प्रणाली उलझी हुई है—अधिक मतों का प्रयोग मत गणना को उलझा देता है। इससे मत गणना कठिन होती है। सम्पत्ति सदाचार की कसौटी नहीं है। इस प्रणाली को अपनाने का अर्थ है जनता में निराशा की भावना का विकास करना।

(4) वर्ग शासन को प्रोत्साहन—इस प्रणाली के कारण वर्ग-शासन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

डाक द्वारा मताधिकार का प्रयोग
(Postal and Proxy Voting)

कई . कार्य में व्यस्त होने के कारण मतदाता को अपने मत का प्रयोग

डाक है। कुछ देश अपने उन मतदाताओं को इस व्यवस्था का प्रयोग

करने देते हैं जो किसी विशेष एवं उचित कठिनाई के कारण व्यक्तिगत रूप में मतदान करने के लिए मतदान केन्द्र पर जाने में असमर्थ हों। ब्रिटेन, अमेरिका, रोडेशिया, मलाया में उन मताधिकारियों को डाक द्वारा मतदान की सुविधा दी जाती है जो किसी उपयुक्त कारण से मतदान केन्द्र पर अपने को प्रस्तुत करने में असमर्थ हो। मलाया मे 1955 के चुनावों में सैनिकों को भी इस माध्यम से मतदान का अधिकार दिया गया था। भारत में 1952 के प्रथम आम चुनाव में असैनिक कर्मचारियों को अपने मत का डाक द्वारा प्रयोग करने की सुविधा दी गई थी। चतुर्थ आम चुनाव मे भी निर्वाचन कार्य में व्यस्त कर्मचारियों को यह सुविधा दी गई थी कि वे जिस किसी भी मतदान केन्द्र पर हो वही अपने मत का प्रयोग कर सकें।

अनिवार्य मतदान
(Compulsory Voting)

मत देना एक अधिकार भी है और यदि उसे व्यापक रूप में देखा जाय तो एक कर्त्तव्य भी। मतदान कभी शत प्रतिशत नही होता। मतदान का प्रयोग होना अनिवार्य नहीं है। इसे इच्छा पर छोड़ दिया जाता है परिणाम स्वरूप कई मताधिकारी अकारण ही इसका प्रयोग नही करते। अत: मताधिकार के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया जाता है कि इसे अनिवार्य क्यों नहीं बना दिया जाय और इस नियम के उल्लंघन करने वाले मताधिकारियों के लिए दंड की व्यवस्था की जाय। लेकिन लोकतन्त्र में यह संभव नहीं है 1925 मे आस्ट्रेलिया में एक ऐसी योजना बनाई गई जिसके अनुसार उन व्यक्तियों पर जु'र्माना लगाया गया जो बिना किसी विशेष कारण के मत का प्रयोग नहीं करते परन्तु वहां भी बाद में उसे समाप्त कर दिया गया

सार्वजनिक एवं गुप्त मतदान
(Public and Secreat Voting)

मतदान के दो तरीके हैं—सार्वजनिक एवं गुप्त। सार्वजनिक मतदान में प्रत्यक्ष रूप से मताधिकारियों की गणना की जाती है। तथा गुप्त मतदान में मतपत्र के माध्यम से अभिरुचि की अभिव्यक्ति होती है। सार्वजनिक अथवा प्रत्यक्ष मतदान की प्रणाली सबसे अधिक प्राचीन है। मॉन्टेस्क्यू, मिल आदि लेखकों ने सार्वजनिक मतदान प्रणाली का समर्थन किया है। मिल लिखता है, "मतदान एक ट्रस्ट है, यदि जनता को अपने प्रतिनिधि की राय जानने का अधिकार है तो क्या प्रतिनिधि को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मतदाताओं की राय जान सके। गुप्त मतदान के अन्तर्गत मतदाता सार्वजनिक हित को न सोचते हुए व्यक्तिगत एवं वर्ग हित को सामने रखकर मत देता है, क्योंकि उस समय उसके ऊपर कोई डर, शर्म या लिहाज नहीं होती। इस प्रकार वह इस पवित्र ट्रस्ट का दुरुपयोग कर सकता है।" 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक इंगलैंड में मतदान प्रत्यक्ष था और कुछ पश्चिमी अफ्रीकी देशों में यह अभी तक भी प्रयोग में लाया जाता है। उत्तर प्रदेश में ग्राम पंचायतों के निर्वाचन प्रत्यक्ष मतदान के माध्यम से सम्पन्न हुए थे। डेनमार्क तथा सोवियत

रूस में प्रत्यक्ष मतदान का प्रयोग अभी तक भी होता है। किन्तु प्रत्यक्ष मतदान प्रणाली सिर्फ छोटे देशों में ही चल सकती है, अधिक जनसंख्या वाले देशों के लिए तो यह प्रणाली संभव ही नहीं है। प्रत्यक्ष मतदान में मतदाता निष्पक्ष रूप से मतदान नहीं कर सकता है। इसमें सत्ताधारी दल तथा पूंजीपति अपनी शक्ति तथा धन का दुरुपयोग कर मतदान को प्रभावित कर सकते हैं अथवा बलिष्ट व्यक्ति निर्बलों पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा कर सकते हैं। संक्षेप में, सार्वजनिक मतदान प्रणाली के अवगुण इतने हैं कि उसके समक्ष उसके गुण अदृश्य तथा असंतुलित से हो जाते हैं, यही कारण है कि आज विश्व के प्रायः सभी राज्यों में गुप्त मतदान प्रणाली ही अपनाई जाती है।

विधायिका एवं निर्वाचन क्षेत्र
(Electoral Constitution)

निर्वाचनों में निर्वाचन क्षेत्र का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यूनान के नगर राज्यों में तो सारा राज्य ही एक निर्वाचन क्षेत्र हुआ करता था किंतु आज के अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में यह असम्भव बन गया है। अब निर्वाचन की दृष्टि से समस्त राज्य को बहुत से निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। निर्वाचन क्षेत्र प्रशासकीय क्षेत्र के अनुरूप हो और उसकी सीमाएं एक सी हों यह आवश्यक नहीं है। प्रशासकीय क्षेत्र तो प्रशासन की दृष्टि से बनाये जाते हैं परन्तु निर्वाचन क्षेत्रों के संगठन का उद्देश्य भिन्न होता है। निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण प्रायः जनसंख्या के आधार पर होता है। प्रत्येक राजनैतिक दल निर्वाचन क्षेत्रों के गठन एवं पुनर्गठन पर विशेष ध्यान रखता है। निर्वाचन की सफलता बहुत कुछ निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं पर भी निर्भर रहती है। सत्ताधारी दल यह चेष्टा करता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिवर्तन इस दृष्टि से किया जाये जिससे कि उसके दल के स्वार्थों की पूर्ति संभव हो सके। अमेरिका में तो निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण की गैरीमेंड्रिंग प्रणाली अत्यधिक प्रसिद्ध है जहाँ निर्वाचन क्षेत्रों में परिवर्तन सत्ताधारी दल के द्वारा उम्मीदवार की विजय की सम्भावनाओं को देखकर किया जाता है। इंगलैंड में भी इस प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। अतः निर्वाचन में सफलता बहुत अंशों तक निर्वाचन क्षेत्र के स्वरूप पर अवलम्बित है। इसी कारण उम्मीदवारों एवं निर्वाचन के प्रत्याशियों को बहुत कुछ इस सम्बन्ध में सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। निर्वाचन क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं।

(अ) एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र

(ब) बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र

(अ) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (*Single Member Constituency*)—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र वह क्षेत्र होता है जहाँ से एक ही व्यक्ति निर्वाचित किया जाता है। एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र के प्रथा के अन्तर्गत सारे देश को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है जितने प्रतिनिधियों को निर्वाचन की आवश्यकता होती है जैसे—यदि लोक सभा के 500 सदस्य हैं तो पूरे देश को 500 क्षेत्रों में बाँट दिया जायेगा और प्रत्येक

क्षेत्र से एक प्रतिनिधि का निर्वाचन होगा। विश्व के अधिकांश लोकतन्त्री व्यवस्था वाले देशों में एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पाये जाते हैं।

एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के गुण

(1) सरलता—एक-सदस्यीय निर्वाचन पद्धति निर्वाचन की समस्त पद्धतियों में सबसे सरल है। इस पद्धति को मताधिकारियों के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है क्योंकि मतदाता का कार्य अपने क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुनना रहता है इस पद्धति में मतदाता के समझने तथा मत प्रयोग करने की प्रक्रिया में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती।

(2) एक-सदस्यीय निर्वाचन पद्धति मितव्ययी पद्धति है—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यह एक मितव्ययी पद्धति है और संचालन में सरल है। बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की अपेक्षा इसमें धन का व्यय कम होता है।

(3) देश के प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व—एक-सदस्यीय निर्वाचन प्रणाली की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसमें देश के प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व हो जाता है। सर्व सहयोग के लिए भी एक-सदस्यीय निर्वाचन प्रणाली हितकर है।

(4) सम्पर्क की घनिष्टता—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र छोटे होते हैं। इसी कारण निर्वाचकों तथा प्रतिनिधियों में सम्पर्क की घनिष्टता बनी रहती है। इसके विपरीत बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र बड़े होते हैं जिनमें निर्वाचक तथा निर्वाचित के मध्य सौहार्द एवं सम्पर्क की घनिष्टता नहीं रह पाती। क्षेत्र के सदस्य भी यह चाहते हैं कि उनका प्रतिनिधि उनके सुख-दुख का साथी बन कर रहे। किन्तु यह तभी हो सकता है जबकि क्षेत्र छोटा तथा एक सदस्यीय हो।

(5) स्थानीय हितों का प्रतिनिधित्व—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में प्रतिनिधियों को अपने क्षेत्र की समस्याओं का अच्छा ज्ञान होता है। यह अपने क्षेत्र की असुविधाओं से सरकार तथा विधान मंडल के सदस्यों को परिचित करा सकता है। वह अपने क्षेत्र की विचारधारा को सशक्त रूप में व्यवस्थापिका में प्रस्तुत कर सकता है। दो सदस्यों वाले निर्वाचित क्षेत्रों में यह सम्भव नहीं हो पाता।

(6) श्रेष्ठ व्यक्ति का निर्वाचन संभव :—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र का आकार छोटा होने के कारण तथा सम्पर्क की घनिष्टता होने के कारण मतदाता उम्मीदवारों की व्यक्तिगत योग्यताओं एवं क्षमताओं से परिचित हो जाता है। ऐसी स्थिति में निर्वाचकगण अपने मताधिकार का प्रयोग भी समझदारी से करते हैं और इसी कारण निर्वाचन में बहुधा योग्य एवं चरित्रवान व्यक्तियों को ही सहायता मिलती है।

(7) सदस्यों की सक्रियता :—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के अन्तर्गत सदस्य निर्वाचित हो जाने के उपरान्त जो प्रतिनिधि अपनी जिम्मेदारी के प्रति सजग नहीं रहते वे पुनः इस क्षेत्र से निर्वाचन लड़ने का साहस नहीं कर सकते। अतः वे उसके प्रति सक्रिय

(4) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आकार में छोटे होते हैं, इस कारण धनी व्यक्ति अपनी कुचालों के लिए अच्छा अवसर प्राप्त कर सकते हैं। जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद भी इसमें आसानी से विकसित हो सकते हैं और अच्छे व्यक्तियों को तो इस प्रणाली से अरुचि होने लगती है।

(5) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में सत्ताधारी दल अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सरकारी संगठन का लाभ उठा सकता है। सत्ताधारी दल द्वारा समर्थित उम्मीदवार के पक्ष में मताधिकारियों को तैयार करने के लिए चुनावों से पहले ही राज्याधिकारियों के स्थानान्तरण बड़े पैमाने पर होते हैं और खास स्थानों पर अपने आदमियों को स्थापित किया जाता है।

(6) कभी कभी एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था में बहुमत पक्ष के उम्मीदवार रह जाते हैं और अल्पसंख्यक वर्ग का उम्मीदवार निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ किसी निर्वाचन क्षेत्र से चार उम्मीदवार एक सीट के लिए चुनाव लड़ते हैं। मतदाताओं की संख्या है 30,000 तथा 'अ' को 10,000, 'ब' को 4,000, 'स' को 9,000 और 'द' को 7,000 मत प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति मे सर्वाधिक मतवाले 'अ' को निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। जबकि उसे एक तिहाई मतदाताओं का ही समर्थन प्राप्त है इससे स्पष्ट है कि बहुमत उसके पक्ष में न होते हुए भी वह निर्वाचित हुआ है। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में यह संभावना हमेशा ही बनी रहती है।

(ब) बहु सदस्य निर्वाचन क्षेत्र

इस प्रणाली को सामान्य टिकिट प्रणाली (General Ticket System) भी कहते हैं। इस प्रणाली में एक ही निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं। इस पद्धति में सारे देश को प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार निर्वाचन क्षेत्रों मे विभाजित नहीं किया जाता वरन् कई जिलों में बांट दिया जाता है और एक ही जिले से एक से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते हैं। इस पद्धति में स्वाभाविक रूप से निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या बहुत कम होती हैं। इसके अतिरिक्त बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक मताधिकारी को उतने ही मत देने का अधिकार होता है जितने सदस्यों वाला यह चुनाव क्षेत्र है। यदि वह 5 सदस्यों वाला निर्वाचन क्षेत्र है तो प्रत्येक मताधिकारी को पाँच मत डालने का अधिकार होगा।

बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के गुण

(1) यह प्रणाली बहुमत की इच्छा की स्पष्ट अभिव्यक्ति करती है—बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के माध्यम से बहुमत की इच्छा की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। डा० हरमैन फाइनर (H. Finer) ने इसे आदर्श पद्धति कहा है। उन्होंने लिखा है, "जिस निर्वाचन प्रणाली में समस्त राष्ट्र को एक निर्वाचन क्षेत्र मान लिया जाय, वहाँ, स्पष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। ऐसी निर्वाचन प्रणाली में किसी भी दल द्वारा पूरे विधान मंडल के लिए अपनी-अपनी समस्त सदस्य सूची पेश की जा सकती है। इस प्रकार की निर्वाचन प्रणाली में अल्पमत एवं बहुमत का भेद स्पष्टतः उभर आता है।"

(2) विकल्प का बहुमत—बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत मतदाताओं को अपनी रूचि के अनुकूल उम्मीदवार निर्वाचित करने का अवसर मिलता है। एक सदस्यीय निर्वाचन व्यवस्था में यह अभिरूचि बहुत संकीर्ण रहती है।

(3) राष्ट्रीय हित की सुरक्षा—बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यह प्रणाली राष्ट्रीय हित को सुरक्षित रखने में पूर्णतः समर्थ है। यह प्रणाली किसी विशिष्ट हित का प्रतिनिधित्व न करके राष्ट्रीय हित एवं दृष्टिकोण को उत्पन्न करती है। अन्य शब्दों में, सामान्य हित की जो उपेक्षा एक सदस्यीय लोकतन्त्र में पाई जाती है वह बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में नहीं पाई जाती है।

बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के दोष
(Demerits of Multi Member Constituency)

(1) इसमें लोकतंत्र की मौलिक मान्यताओं की उपेक्षा होती है—बहुसदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में एक दोष यह पाया जाता है कि यह प्रणाली लोकतन्त्र की मौलिक मान्यताओं की उपेक्षा करती है। लोकतन्त्र की मौलिक मान्यताएं हैं—परस्पर स्वस्थ सम्पर्क तथा निर्वाचन क्षेत्र के प्रतिनिधियों के प्रति कर्त्तव्य। इन दोनों मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति बहुसदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में नहीं हो सकती है।

(2) इसमें राजनैतिक दलों की अनावश्यक उत्पत्ति होती है—बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पद्धति में राजनैतिक दलों में परस्पर वैमनस्य एवं द्वेष का विकास होना असंभव नहीं है इसमें उम्मीदवारों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा विभिन्न राजनैतिक दल अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। परिणाम स्वरूप मतदाता के सम्मुख बहुत अधिक विचार-धाराएं प्रस्तुत हो जाती है जिसमें सही प्रतिनिधियों का चयन करने में वे अपने को सक्षम नहीं पाते। फाईनर ने लिखा है, 'बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली उन मूल्यों को ही नष्ट करती है जो प्रतिनिधि शासन के लिए निरन्तर आवश्यक है।"

(3) उम्मीदवारों का व्यक्तिगत मूल्यांकन कठिन हो जाता है—एक सदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में मतदाताओं को उम्मीदवारों की व्यक्तिगत योग्यताओं का मूल्यांकन करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं किन्तु बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में सम्पर्क की घनिष्टता का तो अभाव रहता ही है, साथ में उम्मीदवारों की व्यक्तिगत योग्यताओं का भी निर्वाचक सही मूल्यांकन नहीं कर पाते।

(4) उप-चुनावों की व्यवस्था नहीं होती—इस व्यवस्था में उप-चुनावों की व्यवस्था नहीं होती। चुनाव तभी हो सकता है जब क्षेत्र के सारे सदस्य त्याग पत्र दें। इस व्यवस्था के न होने से जनता को एक बड़े मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

(5) स्पष्ट बहुमत का अभाव—बहुसदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में आनुपातिक प्रणाली , एक कमजोर दोष यह है कि इसमें किसी भी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत

प्राप्त होना कठिन हो जाता है। परिणाम स्वरूप इसमें अधिक दलों की संयुक्त सरकार बनती है जो अधिक दिनों तक नहीं चल सकती है। फाईनर (H. Finer) के अनुसार, "इस पद्धति के दोष केवल गंभीर ही नहीं है, वरन् वे उन मूल्यों के लिए घातक हैं जो कि अधिकांश व्यक्ति प्रतिनिधियों से उपेक्षा करते हैं।"[1]

(6) अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता—बहुसदस्यीय प्रणाली में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व सुलभ एवं संतोषजनक रूप मे नहीं हो पाता। इसमे अधिक मत हाथ में रखने वाला दल समस्त सीटों पर अधिकार जमा लेता है। फलस्वरूप अल्पसंख्यकों को अधिक लाभ नहीं मिल पाता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की प्रणाली का अनुकरण लगभग सभी प्रगतिशील देशों ने किया है। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था निर्वाचक तथा निर्वाचित दोनों के ही लिए लाभदायक एवं शिक्षाप्रद है। सामान्य टिकिट पद्धति को अनुचित समझकर ही फ्रांस ने त्याग दिया था।

अल्प संख्यकों के प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ
(Methods of Minority Representation)

प्रजातन्त्र जनता का शासन है जनता अपने प्रतिनिधियो द्वारा शासन को चलाती है। इसके लिए वह प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। प्रशासन तभी जनता का शासन हो सकता है जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन में पूरी जनता की इच्छा परिलक्षित हो। लोकतन्त्र को केवल बहुमत का शासन समझ कर अल्प संख्यकों की उपेक्षा करना राजनैतिक हत्या तथा नैतिक अन्याय है। लोकतन्त्र सर्वलोक शासन है जिसमें प्रत्येक वर्ग के सहयोग से शासन का संचालन होना चाहिये। परन्तु निर्वाचन की वर्तमान प्रणाली में कई उम्मीदवारों में से एक उम्मीदवार जो अपने निकटतम प्रतिद्विन्दी से एक भी मत अधिक प्राप्त करता है, उसे सफल घोषित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ एक निर्वाचित क्षेत्र से अ, ब, स, द, चार उम्मीदवारों को क्रमशः 4,000, 8 000, 3,000, 9,000 मत प्राप्त हुए, स्वाभाविक रूप से 'द' को विजयी घोषित किया जायगा क्योंकि इसे सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हैं। यह बात कितनी हास्यास्पद है कि 15,000 मताधिकारियों ने 'द' के विरुद्ध मत दिया है। और सिर्फ 9000 ने उसके पक्ष में मत दिया है किन्तु फिर भी 'द' को उस क्षेत्र की समस्त जनता का प्रतिनिधि माना जाता है और इतनी बड़ी संख्या की उपेक्षा की जाती है। यह अत्याचार की पराकाष्ठा है। अतः अल्प संख्यकों के बिना लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता है। बहुमत द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए प्रो॰ गार्नर ने लिखा है कि "बहुमत द्वारा प्रतिनिधित्व की पद्धति अलोकतन्त्रीय तथा अन्यायपूर्ण है। क्योंकि यह काफी मतदाताओं को स्थाई रूप से बिना प्रतिनिधित्व के ही छोड़ देती

1. The defect of the system are not only serious, they are actually destructive of the value most people want from Representative Government. — H. Finer

है क्योंकि वे राजनैतिक दृष्टि से अपने निर्वाचन क्षेत्र में अल्प संख्या में है।"[1] जान स्टुअर्ट मिल (Mill) ने भी अल्प संख्यकों के प्रतिनिधित्व पर अधिक बल दिया है। इनके अनुसार समस्त जनता की सरकार को केवल बहुसंख्यकों के हाथों में दे देना सदैव अनुचित एवं अप्रजातांत्रिक है। लैकी (Lecky) के शब्दों में, "अल्प संख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने का महत्व अतिशय महान् है।" लोकतन्त्र में समस्त निर्णय बहुमत के ही आधार पर होते हैं किन्तु अंतिम निर्णय करने से पूर्व अल्प संख्यकों के मत का भी सम्मान किया जाना आवश्यक है।

वास्तविक लोकतन्त्र तभी कहला सकता है जब कि अल्प संख्यक प्रतिनिधित्व को प्रोत्साहन दिया जाय, उनकी भावनाओं एवं सम्मतियों को समान आदर दें और उनके औचित्य को समझने की कोशिश करें। विधान मंडल को राष्ट्र का हृदय अथवा मस्तिष्क तभी कहा जा सकता है जबकि उसे सबकी सम्मति उपलब्ध हो। कानून को जनमत की अभिव्यक्ति कहा जाता है। कानूनों में सर्व हित की भावना होनी चाहिये क्योंकि वह किसी वर्ग विशेष से ही सम्बन्धित नहीं है। कानूनों में सार्वजनिक हित एवं कल्याण की भावना तभी पायी जा सकती है जबकि विधान मंडल में प्रत्येक वर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। जिन कानूनों को सर्व वर्गों की सहमति उपलब्ध नहीं होती, उनका समादार भाव से पालन होना कठिन है। संक्षेप में अल्प संख्यक प्रतिनिधित्व का मूल उद्देश्य बहु संख्यकों के शोषण के विरुद्ध अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करना है। यह निश्चित है कि बिना अल्पसंख्यकों के साथ लिए लोकतन्त्र की सफलता संदिग्ध है। अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से निम्न प्रणालियों की चर्चा की गई है।

(1) अनुपातिक प्रतिनिधित्व
(2) रुचि प्रणाली
(3) सीमित मतदान प्रणाली
(4) संचित मत प्रणाली
(5) पृथक निर्वाचन प्रणाली
(6) सुरक्षित स्थान युक्त निर्वाचन प्रणाली

(I) अनुपातिक प्रतिनिधित्व

(Proportional Representative)

यह प्रणाली अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने की विधियों में सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है। इस प्रणाली का सर्व प्रथम प्रयोग 1713 में फ्रेंच राष्ट्रीय कन्वेंशन में किया गया था। इस पद्धति का विस्तृत एवं व्यापक विवेचन टामस हेयर ने 1851 में अपनी पुस्तक *Election of Representatives* में किया था। हेयर पद्धति को व्यवहारिक स्वरूप देने

1. "The system of majority representation is criticised as undemocratic and unjust because it in fact permanently disenfranchises large numbers of electors and leaves them without representation because they are politically in minority in their constituency." —Garner

का महत्वपूर्ण कार्य डेनमार्क के मंत्री श्री एन्ड्रे (Andre) ने 1855 में किया, जिसके कारण इसे एन्ड्रे पद्धति भी कहा जाता है। ब्रिटिश कॉमन सभा के लिए अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन इंगलैंड के चारों विश्वविद्यालय इसी प्रणाली के माध्यम से करते हैं। भारत मे राष्ट्रपति का निर्वाचन इसी पद्धति से सम्पन्न होता हैं। इस प्रणाली का प्रयोग द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व पोलैण्ड, ग्रीस, जापान, आस्ट्रिया, आयरलैंड आदि देशो ने किया था।

अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का वास्तविक अर्थ एवं स्वरूप क्या है यह निश्चित करना कठिन है। इसके स्वरूप अलग-अलग राज्यों मे अलग-अलग हैं। स्ट्रांग के शब्दों में "अनुपातिक प्रतिनिधित्व का पृथक रूप में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वह अनेक प्रकार का है, प्रायः उतने ही प्रकार का जितने राज्यों ने इसे अपनाया है।" किंतु इस पद्धति का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय अथवा स्थानीय निर्वाचनों में विभिन्न समुदायो एवं वर्गों के मतदाताओ की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। लैकमैन तथा लैम्बर्ट ने अपनी पुस्तक (Voting In Democratacies) में कहा है कि 'एकल संक्रमणीय पद्धति का मूल लक्ष्य नागरिकों को अपने प्रतिनिधियों की स्वतंत्रता एवं पूर्णता के साथ चुनने की सुविधा देना है और इस विश्वास के साथ कि लोकतन्त्र का यह सार है।" किंतु चाहे कोई भी स्वरूप इस प्रणाली का क्यों न हो किन्तु इसके कुछ ऐसे लक्षण हैं जिनका सामान्य रूप मे रहना अनिवार्य है।

अनुपातिक प्रणाली के सामान्य लक्षण

(1) बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र :—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में यह पद्धति क्रियान्वित नहीं की जा सकती। यह बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र मे ही प्रयोग में लाई जा सकती है। इसमें प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र कम से कम तीन सदस्यों वाला अवश्य होना चाहिये। पाँच सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र इस प्रणाली के लिए उत्तम माना जाता है।

(2) एक प्रभावशाली मत—इससे प्रत्येक मताधिकारी को मत पत्र पर अंकित सभी नामों के समक्ष अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करने का अधिकार है। किंतु गणना में उनका एक मत ही गिना जाता है। इसमे कोई मत बेकार नहीं जाता कहीं न कहीं उसके मत का प्रयोग हो ही जाता है।

(3) निर्वाचन में सफल होने के लिए उम्मीदवार को अधिक मत उपलब्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। उसे निश्चित संख्या में ही मत उपार्जित करने पड़ते हैं। इन मतों की संख्या का निर्धारण निश्चित मतगणना से पूर्व ही कर लिया जाता है।

अनुपातिक प्रणाली के प्रकार—अनुपातिक प्रणाली के दो भाग हैं जिनको उसके दो स्वरूप भी कहा जाता है।

(1) एकल संक्रमणीय पद्धति अथवा हेयर पद्धति—
(Single Transferable Vote system)

एकल संक्रमणीय पद्धति को हेयर पद्धति भी कहा जाता है। इस प्रणाली में सामान्य टिकट पद्धति को अपनाया जाता है। इस पद्धति का प्रयोग बहु सदस्यीय निर्वाचन

क्षेत्रों में ही किया जा सकता है। निर्वाचन के तरीके के आधार पर इसे एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (Single transferable vote system) और वरीय प्रणाली (Preferential system) भी कहा जाता है।

हेयर प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्रों का बहुसदस्यीय होना आवश्यक है। इसमें प्रतिनिधियों की अधिकतम संख्या निश्चित नहीं है। लेकिन इसमें अधिक से अधिक 15-20 सदस्यों का ही क्षेत्र से निर्वाचन हो सकता है। दूसरी प्रमुख बात यह कि प्रत्येक मतदाता का केवल एक ही मत होता है जिसमें वह मत-पत्र (Ballot Paper) में उम्मीदवारों के नाम के आगे 1, 2, 3, 4 आदि चिन्हों को लगाकर अपनी वरीयता (Preference) प्रकट करता है। 1, 2, 3, 4 आदि चिन्हों से यह जाहिर होता है कि मतदाता की प्रथम द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वरीयता कौन-सी है। अर्थात किस क्रम में वह उम्मीदवारों को पसन्द करता है। इस पद्धति में मतदाताओं का पूर्णतः साक्षर होना आवश्यक है। प्रत्येक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतों की एक निश्चित संख्या प्राप्त करनी पड़ती है। मतों की इस संख्या को निकालने के दो तरीके काम में लाये जाते हैं:—

$$\frac{\text{(1) मतों की कुल संख्या (Total Number of Voter)}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या (Total number of representative to be elected)}} + 1$$

$$\frac{\text{(2) मतों की कुल संख्या (Total Number of Voter)}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या (Total Number of representatives to be elected)}} + 1$$

उदाहरण स्वरूप यदि किसी निर्वाचित क्षेत्र से 88,000 मतदाताओं ने मतदान किए हैं और निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या 10 हो तो किसी प्रतिनिधि को निर्वाचित होने लिए कम से कम निम्न मत संख्या प्राप्त करनी होगी

$\frac{88000}{10+1} + 1 = 8001$ निर्वाचित होने के लिए कम से कम मत।

मत-पत्र का स्वरूप:—इस प्रणाली में मत-पत्र पर वर्णाक्षर के क्रम से सभी उम्मीदवारों के नाम अंकित होते हैं और प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं। मानों एक निर्वाचन क्षेत्र में चार प्रतिनिधि चुनते हैं और छः उम्मीदवार है तो एक मतदाता अपने मत निम्न प्रकार से देगा: –

(1) सुरेश चन्द्र	1
(2) हीरालाल	3
(3) रामसिंह	—

(4) बिहारी 2
(5) अरुण 4
(6) रामचन्द्र — — —

मतदाता 'अ' ने अपनी पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पसन्द क्रमशः श्री सुरेश-
न्द्र, श्री बिहारी, श्री हीरालाल तथा श्री अरुण को दी है। यह चुनाव क्षेत्र चार सदस्यों
का है। अतः प्रत्येक मतदाता इससे अधिक अभिरुचियाँ अंकित करने का अधिकारी
नहीं है। मत गणना करने से पूर्व यथांश निकाला जाता है। इसमें यथांश इस प्रकार है—

$$\frac{\text{कुल वैध मतों की संख्या } 75,000}{\text{सीटों की संख्या } 4+1}+1=\text{यथांश } 15,001$$

यथांश (Quota) निकालने के बाद अवैध मत छांट दिए जाते हैं। वैध मतों में से
हरे प्रत्येक उम्मीदवार की प्रथम अभिरुचियाँ छांट ली जाती है। यदि गणना के पहले
चक्र में ही किसी उम्मीदवार को यथांश प्राप्त हो जाता है तो उसे निर्वाचित घोषित कर
दिया जाता है। मत गणना का यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक सभी
रिक्त स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती।

मतों का हस्तान्तरण (Transfer of Votes)—माना, प्रथम गणना चक्र में
सुरेशचन्द्र को 15,500, हीरालाल को 12,000, रामसिंह को 14,400, बिहारी को
14,800, अरुण को 15,300 और रामचन्द्र को 3,300 मत क्रमशः प्राप्त हुए। तब
प्रथम गणना में ही श्री सुरेशचन्द्र तथा अरुण को निर्वाचित घोषित कर दिया जायगा।
परन्तु दूसरी बार गणना जारी रहेगी क्योंकि अभी दो रिक्त स्थानों की पूर्ति होना शेष है।
श्री सुरेशचन्द्र को तो यथांश से 499 मत अधिक प्राप्त हुए तथा अरुण को 299 मत
अधिक प्राप्त हुए। अब सुरेशचन्द्र के इन अधिक मतों का वितरण किया जायगा। गणना
अधिकारी उनके मतों का वितरण करेगा। गणना अधिकारी उनके मतों को दोबारा
देखकर यह पता लगायगा कि उसके मतदाताओं ने दूसरी अभिरुचि किसको अंकित की
है। सुरेशचन्द्र की दूसरी अभिरुचि के अनुसार 201 मत बिहारी को तथा 298
श्री रामचन्द्र को प्राप्त होते हैं जिनको जोड़ने पर बिहारी भी यथांश की संख्या को प्राप्त
कर लेते हैं निर्वाचित हो जाता है। इसी प्रकार अरुण के 299 अधिक मतों में द्वितीय
अभिरुचि के 200 मत श्री रामसिंह को तथा 99 मत श्री हीरालाल को प्राप्त होते हैं।
परिणामस्वरूप श्री रामसिंह यथांश के मतों को प्राप्त कर लेता है अतः निर्वाचित घोषित
कर दिया जाता है।

इस स्थल पर यह बात उल्लेखनीय है कि यदि निर्वाचित होने वाले उम्मीदवारों
के स्थान के अधिक मतों के उन पर अंकित द्वितीय अभिरुचि के उम्मीदवारों के नाम
हस्तान्तरण करने के बाद भी निश्चित संख्या के प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं हो पाते हैं तो सबसे
कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को हटाकर उसके सभी मत उस पर अंकित द्वितीय
अभिरुचि के उम्मीदवारों के नाम हस्तांतरण किये जाते

कुल मत 75,000 यथांश 1,5001

उम्मीदवारों के नाम	प्रथम गणना	नं. 1 के अधिक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	नं. 5 के अधिक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम			निर्वाचित सदस्यों का क्रम
(1) गुरेशचन्द्र	15,500	—499	15,001	—				(1)
(2) हीरालाल	12,000	—	12,000	+99	12,099			
मसिंह	14,850	—	14,850	+200	15,050			(4)
	14,800	+201	15,001	—	—			(3)
	15,300		15,300	—299	15,001			(2)
	2,550	+298	2,848	—				
	75,000		75,000					

सूची प्रणाली (List System):—अनुपाती प्रणाली का दूसरा रूप सूची प्रणाली यह व्यवस्था बेल्जियम, स्वीडन, डेन मार्क तथा स्वीट्जरलैंड में पर्याप्त रूप में लोकप्रिय इस प्रणाली में निम्नलिखित लक्षण विद्यमान हैं:—

(1) इस प्रणाली में या तो देश को वृहताकार के निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर जाता है या समस्त देश को ही कभी-कभी एक पूर्ण निर्वाचन क्षेत्र समझ लिया ता है।

(2) इस प्रणाली में मतदाता किसी व्यक्तिगत उम्मीदवार के पक्ष में मतदान नहीं ते वरन् वे राजनैतिक दल के पक्ष में मतदान करते हैं। सूची प्रणाली में प्रत्येक राजनै- क दल अपने उम्मदवारों की सूची प्रकाशित करता है। और इसी सूची के क्रमानुसार ने ही सदस्य रखता है जितने सदस्यों वाला वह चुनाव क्षेत्र है। प्रत्येक मताधिकारी को ी प्रणाली के अनुसार मत पत्र पर उतनी ही अभिरूचियाँ अंकित करने का अधिकार है. उने सदस्यों वाला वह चुनाव क्षेत्र है। मतदाता को अपनी अभिरूचियाँ एक ही राज- तिक दल के पक्ष में डालनी होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मतदाता अपना मत क्तिगत उम्मदवारों को न देकर राजनैतिक दलों को मत देते हैं।

(3) सूची प्रणाली में एकल संक्रमणीय पद्धति की भांति मत गणना करने से पूर्व यथांश निकाल लिया जाता है। यथांश हेयर पद्धति से पहले ही निकालने के सूत्र धार र ही ज्ञात किया जाता है, जैसे

$$\frac{\text{कुल मतदान}}{\text{रिक्त स्थान अथवा जिन सीटों के लिए चुनाव हो रहा है}} = \text{यथांश(quata)}$$

(4) यदि सभी सीटों के लिए निर्वाचन करना संभव न हो सके तो जिस दल को धिकांश अधिशेष प्राप्त हो उसे शेष रिक्त सीट की प्राप्ति हो जाती है जैसे उदाहरण—

निर्वाचन क्षेत्र	—जोधपुर
सीटों की संख्या	—5
मतदान	—1,00,000
यथांश	—20,000

प्रतिद्वन्दी राजनैतिक दलों के नाम तथा उनके द्वारा प्राप्त मत—

कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत सूची के उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मत	43,000
सं॰सो॰पा॰दल ,, ,, ,, ,, ,,	41,000
साम्यवादी दल ,, ,, ,, ,, ,,	16,000

कांग्रेस तथा संसोपा के उम्मीदवारों ने यथांश के दुने से भी अधिकतम अंक प्राप्त किये हैं। प्रत्येक दल को दो-दो सीटें प्राप्त होंगी। साम्यवादी दल ने यथांश से कम मत प्राप्त किए हैं अतः उसे सीट प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पाँचवें स्थान का निर्णय

किस प्रकार हो । इसके दो सिद्धांत हैं—एक सिद्धांत के अनुसार पाँचवीं सीट कांग्रेस को मिलनी चाहिए तथा दूसरे सिद्धांत के अनुसार साम्यवादी दल को एक सीट दी जा सकती है यदि उसे किसी पास के निर्वाचन क्षेत्र से अपनी रुचि में से 3,000 अतिरिक्त मत लेने की छूट दे दी जाय तो इस प्रकार अल्पसंख्यक राजनैतिक दल को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है ।

अनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण तथा दोष
(Merits and Demerits of Proportional Representation)

अनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण:-

(1) **अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में मत व्यर्थ नहीं जाते हैं:**—अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक गुण यह है कि इसके अन्तर्गत कोई मत व्यर्थ नहीं जाते । कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में मताधिकारी की प्रत्येक अभिरुचि के मत का प्रयोग हो ही जाता है ।

(2) **अनुपातिक प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र को वास्तविक बनाता है।**—लोकतन्त्र को यथार्थवादी एवं वास्तविक रूप तभी प्राप्त हो सकता है जबकि उसे समाज के प्रत्येक वर्ग का सहयोग प्राप्त हो । इस शर्त को यह प्रणाली भली प्रकार से पूर्ण करती है । शासन में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार मिलता है । लार्ड एक्टन ने ठीक कहा है,"यह प्रणाली अति प्रजातंत्रवादी है, क्योंकि इससे उन सहस्त्रों व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी वैसे कोई पहुंच नहीं होती, वह समानता के सिद्धांत के निकटतर है क्योंकि इसमें किसी भी मत का अपव्यय नहीं होता और प्रत्येक मतदाता का संसद में अपना सदस्य होता है ।"

(3) **अनुपातिक प्रतिनिधित्व से राजनैतिक शिक्षा मिलती है:**—एकल संक्रमणीय मत प्रणाली इतनी जटिल है कि इसमें अभिरुचि समुचित रूप में अंकित करने के लिए आवश्यक रूप से मतदाता को बौद्धिक व्यायाम करना ही होगा । यदि जनता शिक्षित नहीं है तो अनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली कार्य नहीं कर सकती । अतः इस पद्धति के प्रयोग से शिक्षा का विकास तो होता ही है साथ ही जन समुदाय को राजनैतिक प्रशिक्षण भी प्राप्त होता है ।

(4) **अनुपातिक प्रतिनिधित्व न्याय पर आधारित है:**—अनुपातिक प्रणाली के विषय में कहा जाता है कि यह न्याय पर अवलम्बित है क्योंकि उसमें प्रत्येक वर्ग को प्रतिनिधित्व मिल जाता है । यह एक ऐसी पद्धति है । जिसमें बहुसंख्यकों को सदैव बहुमत प्राप्त होगा तथा अल्पसंख्यकों को अल्प मत । इसमें जनसंख्या के अनुपात में प्रत्येक वर्ग को प्रतिनिधित्व मिल जाता है । एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्र पद्धति में प्रायः अल्प बहुमत प्राप्त व्यक्ति बहुसंख्यक व्यक्तियों पर शासन करता है । तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है । क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की यह व्याधि अनुपाती प्रणाली में नहीं पायी जाती है ।

(5) अल्प संख्यकों की सुरक्षा:—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की दृष्टि से अपने को सुरक्षित नहीं पाते तथा बहुमत द्वारा शोषण की आशंका सदैव बनी रहती है। अल्पसंख्कों को राजनैतिक विश्वास एवं दृष्टि केवल उसी समय संभव हो सकती है जबकि उनके लिए प्रतिनिधित्व की समुचित व्यवस्था की जाय। यह केवल इसी पद्धति के द्वारा संभव हो सकता है। अनुपातिक प्रणाली बहुसंख्यकों के आतंक के विरुद्ध एक बहुत बड़ी आशा का केन्द्र है। इसमें अल्पसंख्यकों को सुरक्षा का पूर्ण विश्वास है।

(6) भ्रष्टाचार का उन्मूलन:—अनुपाती प्रणाली के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इसके अन्तर्गत भ्रष्टाचार की मात्रा कम होती है। इसमें विधान मण्डल के किसी एक दल को प्रमुत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण कोई राजनैतिक दल अपने समर्थकों को अनुचित रूप से लाभ पहुँचाने में अपने को समर्थ नहीं पाता है।

(7) अनुपातिक प्रतिनिधित्व से विधान मण्डल का स्तर ऊंचा उठता है:—विधान मण्डल में अनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से जो सदस्य निर्वाचित होकर पहुंचते हैं, वे प्रायः योग्य होते हैं। क्षेत्रिय प्रतिनिधित्व की प्रणाली में योग्य प्रतिनिधि विधान मण्डल में नहीं पहुँच पाते जिसका परिणाम यह होता है कि इसके निर्णय घटिया किस्म के होते हैं।

(8) लोकमत की अभिव्यक्ति:—अनुपाती प्रतिनिधित्व के पक्ष में यह कहा जाता है कि इसके माध्यम से जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति लोकमत की होती है वह अन्य किसी भी पद्धति द्वारा नहीं होती।

(9) अनुपातिक प्रतिनिधित्व में मतदाता को अधिक स्वतन्त्रता रहती है:-अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में मतदाता अपने आचरण तथा विकल्पों के प्रयोग में अधिक स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं। वे संकुचित राजनैतिक दल बन्दी से मुक्त रहते हैं। वे मतपत्र पर उम्मीदवारों के समक्ष क्रमिक रूप में अभिरुचि दिखाने में स्वतन्त्र रहते हैं सुल्ज (Schulz) ने उचित ही कहा है कि "एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली निर्वाचकों को अपनी पसन्द के उम्मीदवार चुनने में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। इसके साथ-साथ प्रत्येक दल को उसकी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व उपलब्ध कराती है।"[1]

अनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष

(1) अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अत्यन्त जटिल है—अनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अत्यन्त ही जटिल एवं उलझी हुई है। मतदाता साधारणतया इसकी कठिनाइयों को नहीं समझ पाते। एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में अभिरुचि का अंकन तथा

1. "The single transferable vote system grants the Individual voter the maximum possible freedom in the choice of the candidates and at the same times insures proportional representation for competing parties." —Schulz E. B.

मत गणना का कार्य कठिन है। अभिरुचि की समस्या पर तो फिर भी काबू पाया जा सकता है किंतु मतगणना का कार्य एक सिर दर्द है। मतों की गणना में गणना अधिकारी यदि चाहे तो आसानी से पक्षपात कर सकता है तथा मतों के हस्तान्तरण में अपनी करामात का नमूना पेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त गणना में इतनी देर लगती है कि मानसिक स्वास्थ्य जवाब देने लगता है।

(2) निर्वाचक तथा निर्वाचितों में घनिष्ट सम्पर्क का अभाव—अनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथम आवश्यकता है विशाल चुनाव क्षेत्रों की स्थापना। इसमें प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र *कम से कम तीन सदस्यों वाला होता है। क्षेत्र की व्यापकता के कारण प्रतिनिधि और* उसके निर्वाचकों के मध्य घनिष्ट सम्पर्क की अभिवृद्धि नहीं होती। प्रतिनिधि के लिए यह सम्भव नहीं हो पाता कि वह अपने निर्वाचकों के साथ सतत् सम्पर्क बनाये रखे। निर्वाचकों के लिए भी यह निश्चित करना कठिन है कि उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व कौनसा है। तथा किसके साथ उन्हें सम्पर्क स्थापित करने चाहिये। निर्वाचन समाप्त होने के पश्चात् निर्वाचक तथा निर्वाचितों का मिलना ही कठिन हो जाता है। डा. फाईनर का मत है कि छोटे निर्वाचन क्षेत्रों का मनोवैज्ञानिक मूल्य नष्ट हो जाता है और प्रतिनिधि द्वारा अपने क्षेत्र की देखभाल प्रायः समाप्त हो जाती है।

(3) स्थायी सरकार का अभाव—अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है तथा उसके हित सुरक्षित रहते हैं। किन्तु उसके अन्तर्गत *स्थाई सरकार का निर्माण संभव नहीं हो पाता। व्यवस्थापिका कई भागों में विभाजित हो* जाती है। किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता। इसमें प्रायः संयुक्त सरकार की सृष्टि होती है। जो प्रायः सफल नहीं होती। भारत में चतुर्थ आम चुनाव के बाद कई राज्यों में संयुक्त सरकार का निर्माण हुआ है जो अधिकांशतः असफल रही है। फाईनर (H. Finer) ने लिखा है, "यह पद्धति विभाजनों तथा पृथक्करण को उत्साहित करके कार्यकारिणी के स्थायित्व को धक्का पहुँचाती है।"

(4) अनुपाती प्रणाली संसदीय प्रणाली के लिए घातक है—एस्मीन ने लिखा है कि "अनुपातिक पद्धति की स्थापना संसदीय प्रणाली की परिचर्या को विष का कप देना है वह मन्त्रिमण्डल तथा संसदीय शासन को अस्थायी बनाकर उनका समकार नष्ट कर देता है।" संसदीय प्रणाली स्थायित्व चाहती है। जिसका पूर्ण विरोध अनुपातिक प्रणाली में किया जाता है। संसद में इस प्रणाली से छोटे-छोटे समूह हो जाते हैं जो एक दिशा और एक पथ का अनुसरण नहीं करते। इस कारण शासकीय अस्थिरता, मन्त्रिमंडलों का आवर्तन एवं अन्तावर्तन होता है। शासन में नैतिक पतन तथा भ्रष्टाचार का प्रसार होता है और राजनैतिक दलों में मूलबद्धता के अभाव में उच्छृंखलता का व्यवहार देखने को मिलता है।

(5) राष्ट्रीय एकता के लिए घातक—अनुपातिक प्रतिनिधित्व की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह समाज को छोटे-छोटे स्वार्थमूलक भागों में विभाजित कर देती है। चारों ओर राजनैतिक गुट दृष्टिगत होते हैं, जिसके पास कोई राष्ट्रीय स्तर का राजनैतिक अथवा आर्थिक कार्यक्रम नहीं होता। ये समाज में गुटबन्दी एवं संकीर्णता का प्रचार करते हैं। उनके स्वार्थ प्रधान संकीर्ण दृष्टिकोण से राष्ट्रीय हित विक्षिप्त हो सकता है। प्रो. कूरी ने लिखा है, "यह (अनुपातिक प्रतिनिधित्व) एक ऐसे नेतृत्व की उत्पत्ति करता है जो सामान्य बातों पर बल देने की अपेक्षा व्यवधानों को प्रोत्साहित करता है।"[1] प्रो. स्ट्रांग के अनुसार, "अनुपातिक प्रतिनिधित्व संकीर्ण विचारधारा को जन्म देता है जो अनिवार्य रूप से सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।"[2]

(6) उपचुनाव की अनुपस्थिति—अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में एक और कठिनाई यह है कि उसके अन्तर्गत उपचुनावों की व्यवस्था नहीं होती क्योंकि उसमें कोई भी निर्वाचन क्षेत्र तीन सदस्यों से कम नहीं हो सकता। एक साथ तीन सदस्यों का हटना सम्भव नहीं है उपचुनावों की भी अपनी उपयोगिता है उपचुनावों की अनुपस्थिति में प्रतिनिधि सरकार का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इन्हीं के द्वारा ही लोकमत को यथार्थ रूप प्राप्त होता है। उपचुनावों से ही सत्ताधारी दल अपनी लोकप्रियता एवं मतदाता शक्ति का पता लगाता है। डा. फाइनर ने ठीक ही कहा है, "उपचुनावों से यह ज्ञात होता है कि हवा किस ओर बह रही है।" इसी कारण उपचुनावों को वायुमापक यंत्र कहा गया है।

(7) योग्य व्यक्तियों का अपवर्जन—अनुपातिक पद्धति वर्ग हित एवं संकुचित विचार धारा को जन्म देती है इन परिस्थितियों में उन व्यक्तियों को निश्चित रूप से अपवर्जित कर दिया जाता है जो किसी वर्ग विशेष के पक्षपाती हैं। सूची पद्धति में चालाक तथा अनैतिक व्यक्तियों के साथ योग्य व्यक्ति अपना पाँव फँसाना नहीं चाहते।

(8) महंगी पद्धति—अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विषय में आलोचकों का कहना है कि यह पद्धति अत्यन्त अपव्ययी है। प्रथम अभिरुचि को प्राप्त करने के लिए उम्मीदवारों को काफी धन खर्च करना पड़ता है यातायात पर काफी खर्च आता है। विशाल क्षेत्र होने के कारण प्रचार पर काफी धन खर्च करना पड़ता है।

---

1. "It encourages the formation of splinter groups, promotes a type of leadership that emphasises differences rather then similarities." —*Corry.*

2. "It encourages minority thinking and breaks condidatures which may positively be inimical to social health." —*Strong*

(iii) सीमित मत प्रणालि (Limited Vote System)—इस प्रणाली में सारा देश बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कम-से-कम तीन प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। मतदाताओं को तीन से कम वोट अर्थात् दो वोट देने का अधिकार होता है। यदि निर्वाचन क्षेत्र से 5 प्रतिनिधि चुने जाएं तो मतदाताओं को 3 वोट और 7 प्रतिनिधि चुने जायें तो मतदाताओं को 5 वोट देने का अधिकार होता है और इसमें एक मतदाता अपना एक से अधिक वोट एक उम्मीदवार को नहीं दे सकता। इसका परिणाम यह होगा कि अल्प संख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व मिल जायगा, जैसे 3 सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों से बहुसंख्यक वर्ग 2 प्रतिनिधि भेज पायेगा और अल्पसंख्यक वर्ग एक प्रतिनिधि भेज पायेगा।

(iv) इस प्रणाली में कई दोष हैं। पहला दोष यह है कि अल्पसंख्यकों को अनुपाती प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इसमें उनको केवल थोड़ा सा प्रतिनिधित्व मिलता है। दूसरे, जहां पर बहुत अधिक दल हों वहां पर यह तरीका ठीक काम नहीं कर सकता। कई बार ऐसा भी हो जाता है कि अल्पसंख्यकों को बिल्कुल प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। तीसरे, यह तरीका एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों (Single member Constituencies) में लागू नहीं किया जा सकता।

(v) संचित मत प्रणाली (Cumulative Vote System)—इसमें भी निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्य (Plural or Multiple) होते हैं। जितने उम्मीदवार एक निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाते हैं, मतदाता को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है। इस पद्धति में यह विशेषता है कि मतदाता अपने सारे वोट एक उम्मीदवार को दे सकता है और यदि वह चाहे तो कुछ वोट एक उम्मीदवार को और शेष वोट दूसरों को भी दे सकता है। इस प्रणाली में अल्प-संख्यक वर्ग (minorities) अपने सारे वोट एक ही उम्मीदवार को दे देते हैं और इस प्रकार एक उम्मीदवार को निर्वाचित करा लेते हैं।

इस प्रणाली में यह गुण है कि अल्पसंख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व अवश्य मिल जाता है परन्तु दोष यह है कि कई बार प्रसिद्ध उम्मीदवार बहुत अधिक वोट प्राप्त कर लेते हैं। चूंकि अल्पसंख्यक वर्ग अपने सारे वोट एक ही उम्मीदवार को देते हैं इससे बहुत से वोट व्यर्थ चले जाते हैं। दूसरे इस प्रणाली में यह भी दोष है कि प्रत्येक दल को अनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) नहीं मिल पाता है। तीसरे, इसमें राजनीतिक दलों का नियन्त्रण और उनकी बुराइयां बढ़ जाती हैं। अल्पमतों को अपने उम्मीदवार चुनवाने के लिए अत्यन्त संगठित होना पड़ता है। राजनीतिक नेता अपनी पार्टी में सख्त अनुशासन कायम रखते हैं और मतदाओं को अपने वोट बहुत सावधानी से विभाजित या इकट्ठे करने की जोरदार अपील करते हैं।

(V) पृथक् निर्वाचन-प्रणाली (Separate Electorate System)—इस प्रणाली में निर्वाचन-क्षेत्र धर्म या मज़हब के आधार पर बनाये जाते हैं। यह प्रणाली अंग्रेजों ने भारत में सबसे पहले 1909 के अधिनियम में प्रचलित की। मुसलमानों को 1909 में अपने अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार 1909 मे सिक्खों और 1935 में हरिजनों को यह अधिकार दिया गया। इस प्रणाली के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय की सीटें रक्षित (Reserve) होती थी और उस हिसाब से उस सम्प्रदाय के लिये उतने ही निर्वाचन क्षेत्र बना दिये जाते थे। मुसलमानों के निर्वाचन क्षेत्रों से केवल मुसलमान उम्मीदवार ही खड़े हो सकते थे और वहां के केवल मुसलमान को ही वोट दे सकते थे। इस प्रणाली से अल्पमतों को अवश्य ही काफी प्रतिनिधित्व मिल जाता है परन्तु इसमें कई दोष हैं। पहला, बड़ा भारी यह दोष है कि इससे राष्ट्रीय भावनाओं पर कुठाराघात होता है। लोगों में संकुचित भावनाओं का निर्माण होता है। धार्मिक विष लोगों में खूब फैलता है पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति की भावना को बड़ा भारी धक्का पहुँचता है। इसी प्रणाली का यह भयंकर परिणाम था कि सन् 1947 में भारत दो भागों में बंट गया और दोनों भागों में अल्पमतों का खूब रक्तपात हुआ।

(vi) सुरक्षित स्थानयुक्त निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate with Reservation of Seats)—इस प्रणाली के अनुसार व्यवस्थापिक सभा में अल्पसंख्यक-वर्गों (minorities) के लिये संविधान द्वारा सीटें निश्चित कर दी जाती है। इसमें सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र नहीं बनाये जाते। हिन्दुओं की मुसलमान उम्मीदवारों और मुसलमानों को हिन्दू उम्मीदवारों के लिये वोट देने का हक हासिल होता है। इसमें केवल वही उम्मीदवार निर्वाचित होकर जाते हैं जिन्हें सब जातियों के हित प्रिय हो। इससे एकता की भावना का उदय होता है तथा राष्ट्रीयता दृढ होती है और प्रतिनिधि तमाम देश के हितों का चिन्तन करते हैं न कि अपनी-अपनी जाति के स्वार्थों का। भारतीय संविधान में हरिजनों, मज़हबी सिक्खों (सिक्ख-हरिजनों) और कबीलों के लिये संविधान के आरम्भ होने से 20 वर्ष तक सीटें रिर्जव की गयी थी। अब यह अवधि 1970 तक बढ़ा दी गई है।

उप-निर्वाचन (Bye-election)—चुनाव के समय सभी स्थान भर दिये जाते हैं परन्तु कई बार ऐसा होता है कि कोई व्यवस्थापिका का सदस्य त्यागपत्र दे देता है या मर जाता है तो उसके स्थान की पूर्ति के लिए उसके निर्वाचन-क्षेत्र में दुबारा चुनाव होता है। इसका लाभ यह है कि सार्वदेशिक चुनाव के बाद जनता के झुकाव का पता चल जाता है। अतः इसमें आने वाले चुनावों के बारे मे भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

आदर्श प्रतिनिधित्व प्रणाली के लिये आवश्यक बातें (Essentials of a Good Elecioral System)—आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये निम्नलिखित बातें होनी चाहिये—

(1) वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)

(iii) सीमित मत प्रणालि (Limited Vote System)—इ
बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन
प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। मतदाताओं को तीन से कम वोट अर्थात् दो
होता है। यदि निर्वाचन क्षेत्र से 5 प्रतिनिधि चुने जाएं तो मतदात
7 प्रतिनिधि चुने जायें तो मतदाताओं को 5 वोट देने का अधि
एक मतदाता अपना एक से अधिक वोट एक उम्मीदवार को नहीं दे
यह होगा कि अल्प संख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व मिल जायगा, जै
क्षेत्रों से बहुसंख्यक वर्ग 2 प्रतिनिधि भेज पायेगा और अल्प
भेज पायेगा।

(iv) इस प्रणाली में कई दोष हैं। पहला दोष यह है कि
प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इसमें उनको केवल थोड़ा सा प्रति
जहाँ पर बहुत अधिक दल हों वहाँ पर यह तरीका ठीक का
ऐसा भी हो जाता है कि अल्पसंख्यकों को बिल्कुल प्रतिनिधि
तरीका एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों (Single member
नहीं किया जा सकता।

(v) संचित मत प्रणाली (Cumulative Vote
क्षेत्र बहुसदस्य (Plural or Multiple) होते हैं। जितने
चुने जाते हैं, मतदाता को उतने ही वोट देने का अ
विशेषता है कि मतदाता अपने सारे वोट एक उम्मीदवार
तो कुछ वोट एक उम्मीदवार को और शेष वोट दूसरे
में अल्प-संख्यक वर्ग (minorities) अपने सारे वोट ए
इस प्रकार एक उम्मीदवार को [illegible] करा लेते हैं

इस प्रणाली में यह गुण
है परन्तु दोष यह है कि कई
चूंकि अल्पसंख्यक वर्ग ही
व्यर्थ चले जाते हैं। यह
प्रतिनिधित्व (
राजनीतिक दलों का
उम्मीदवार चुनवाने
में सख्त अनुशासन
जित या इकट्ठे

(2) प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)

(3) गुप्त मतदान प्रथा (Secret Ballot)

(4) अल्पसंख्यक-वर्गों की रक्षा

(5) राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार साम्प्रदायिक न होकर राजनं
अथवा आर्थिक होना चाहिये।

(6) मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों में निकट सम्पर्क

(7) निर्वाचन बहुत शीघ्र या बहुत देर में न होने चाहिये। 5 वर्ष की ग
बहुत ठीक अवधि है।